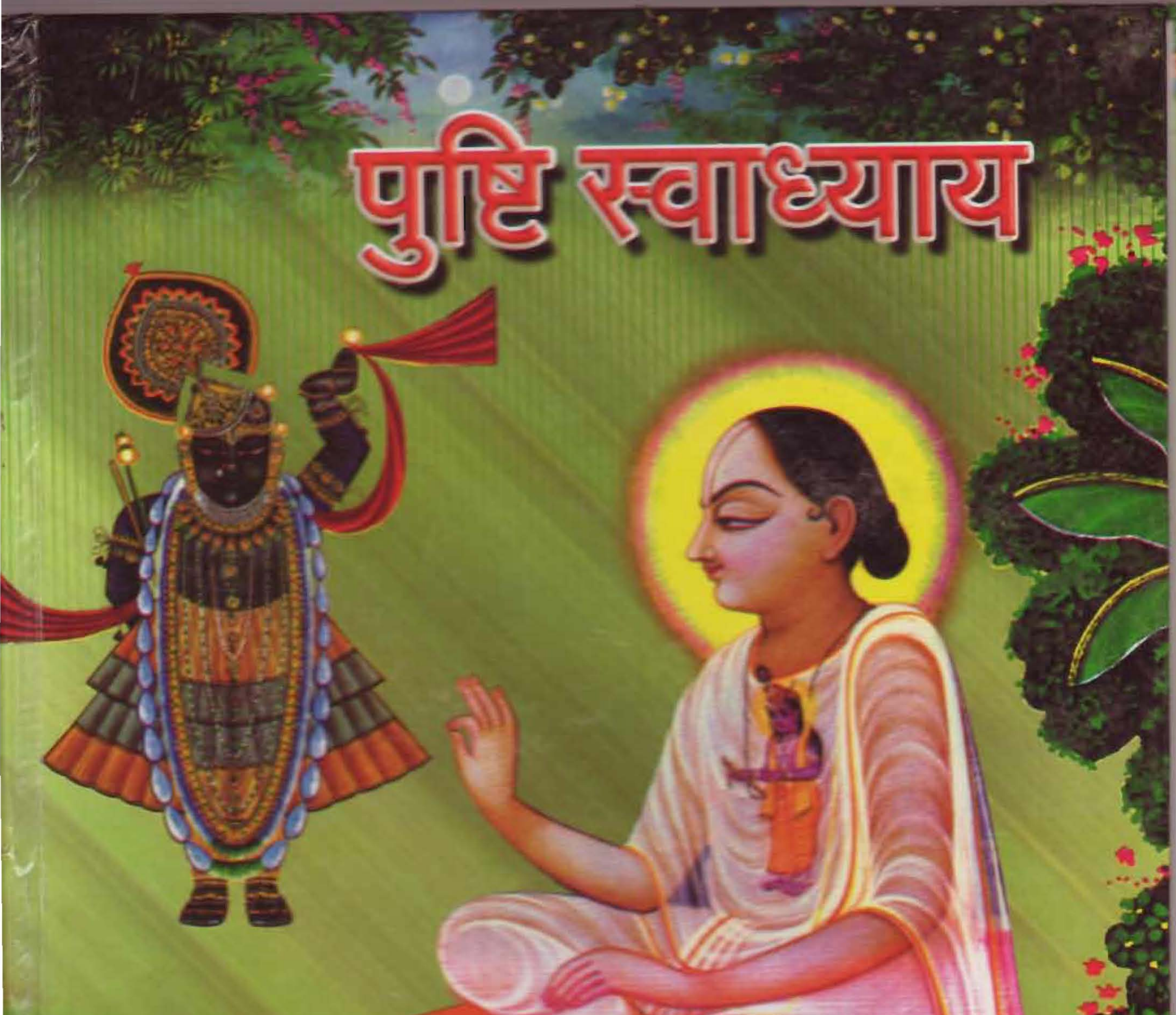
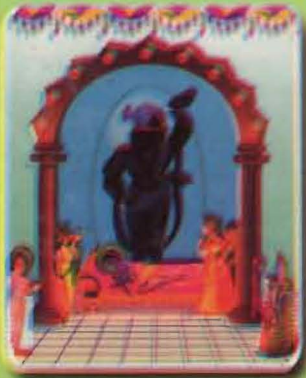
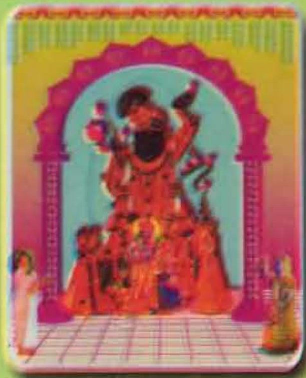
पुष्टि स्वाध्याय

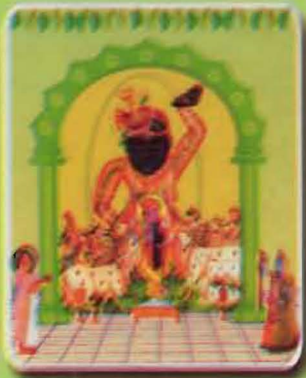


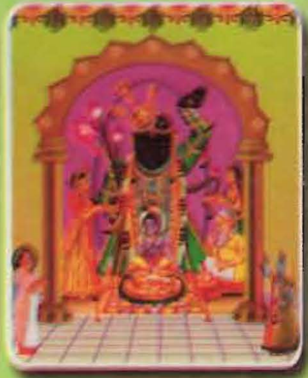
लेखक : योगेश शास्त्री

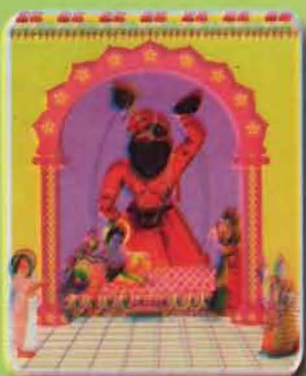
अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्
श्री वल्लभ प्रकाशन न्यास, इन्दौर (म.प्र.)

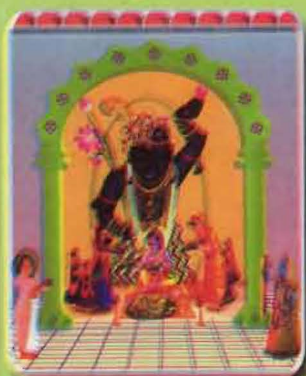

मंगला

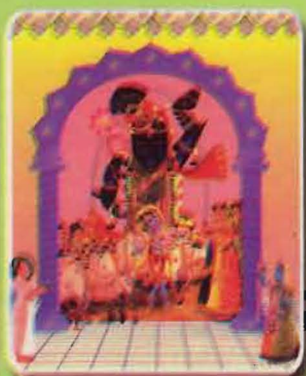

शृंगार

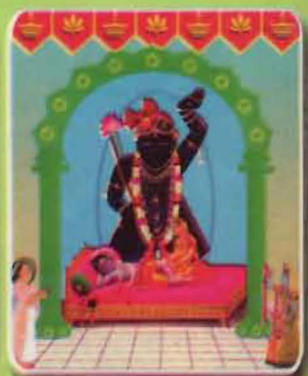

ग्वाल


राजभोग


उत्थापन


भोग


आरती


शयन

जागरण गीत



जागो ! जागो ! पुष्टि पथिक हे !
जागो ! हे फिर वैष्णवता ।
उठो ! उठो ! जय घोष करो,
मुखरित होगी मानवता ॥
क्यों प्रमाद जीवन में छाया ?
यह कल्मष क्यों मन पर आया ?
पावन प्रेम सिखा दो तुम,
भाग जाय जग से दानवता ॥१॥
आहुति की बेला अब आई,
अलसाये क्यों वैष्णव भाई !
मनुजो ! बलि दो निज वल्लभ पर,
लाओ फिर से शुद्ध एकता ॥२॥

: गो. प्रथमेश :



अं.रा. पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् शताब्दी प्रसंग पर विशेष प्रकाशन - 2005

पुष्टि स्वाध्याय

(वैष्णवों के स्वाध्याय - सत्संग के लिए उपयोगी ग्रंथ)

लेखक

योगेश शास्त्री

अनुवादक

राधेश्याम आचार्य

चन्द्रहास दलाल

हिन्दी सम्पादक

डॉ. गजानन शर्मा

प्रकाशक

अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्

द्वारा स्थापित

श्री वल्लभ प्रकाशन न्यास, इन्दौर

पुष्टि स्वाध्याय : लेखक - योगेश शास्त्री

प्रथम संस्करण : श्री महाप्रभुजी प्राकट्य महोत्सव
संवत् - 2062, दिनांक 4 मई 2005

प्राप्ति स्थान : **श्रीवल्लभ प्रकाशन न्यास**
यशोभवन, 1, न्यू पलासिया, स्ट्रीट नं. 2, इन्दौर - 452001

: **अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्**
15-ई, हलाई लोहणा निवास,
रघुवंशी हाल के ऊपर, शंकरबारी लेन,
OFF. : जे.एस.एस. रोड, चीरा बाजार, मुम्बई-400002

: **अंतर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् गुजरात प्रदेश**
श्रीकृष्णदास चीमनलाल परिषद् भवन (झवेरचन्द लक्ष्मीचन्द)
201, अश्वमेघ काम्प्लेक्स, बीजामाले,
खंडेराव मार्केट के पास, राजमहल रोड, वड़ोदरा-1

प्रकाशक : अं.रा. पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् द्वारा स्थापित
वल्लभ प्रकाशन न्यास
1, न्यू पलासिया, स्ट्रीट नं. 2, इन्दौर-1

टाइप-सेटिंग : **नारोलिया ग्राफिक्स**
90, कारसदेवनगर, इन्दौर मोबा. 930-3243483

मुद्रक : **रोहित आफॅसेट प्रा. लि.**
फोन न. 2422201-02

अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् गुजरात राज्य ने रुपये पैंतालीस हजार ब्याजमुक्त अग्रिम के रूप में प्रदान कर इस ग्रंथ के प्रकाशन कार्य को सुगम बनाया है। श्री वल्लभ प्रकाशन न्यास परिषद् इस सहयोग के लिए आभारी है।

लेखकीय निवेदन

तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है - 'स्वाध्याय - प्रवचनाभ्यां मा प्रमदितव्यम्' अर्थात् मानव जीवन सार्थक करना हो तो सत्शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

वैष्णव के लिए जैसे भगवत्सेवा नित्य का अनिवार्य कर्तव्य रूप धर्म है, उसी प्रकार सत्संग-स्वाध्याय भी उसका नित्य अनिवार्य स्वधर्म है। परमार्थ-पथ के पथिक को अपने पथ के साधक और बाधक तत्वों का ज्ञान होना चाहिए। पुष्टिमार्ग में भगवान् के, भगवद्-भक्ति के और भगवदीयों के अनेकानेक परिमाण प्रकट हुए हैं। भगवान्, भक्ति और भक्तों के मधुर, रसात्मक और आनन्दमय स्वरूप का जितना सुन्दर निरूपण पुष्टिमार्ग में हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है।

स्व की सार्थकता के लिए और अपने स्वामी प्रभु श्रीकृष्ण के सुख के लिए वैष्णव को नित्य भगवद्-वार्ता एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का सतत अभ्यास करना चाहिए। इस 'पुष्टि स्वाध्याय' ग्रंथ में पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों और तदनुरूप दृष्टान्तों का संग्रह प्रस्तुत किया गया है, जिससे कि यह ग्रंथ वैष्णवों के सत्संग-स्वाध्याय के लिए उपयोगी हो सके। इस स्वाध्यायोपयोगी ग्रंथ में श्री सुबोधिनीजी, षोडश ग्रंथ, वार्ता साहित्य तथा कीर्तन साहित्य का आधार लेकर वैष्णवों के चिन्तन-मनन के योग्य बावन विषयों का निरूपण किया गया है। वर्ष में बावन सप्ताह ही होते हैं। एक विषय का एक सप्ताह तक स्वाध्याय-मनन-सत्संग किंया जाए तो पूरे वर्ष के लिए स्वाध्याय की सामग्री इस ग्रंथ में उपलब्ध हो सकेगी।

यदि यह ग्रंथ भगवदीयों के लिए स्वल्प भी उपयोगी हुआ तो इसे मैं अपनी धन्यता मानूँगा। भगवदीयों की प्रसन्नता ही भगवान् की प्रसन्नता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् ने इस सेवा का मुझे अवसर प्रदान किया इसके लिए मैं परिषद् का आभारी हूँ। यह ग्रंथ मूलतः गुजराती भाषा में लिखा गया है। गुजराती में भगवत्कृपा से यह बहुत लोकप्रिय हुआ है तथा इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

हिन्दीभाषी क्षेत्र में भी इसकी मांग बराबर बनी हुई है। सम्प्रदाय के विद्वान् तथा हिन्दी के आचार्य डॉ. गजानन शर्मा ने इस ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद करवाकर सम्पादित कर प्रकाशित करने का दायित्व सहर्ष वहन किया है। आपने हिन्दी संस्करण का सुन्दर सम्पादन किया है। मैं बन्धुवर डॉ. गजाननजी शर्मा को इस हेतु साधुवाद देता हूँ। हिन्दी अनुवाद का कार्य श्री राधेश्याम आचार्य एवं श्री चन्द्रहास भाई दलाल ने किया है। इस हेतु उन्हें अनेक धन्यवाद।

सर्ववल्लभ श्रीमद् वल्लभाचार्य के चरणं कमलों में यह 'पुष्टि स्वाध्याय' सादर निवेदन करता हूँ।

601, सत्यम् टावर, नवविकास गृह रोड,
धूमकेतु मार्ग, पालडी, अहमदाबाद पिन - 380007

योगेश शास्त्री के जय श्रीकृष्ण

अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्

15-ई, रघुवंशी हाल के ऊपर, हलाई लोहाणा निवास, शंकरबारी लेन, जे.एस.एस. रोड़ के पास,
चीरा बाजार, मुम्बई - 400002, दूरभाष - 2207 6098 फेक्स 56372758

स्थापना - सन् 1906

अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् - सन् 1956
अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् - सन् 1981

करोड़ों वैष्णवों की प्रतिनिधि संस्था अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् शताब्दी वर्ष में प्रवेश कर रही है। परिषद् महाप्रभु श्रीमद् वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों तथा पुष्टिमार्गीय जीवन-पद्धति के प्रचार-प्रसार और पुष्टिमार्गीय वैष्णव समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए समर्पित संस्था है। साथ ही वैष्णव परिषद् पुष्टिमार्ग के विशेष सन्दर्भ में भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, उपासना-प्रणाली, संगीत, कला और परम्पराओं के अध्ययन, शोध, संरक्षण और संवर्धन का प्रयास करती है। व्यापक स्तर पर वैष्णव परिषद् मानव- सेवा, गौसेवा तथा प्राणिमात्र की सेवा के कार्य भी करती है।

इस दृष्टि से परिषद् के द्वारा अष्ट बिन्दु योजना चलाई जा रही है। अष्ट बिन्दु योजना में (1) नित्यसेवा (2) सत्संग (3) उत्सव (4) आचार-विचार (5) कीर्तन (6) मानवसेवा (चिकित्सा) (7) मानवसेवा (सहायता कार्य) (8) गोसेवा एवं प्राणिसेवा का समावेश है।

वैष्णव परिषद् द्वारा किये गये कुछ कार्य

1. बाढ़ पीड़ितों को नगद, जीवनोपयोगी सामग्री एवं अनाज का वितरण।
2. दुष्काल के समय गौसेवा एवं मानव-सेवा के व्यापक कार्य।
3. लातूर (महाराष्ट्र) में तथा गुजरात में भूकम्प पीड़ित क्षेत्रों में व्यापक सहायता कार्य।
4. दंगापीड़ित लोगों में आर्थिक सहायता, जीवनोपयोगी सामग्री तथा रोजगार के साधनों का वितरण।
5. दवाखानों में फल, बिस्किट, दवा आदि का वितरण।
6. जम्मू-कश्मीर में निराश्रितों की सहायता।
7. सुरत में प्लेग के समय प्लेग-निरोधक दवाओं का वितरण।
8. वैष्णवों के लिए सामूहिक विवाह का आयोजन।
9. मानव-सहायता एवं शिक्षण-सहायता के अनेक कार्य।
10. झाबुआ (म.प्र.) आदिवासी क्षेत्र में श्री वल्लभ बाल विद्या निकेतन का संचालन।
11. गोवर्धन-जतीपुरा व्रज-परिक्रमा-मार्ग में श्रीवल्लभ गौशाला का संचालन।
12. नित्यसेवा और पर्वोत्सव सेवा के ऋतु अनुसार कीर्तनों के केसेट एवं सी.डी.।
13. परिषद् की गुजरात समिति द्वारा गुजराती में तथा श्रीवल्लभ प्रकाशन न्यास (इन्दौर) के द्वारा हिन्दी में पुष्टिमार्गीय साहित्य का प्रकाशन।
14. श्री वल्लभ चिन्तन (त्रैमासिक) एवं श्री वल्लभ स्वर (मासिक) का हिन्दी में प्रकाशन।
15. राजकोट-मोरवी रोड़ पर निर्माणाधीन श्री वल्लभाचार्य ऋषिकुल में विशाल सत्संग भवन का निर्माण।
16. 350 से अधिक शाखाओं द्वारा पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का प्रचार, संगठन और सेवा के कार्य।
17. परिषद् की वेबसाइट की तैयारी भी जारी है।
18. वक्तृत्व, निबंध एवं कीर्तन स्पर्धाओं का राज्य स्तरीय आयोजन।
19. सुनामी पीड़ितों को सहायता।

हिन्दी संस्करण सम्पादक का पुरोवाक्

वर्तमान युग अत्यन्त व्यस्तता का है। अधिकतर वैष्णवजन चाहते हुए भी स्वाध्याय के लिए पर्याप्त समय नहीं निकाल पाते हैं। अतः उनकी आकांक्षा होती है कि शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का सरल भाषा में संक्षिप्त विवरण एक ही ग्रंथ में प्राप्त हो सके। हमारे सिद्धान्त ग्रंथ संस्कृत भाषा में हैं तथा उन ग्रंथों के सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद भी सुलभ नहीं हैं। अतः उन आधार ग्रंथों के तत्त्व को सरल ढंग से प्रस्तुत करना वैष्णवों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

सम्प्रदाय के मान्य विद्वान् माननीय श्री योगेशजी शास्त्री महोदय ने 'पुष्टि स्वाध्याय' ग्रंथ का लेखन कर सामान्य वैष्णव के लिए बहुत उपयोगी और सार्थक नामसेवा की है। इस ग्रंथ में बावन विषयों का समावेश है जिनमें भगवान् का स्वरूप, लीला, स्वभाव, श्री यमुनाजी, श्री महाप्रभुजी, शुद्धाद्वैतदर्शन, पुष्टिमार्ग, सेवा, शरणागति, अन्याश्रय, दीनता, विवेक-धैर्य-आश्रय, श्रीमद्भागवत आदि वैष्णवजनोपयोगी महत्वपूर्ण विषयों का सुन्दर सरल विवेचन है।

गुजराती भाषा में इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो गये हैं फिर भी इसकी माँग बराबर बनी हुई है। अंग्रेजी भाषा में भी इसका अनुवाद हो रहा है। हिन्दीभाषी वैष्णवों का आग्रह रहा है कि 'पुष्टि स्वाध्याय' का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित होना चाहिए। अतः अं.रा. पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् के पूर्व केन्द्रीय महामंत्री श्री चन्द्रहासभाई दलाल (खंडवा) ने हिन्दी अनुवाद का कार्य आरंभ किया और पन्द्रह अध्यायों का अनुवाद भी कर दिया। आगे वे अपनी व्यस्तता के कारण उस समय आगे के अध्यायों का अनुवाद कार्य पूरा नहीं कर सकते थे अतः श्री राधेश्याम आचार्य 'साहित्यवाचस्पति' (इन्दौर) ने शेष सैंतीस अध्यायों का अनुवाद पूर्ण किया। मुझे श्री वल्लभ प्रकाशन न्यास ने हिन्दी अनुवाद के भाषा-सम्पादन एवं ग्रंथ प्रकाशन का दायित्व सौंपा। ग्रंथ-सम्पादन, टाइप सेटिंग और प्रूफ संशोधन का कार्य पूर्ण होने पर आकस्मिक रूप से वह प्रतिष्ठान बन्द हो गया। अतः पुनः नये सिरे से कार्य आरंभ हुआ। इस कारण ग्रंथ प्रकाशन के कार्य में अप्रत्याशित रूप से बहुत अधिक समय लग गया।

प्रकाशन-कार्य में एक लाख रुपयों का व्यय संभावित था। पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् की केन्द्रीय समिति ने आधी राशि ब्याज मुक्त अग्रिम के रूप में देने की सहमति दी। अं.रा.

पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् की गुजरात समिति ने इस राशि की तत्काल व्यवस्था कर हमें बहुत बड़ा संबल दिया। इसके लिए हम उनके आभारी हैं। शेष राशि श्री वल्लभ प्रकाशन न्यास, इन्दौर ने जुटायी।

बहुरंगी चित्रों के प्रकाशन में कुछ दानदाता भी प्रसन्नतापूर्वक आर्थिक सहयोग देने के लिए तत्पर हुए इससे प्रकाशन-कार्य बहुत सरल हो गया। श्री महाप्रभुजी की असीम कृपा से यह ग्रंथ आपकी सेवा में स्वाध्याय के लिए सादर समर्पित है।

हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि हिन्दीभाषी वैष्णव-सृष्टि में इसका हार्दिक स्वागत होगा तथा नई पीढ़ी में वैष्णव तत्त्वज्ञान एवं वैष्णव संस्कारों के सिंचन में यह 'पुष्टि स्वाध्याय' ग्रंथ उपयोगी सिद्ध होगा।

विनम्र

डॉ. गजानन शर्मा

हिन्दी संस्करण संपादक
पूर्व केन्द्रीय कार्यकारी अध्यक्ष
अन्तर्राष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्

32, शिक्षक नगर, विमान पत्तन मार्ग,
इन्दौर (म.प्र.) पिन - 452005

स्वाध्याय-१

श्रीकृष्ण

कृष्णनाम का तात्पर्य

कृष्णनाम का अर्थ है- सद् + आनंद

कृषिर्भूवाचक शब्दश्णश्च निर्वृतिवाचकः
तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

कृष् याने सत्ता, नित्यता, शाश्वतता और "ण" याने आनंद। कृष्ण याने ऐसा आनंद, जो कि शाश्वत है। लौकिक सुख आनंद नहीं है। लौकिक सुख शाश्वत हो ही नहीं सकता। अलौकिक, नित्य, त्रिकाल में अबाधित रहने वाला अर्थात् जो है, था और रहेगा ऐसे शाश्वत आनंद को कृष्ण कहते हैं।

सत्ता याने राधा और आनंद याने कृष्ण। जो आनंद शाश्वत न रहे वह आनंद किस काम का है? और जो नित्यता आनंद रूप, रस रूप न हो तो वह निकम्मी ही होगी। जिस प्रकार सत्ता और आनंद परस्पराश्रित हैं, उसी तरह श्रीराधा और श्रीकृष्ण भी एक-दूसरे के साथ सदा अभिन्न रहते हैं।

भक्तानां पापादिदोषान् कृषति निवारयति इति कृष्णः प्रभु का नाम कृष्ण इसलिए भी है कि वे भक्तों के पाप आदि दोषों का निवारण करते हैं, खींचकर निकाल देते हैं।

तेषां दुर्लभानपि पुरुषार्थान् आकर्षयति प्रापयति इति कृष्णः वे भक्तों को अत्यन्त दुर्लभ पुरुषार्थो की भी प्राप्ति कराते हैं, भक्तों के पास दुर्लभ सुखों को खींच लाते हैं, इसलिए भी वे कृष्ण हैं। गोलोक-वैकुंठलोक के सुखों को भगवान ब्रज में उतार लाए। यही नहीं वैकुंठ में भी जो दुर्लभ रहीं, ऐसी लीलाएँ भगवान ने ब्रज में कीं, क्योंकि ये कृष्ण हैं। पिता अपनी प्रिय सन्तानों के लिये, पति अपनी प्रिय पत्नी के लिये उत्तम से उत्तम वस्तु को लाकर देता है, उसी तरह प्रभु भक्तों के सुखों के लिये अपने ही स्वरूप में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि सब ले आते हैं। कृष्ण के स्वरूप में ब्रजवासियों को सब कुछ उपलब्ध हो गया।

कर्षति अरीन् इति कृष्णः श्रीकृष्ण ने असुरों के संहार की लीला की। उसके साथ-साथ जीवों में रहने वाले दोषों का नाश भी किया। पूतना-उद्धार के साथ-साथ अविद्या का भी नाश किया। शकट-भंजन के साथ-साथ असुरभाव, संबंधी लौकिक पदार्थो में अभिनिवेश, अनुरक्ति का भी नाश किया, बकासुर को मारकर दंभ का, पाखंड का नाश किया।

पूर्ण अवतार

श्रीकृष्ण का प्राकट्य अविकृत प्राकट्य है। अन्य अवतारों की भाँति श्रीकृष्ण अवतार अंश-अवतार या कला-अवतार नहीं है। कृष्ण रूप में पूर्ण शक्तिमान साक्षात् पुरुषोत्तम प्रकट हुए हैं। श्री

व्यास, कपिल आदि अवतार भगवान की ज्ञानकला के अवतार हैं। श्री वराह, परशुराम, नृसिंह आदि अवतार भगवान की क्रियाकला के अवतार हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तो ज्ञानकला तथा क्रियाकला दोनों को अपने में लेकर प्रकटे हैं, क्योंकि वे स्वयं भगवान हैं।

श्रीकृष्ण और बलराम का भेद भी समझने योग्य है। बलराम साधनशक्ति हैं। श्रीकृष्ण फलशक्ति हैं। साधन शक्ति नीतिमार्ग का अनुसरण करती है। फलशक्ति पुष्टिमार्ग का अनुसरण करती है। बलरामजी में क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति है, जबकि श्रीकृष्ण में भक्ति और परमानंद हैं।

श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। पामर जीवों को, अज्ञानियों को भी उनके माहात्म्य का ज्ञान हो, इसलिए इन्होंने ऐश्वर्य-सूचक माहात्म्य का बोध कराने वाली लीलाएँ कीं- जैसे कि गोवर्धन धारण करना, कालियदमन, पूतना-उद्धार, अपने में ब्रह्माण्ड का दर्शन कराना आदि। इन लीलाओं द्वारा उनका पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप सिद्ध होता है।

अवतार का हेतु

श्रीकृष्ण-अवतार के अनेक प्रयोजन हैं। भगवान के अवतार का एक प्रयोजन भक्ति का प्रवर्तन करना, प्रेरणा देना है। जब भगवान प्रकट रूप में विराजमान न हों, तब भक्तों को भक्ति करने में इतनी सरलता नहीं होती, जितनी सरलता प्रभु के प्रकट रूप में विराजने में होती है। भगवद्-रूप भी भक्ति के लिए अवतार-संबंधी प्रबल साधन है। श्री महाप्रभुजी कहते हैं- **''अवतार-विषयिणी-भक्तिरतिपुष्टा''** अवतार-संबंधी भक्ति अतिपुष्ट, प्रबल होती है।

चार मुख्य प्रयोजनों के लिए भगवान अवतार लेते हैं- (१) दुष्टों का विनाश करने के लिए (२) संतों, भक्तों की रक्षा करने के लिए (३) जीव को मुक्ति देने के लिए और (४) जीव को भक्ति देने के लिए।

पृथ्वी के भार को हरना, यह भगवद्-अवतार का राजस प्रयोजन है। साधु-परित्राण यह सात्विक प्रयोजन है। दुष्ट-निग्रह यह तामस प्रयोजन है। भक्ति के प्रवर्तन के लिए प्रकट होना यह अवतार का निर्गुण प्रयोजन है। इसमें भी मुक्ति और भक्ति देना यह मुख्य ध्येय है, क्योंकि भू-सार का हरण जैसे उद्देश्य तो अन्य प्रकार से अथवा अन्य अवतारों द्वारा भी सिद्ध हो सकते हैं।

कृष्ण-स्वरूप

श्रीकृष्ण का स्वरूप सभी प्रकार के प्राकृत धर्मों से रहित है। वह पूर्ण निर्दोष और पूर्ण सम्पन्न है, अलौकिक है, अद्भुत है। लोकवेद से सिद्ध नहीं, फिर भी यह लोकवेद-प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण सत्, चित् तथा आनंद रूप हैं। पांचभौतिक नहीं होने से वे सत्यस्वरूप हैं। ज्ञानस्वरूप होने से ज्योतिर्मय, प्रकाशमय होने से चिद्स्वरूप हैं तथा वे रसमय, आनंदमय, सर्वप्रिय, परम सुख रूप हैं।

परमानंद श्रीकृष्ण का स्वरूप नीलवर्ण का है। इसके चार कारण हैं- आकाश, काल, अग्नि और वैकुंठ। इन चारों प्रकारों को समझें-

(१) आकाश में कुछ होता नहीं, किन्तु वह नीलावर्ण जैसा दिखाई देता है उसी प्रकार परब्रह्म अत्यन्त गंभीर, गहन होने के कारण उनका नीला रंग है।

(२) युग काल के अंग हैं। सत्य, त्रेता आदि चारों युग काल के चार अंग हैं। भगवान सत्य-त्रेता आदि युगों के अधिष्ठाता होने के कारण उनके चारों युगों के अनुसार चार वर्ण या रंग माने जाते हैं। ये हैं- शुक्ल, रक्त, पीत और नील।

(३) भूमि भी भगवान के नीलवर्ण के कारण रूप है। भगवान का प्राकट्य भूतल पर हुआ है। भूमि का वर्ण नीला है। भूमि का नीलवर्ण भगवान में प्रतिबिम्बित हुआ है, इसलिए भी उनका रंग नील है।

(४) शुद्ध सत्त्व का रंग नील है। भगवान शुद्ध सत्त्वात्मक वैकुंठ में प्रकटे हैं, इसलिए उनका नीलवर्ण है।

श्रीकृष्ण मेघ स्याम हैं। कई बार इनके रंग की मेघ के साथ तुलना की गई है। जिस प्रकार मेघ, विशेष रूप से तीन कर्म करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी करते हैं- मेघ सबको सुख देते हैं, अन्न का उत्पादन करके सबका पोषण करते हैं और ताप को दूर करते हैं। उसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण भी सबको उनकी अपनी-अपनी भावना के अनुसार सुख देते हैं, सबका पोषण भी करते हैं। इसी प्रकार जीव के आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तापों को दूर करते हैं, इसलिए इनका मेघ श्याम रूप है।

श्रीकृष्ण, विष्णु शृंगार रस के अधिष्ठाता हैं और साहित्यशास्त्र में शृंगाररस का वर्ण श्याम है इसलिए श्रीकृष्ण श्याम हैं। अनेक बार श्रीकृष्ण ने चतुर्भुज रूप में दर्शन दिए हैं। दो भुजा दैत्यों के लिए घातक और दो भुजा भक्तों की रक्षक हैं। हाथ कर्मेन्द्रिय कहलाते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के लिए क्रियाशक्ति रूप भगवान की चार भुजाएँ हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार तत्त्वों को ये धारण करते हैं, इसलिए ये चतुर्भुज हैं।

श्रीकृष्ण जो आयुध धारण करते हैं, वे भी तत्त्व रूप हैं। शंख जल तत्त्व है, चक्र अग्नि तत्त्व है, गदा वायु तत्त्व है और पद्म पृथ्वी तत्त्व है। श्रीकृष्ण के आभूषणों में साधन सहित सांख्य और योग ये दोनों प्रभु के कुंडल हैं। क्रियाशक्ति से ज्ञानशक्ति उत्तम है। अतः मुक्त जीवों को सरस्वती का उत्तम स्थान प्राप्त कराने के लिए भगवान ने कंठ में कौस्तुभ मणि धारण कर रखी है।

श्रीकृष्ण का पीताम्बर वेद है। भगवान अपने आधिदैविक रूप में पीताम्बर धारण करते हैं, तब वेद का प्रचार होता है। पीताम्बर पर शोभायमान कन्दोरा उपनिषदों का अर्थ है। प्रभु के सारे आभूषण सब शास्त्र रूप हैं। प्रभु का वेत्र ब्रह्मा और वेणु रुद्र हैं। वेणु परम आनंद रूप है। स्वरूपानंद (मोक्ष का सुख) और विषयानंद (भोग का सुख) इन दोनों को अणु जैसा तुच्छ बना दे, वह आनंद वेणु है।

इन्द्र उनकी सिंगी है (सिंगी बाजा हरिण के सींग से बनाया जाता है)। गाय और गोप ये देवगण हैं। श्री नंदजी परमानंदस्वरूप हैं। श्री यशोदा मुक्तिस्वरूप हैं। गोपिकाएँ श्रुति के आधिदैविक स्वरूप हैं। पांचजन्य शंख विष्णु का रूप है। महेश रूप खड्ग है। कालिका गदा है। सुदर्शन चक्र ब्रह्मज्ञान है। जगत् की उत्पत्ति कमल है और वायुदेवता वैजयन्ती है। श्री बलराम शेषनाग हैं। श्री रोहिणी दया है। श्री देवकी ब्रह्म विद्या और वसुदेव वेद रूप हैं। श्रीकृष्ण का दाहिना चरण मर्यादा भक्ति तथा

बायाँ चरण पुष्टि भक्ति है। जीवों को उन्माद कराने वाली माया श्रीकृष्ण का हास्य है काल इनकी भृकुटि है।

एको देवो देवकीपुत्र एव

भूतल-परिक्रमा करते हुए श्री वल्लभ जगन्नाथपुरी पधारे। वहाँ के राजा ने उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता देखकर विचार किया कि मेरे पंडितों में विवाद चलता रहता है कि कौन सा देव उत्तम है? इस विवाद का कोई निराकरण नहीं हो पाता, यदि श्रीवल्लभ की सहायता से कोई रास्ता निकल सके तो अति उत्तम होगा। इस उपलक्ष्य में श्री जगन्नाथजी के सम्मुख पंडितों की सभा का आयोजन किया।

राजा द्वारा सभा से चार प्रश्न पूछे गए - किं शास्त्रम्? को देवः? को मंत्रः? और किम् कर्म? इस विवाद में श्री महाप्रभुजी की विजय हुई, फिर भी पंडितों ने भगवान का अभिप्राय माँगना चाहा। सत्य सिद्धान्त को जानने के लिए श्री जगन्नाथ भगवान के सम्मुख कागज, कलम और दवात रखी गई। सभी बाहर आ गए। मंदिर बंद कर दिया गया। थोड़ी देर बाद मंदिर खोलकर देखा गया तो, एक कागज पर एक श्लोक द्वारा उपर्युक्त चारों प्रश्नों के उत्तर लिखे हुए थे। श्री जगन्नाथ भगवान ने श्री महाप्रभुजी के ही मत को सहमति दी थी-

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव
मंत्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।

अर्थ : सभी शास्त्रों में गीता ही एकमात्र सर्वोत्तम शास्त्र है। सभी देवों में श्रीकृष्ण ही एकमेव सर्वोत्तम देव हैं। सभी मंत्रों में भगवान श्रीकृष्ण के नाम ही सर्वोत्तम हैं और सभी कर्मों में भगवान की सेवा ही सर्वोत्तम कर्म है।

मोहन नंदराय कुमार।
प्रकट ब्रह्म निकुंज नायक, भक्तिहित अवतार।
प्रथम चरण-सरोज बंदौं, श्यामघन गोपाल।
ललित कुंडल गंड-मंडित चारु नैन विशाल॥
बलराम सहित विनोद लीला, शेष शंकर हेत।
''दास परमानंद'' प्रभु हरि निगम बोलत नेत॥

सारे विश्व को अपनी मोहिनी से मुग्ध करने वाले मोहन नंदरायजी के पुत्र के रूप में प्रकट हुए हैं। ब्रह्म प्रायः अव्यक्त स्थिति में रहे तो इसके दर्शन, सेवा आदि किस प्रकार हो सकते हैं? अव्यक्त ब्रह्म तो लीला पुरुषोत्तम नहीं होता। लीला तो व्यक्त परब्रह्म की प्रसादी है।

भक्तों को शांत, सम ब्रह्म नहीं, किन्तु खेलता, नाचता हुआ प्रत्यक्ष प्रभु ही चाहिए। श्रीकृष्ण इस विश्व-वृंदावन या भक्त-हृदय के निंकुज-नायक हैं। जिस प्रकार धरती के ताप और प्यास को

मिटाने के लिए वर्षा होती है, उसी प्रकार संसार के समस्त जीवों का सन्ताप दूर करने और सुख-पिपासा की शान्ति के लिए मेघ श्याम बनकर प्रभु इस धरती पर बरसते हैं।

प्रभु को मेघ की उपमा उचित ही दी जाती है। स्वरूप से ही नहीं, स्वभाव से भी प्रभु मेघ के समान हैं। वे बिना पुकारे बरसते हैं। पात्र-कुपात्र का विचार किए बगैर बरसते हैं। प्यासे के पास आकर बरसते हैं। घूँट-दो-घूँट नहीं, पूरी तरह तरबतर कर देते हैं।

श्रीकृष्ण गोपाल हैं। गो याने पृथ्वी, इसका पालने वाला तो मेघ ही हो सकता है। गो याने इन्द्रियाँ, इनके पालक भी सर्वात्मा प्रभु ही हैं। गो याने वाणी, वाणी के भी प्राण के रूप में वही पालक है। वे ही प्रसुप्त, सोई हुई वाणी को जगाने वाले हैं। सिर्फ गायों को चराने मात्र से प्रभु गोपाल नहीं हैं। वे तो विश्व-पालक हैं, वे इस व्यापक अर्थ में भी गोपाल हैं।

शेष (विश्व का आधार) शंकर (विश्व का कल्याण) के लिए ये प्रभु श्रीकृष्ण लीला करते हैं। इनकी लीलाओं का वर्णन कैसे किया जा सकता है? जब वेद भी "नेति-नेति" कह अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो मैं उनका वर्णन कैसे कर सकता हूँ?

इसलिए श्री दयाराम भाई कहते हैं-

चार वेद षट शास्त्रनो वारे वारे कर्यो रे विचार।
उपनिषदना अर्थनो शोधता निकल्यो ऐ सार।
निकल्यो सार श्रीकृष्णनी भक्ति, सत्संगमां करवी आसक्ति।
श्री पूर्ण पुरुषोत्तम ने युगल चरणे, सर्व समर्पीने रहेवुं शरणे।
सेवो श्रीकृष्ण कृपाल।।(भक्ति पोषण-२)

चार वेद और षड् शास्त्र का बारम्बार विचार किया, उपनिषदों के अर्थ को खोजने पर निकला यह सार कि श्रीकृष्ण की भक्ति, सत्संग में आसक्ति करना श्री पूर्ण पुरुषोत्तम के युगल चरणों में सर्वस्व समर्पित कर शरण में रहना। इसलिए सदा श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद- ये चारों वेद तथा न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग मीमांसा और वेदान्त ये छह दर्शन, उपनिषद् और सभी शास्त्रों का सार यही है कि (१) श्रीकृष्ण की भक्ति करना (२) सत्संग में दृढ़ आसक्ति रखना और (३) भगवान के चरणों में सब कुछ समर्पण करके रहना।

इसलिए वे कहते हैं- सेवो श्रीकृष्ण कृपाल! कितना सुन्दर ध्रुवपद है। "कृष्ण सेवा सदा कार्या" के जैसा ही है यह सुन्दर ध्रुवपद। भक्ति ही सब वेद-शास्त्रों के सार का सार है। भक्ति कोई सामान्य मार्ग नहीं, यह तो राजमार्ग है। भक्ति केवल भगवत्-प्राप्ति का साधन ही नहीं, साध्य भी है। जिस प्रकार देवों में देवाधिदेव प्रभु श्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट हैं, उसी प्रकार दैवी साधनों में प्रेम ही सर्वोपरि साधना है।

ब्रह्म

सच्चिदानन्द, ब्रह्म ही अपनी शक्ति को अपने में तीन प्रकार से रखकर प्रमाण, प्रमेय और फलरूप बन गए हैं। सच्चिदानन्द का श्रुति (वेद) रूप में प्रकट होना ही उनका प्रमाण रूप है। इनका ब्रह्म रूप ही प्रमेय स्वरूप है और अनन्त गुणों से परिपूर्ण श्रीहरि ही फलरूप हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही त्रिविध, तीनों रूप धारण किए हुए हैं।

ब्रह्म का स्वरूप

परब्रह्म परमात्मा एक ही हैं, महान् हैं, परात्पर हैं, सर्वोत्तम हैं, अद्वितीय हैं व महान् से भी महान् हैं। उनकी समानता कर सके, ऐसा कोई नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप अव्यक्त के पर है, नित्य है, सनातन है।

स एक एव एकवदेक एव सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति परब्रह्म एक ही है, एक ही, एक ही है। उसके सिवा और कुछ है ही नहीं। सभी देव इस एक परब्रह्म पर ही अवलम्बन करते हैं। ब्रह्म एक और अद्वितीय है। इतना ही नहीं, किन्तु वे ही परम गति हैं क्योंकि, **अव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः** अव्यक्त से पुरुष पर है। पुरुष से पर कुछ भी नहीं है। वही पराकाष्ठा है और वही परागति है।

पूर्व में परब्रह्म का ही अस्तित्व था और कुछ भी नहीं था। पहले यह सब सत् था- "**सदेव सौम्येदमग्र आसीत्**" सृष्टि के पहले सबका कारण रूप सत् तत्त्व ही था याने कि सबसे पहले परब्रह्म का ही अस्तित्व था।

पूर्व में परब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा तत्त्व कोई नहीं था, इसलिए **यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा। स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधान-पुरुषेश्वरः॥**

जिसमें यह सब है, जिससे यह सब कुछ है, जिसमें से ये सब हैं, जिसका ये सब कुछ हैं, जिसके लिए ये सब हैं, जो जिस प्रकार से और जब-जब ये हैं, वह सब साक्षात् प्रधान-पुरुषेश्वर भगवान ही हैं। **पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्-** जो कुछ दिखाई देता है, जो हो चुका है और जो कुछ होने वाला है, वह सब पुरुष रूप है, ब्रह्म रूप है।

तत्त्ववेत्ता मुनियों ने परमतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान ये नाम दिए हैं। ज्ञानियों की परिभाषा में वह ब्रह्म है। योगी उन्हें परमात्मा कहते हैं और भक्तों के लिए वे भगवान हैं। परब्रह्म, परमात्मा, भगवान एक ही होने के बाद भी दृष्टा, दृश्य आदि शब्दों से विविध स्वरूप में जाने जाते हैं।

ब्रह्म सर्वकर्ता

जिस परमात्मा को वेद एक, अद्वितीय कहता है, वह स्वरूप से एवं कार्य से सर्वतंत्र स्वतन्त्र है। वही सर्वकर्ता है।

बहुस्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत् सती- ब्रह्म की ऐसी इच्छा हुई कि मैं बहुरूप में बनूँ। इससे वे ही अपनी शक्ति से जगत् रूप हुए। माया ब्रह्म के वश में है, परन्तु ब्रह्म माया के वश में नहीं है। परब्रह्म कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं। इसी कारण वे अव्यय रहकर, अच्युत रहकर अपने में से यह सब सर्जन करते हैं।

सर्वकर्ता परमात्मा ही जगत् के समवायी और निमित्त कारण बनते हैं। इनका माहात्म्य इतना अगाध है कि वे इच्छानुसार कभी स्वयं में और कभी स्वरचित सृष्टि में आकर रमण करते हैं।

आविर्भाव और तिरोभाव ये दोनों शक्तियाँ भगवान की हैं। इन शक्तियों और भगवान के बीच कोई भेद नहीं है। परब्रह्म और परब्रह्म के धर्मो में भी कोई भेद नहीं है। एक अद्वितीय परम तत्त्व ही है, क्योंकि कारण (ब्रह्म) और कार्य (सृष्टि) दोनों में भी अभेद ही है।

प्रपंचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्। तच्छक्त्या। ब्रह्म सर्वकर्ता है। अतः यह सारा विश्व भी भगवान का ही कार्य है। भगवान् स्वयं ही अपनी माया से जगत् रूप हुए हैं। ब्रह्म का परिचय भी उनके कर्तृत्व से होता है। जैसे कि **यश्च विश्वं सृजति, विश्वं बिभर्ति, विश्वं भुंक्ते स आत्मा-** जो विश्व का सृजन करते हैं, विश्व को धारण करते हैं और उसको विलीन भी करते हैं, वे आत्मा-परब्रह्म हैं।

"**यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च**" जिस प्रकार मकड़ी अपने में से ही लार उत्पन्न करती है, उसका जाला बनाती है, उसमें रहती और फिर इच्छा होने पर उसे निगल जाती है, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म में से ही इस विश्व की उत्पत्ति होती है और उसमें ही वह लीन हो जाता है।

उस ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, बाहों से क्षत्रिय, जांघ से वैश्य और पैर से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। उनके मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, नाक से वायु और प्राण, मुख से अग्नि, नाभि से अंतरिक्ष, चरण से भूमि, श्रोत (कान) से दिशा आदि अनेक प्रकार की सृष्टि हुई है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि उस प्रभु से उत्पन्न हुई है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवप्रलयस्तथा-** मैं सारे जगत् का सृजन और संहार करने वाला हूँ।

वैषम्य-नैर्घृण्य-दोष-परिहार

कुछ लोगों को ईश्वर के प्रति ऐसी शंका है कि व्यावहारिक जगत् में तो ईश्वर सम नहीं, अपितु विषम अर्थात् पक्षपातपूर्ण दिखाई देता है। ईश्वर ने इस जगत् में देव आदि को तो बहुत सुखी बनाया है, किन्तु पशु-पक्षियों को दुःखी बनाया है। वेद आदि कहते हैं कि ईश्वर सर्वकर्त्ता है। सब कुछ वही करता है तो जिनको सुख देते हैं, इनके प्रति इनका अवश्य प्रेम होगा और जिनको दुःख देते हैं, उनके प्रति द्वेष होगा। इस प्रकार ईश्वर में वैषम्य या विषमता है। उनका सबके साथ समान व्यवहार नहीं है।

इतना ही नहीं, उनमें दया-करुणा का भी अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है, लेकिन गहराई से सोचें तो यह स्थिति नहीं है-

वैषम्य-नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति- क्रिया में विषमता दिखाई देने पर भी ईश्वर में वास्तव में विषमता नहीं है। यदि किसी निर्दोष व्यक्ति को कोई न्यायाधीश छोड़ देता है, बरी कर देता है, तो उसका कारण उसके प्रति राग या पक्षपात नहीं, किन्तु न्यायाधीश की न्यायप्रियता है, उसकी तटस्थता है। उसी प्रकार जब अपराधी को वह सजा देता है, तब भी उसका कारण अपराधी के प्रति द्वेष नहीं है, बल्कि न्यायाधीश की न्यायप्रियता है। सजा देने और बरी करने दोनों ही स्थितियों में न्यायाधीश तटस्थ होकर न्याय करता है। वह राग या द्वेष से प्रेरित नहीं होता और न उसके न्याय को क्रूरता या निर्दयता का कृत्य ही कहा जा सकता है।

आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि विद्यते- इस सन्दर्भ में दार्शनिक समाधान यह है कि भगवान ही जीव रूप भी बन गए हैं। जीव और ब्रह्म की भिन्नता स्वरूप से नहीं है, किन्तु धर्म (गुण) से ही है। स्वरूप से जीव और ब्रह्म अलग नहीं हैं, तो फिर विषमता कहाँ से आएगी? विषम व्यवहार के लिए तो द्वैत होना आवश्यक है। क्रूरता, निर्दयता के लिए भी द्वैत होना ही चाहिए, किन्तु भगवान का रचा हुआ यह समस्त संसार तो भगवान की आत्मसृष्टि है। प्रभु ने स्वयं ने अपने लिए अपने द्वारा यह सृष्टि रची है। जब उन्हें अनेक होने की इच्छा होती है, तब वे जीव और जगत् के रूप में भी बन जाते हैं और जब सृष्टि को समेट लेने की इच्छा होती है, तब सबको अपने में समेट में लेते हैं। इस प्रकार जीव और जगत् से भगवान का वास्तविक अद्वैत और ऐच्छिक द्वैत है। आत्म रूप में सृष्टि -लीला के कारण ''ब्रह्म में विषमता और क्रूरता है'', ऐसा दोषारोपण नहीं हो सकता। क्या वे अपने आप से भेदभावपूर्ण और क्रूर व्यवहार करेंगे?

ब्रह्म में विरुद्धधर्माश्रय

परब्रह्म-परमात्मा में विरुद्ध धर्म और विरुद्ध गुण एक साथ हैं। मायावादियों का मत है कि ब्रह्म केवल निर्गुण, निर्धर्मक और निराकार है। यह मत ठीक नहीं है। उनका मत है कि सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वकर्त्तापन आदि जो धर्म ब्रह्म में दिखलाई देते हैं, वे वास्तव में उनके धर्म नहीं हैं, किन्तु वे धर्म माया से ब्रह्म में आरोपित किए जाते हैं। यह मत भी उचित नहीं है। शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का मत है कि परब्रह्म में सब अप्राकृत धर्म, दिव्य गुण रहते हैं। ब्रह्म के धर्म नित्य, सहज और स्वाभाविक हैं। ये सभी गुण अप्राकृत हैं। वे माया से ब्रह्म में प्रतीत होते हैं, ऐसा नहीं है।

जब ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं, तब इसका अर्थ यह है कि उसमें प्राकृत धर्मों (गुणों) का अभाव है। उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप प्राकृत पांचभौतिक देहइन्द्रियादि वाला नहीं है, इसलिए उसे निराकार कहा जाता है। जब उन्हें साकार कहा जाता है, उसका अर्थ यह है कि वे अप्राकृत दिव्य आकार वाले, अलौकिक, अप्राकृत और आनंदमात्र आकार वाले हैं। निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म से भिन्न नहीं है और निराकार ब्रह्म साकार ब्रह्म से अलग नहीं है। वही निर्गुण भी है और सगुण-साकार भी।

जो ब्रह्म अणु से भी अणु (सूक्ष्म) है, वही महान् से भी महान् है। जो ब्रह्म मन से, वचन से,

चक्षु से अगम्य-अगोचर कहा गया है, वही ब्रह्म योग से, ध्यान से, शुद्ध भाव और भगवत्कृपा से सुलभ और सुगम बन जाता है। वेद ब्रह्म को अजन्मा कहते हैं और वह अजन्मा जन्म भी लेता है। वह कर्ता है, फिर भी अकर्ता रहता है। वह सर्वव्यापक है, किन्तु भक्तों के हृदय में भी बसा रहता है।

परब्रह्म सर्वकाम, आप्तकाम, नित्यतृप्त भी है और वही क्रीड़ा करने के लिए अपनी इच्छा से अपनी शक्ति से स्वयं जगत् रूप भी बन जाता है। वह एक और अद्वितीय है। साथ ही वह अनंत स्वरूप, सहस्रों रूपधारी भी है। वह चल भी है, अचल भी है। वही अंतस्थ भी है और बहिस्थ भी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म के हाथ, नेत्र, कान आदि हैं, साथ-साथ वह यह भी कहता है कि उसके हाथ, पैर नहीं है, फिर भी चलना, पकड़ना जैसा कर्म तो करता है। आँखें नहीं हैं, किन्तु देखता तो है। कान नहीं है, किन्तु सुनता तो है। गो. तुलसीदास ने कहा है-

बिनु पद चले सुने बिनु काना। कर बिनु कर्म करे विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी बकता बड़ योगी॥
कर बिनु परस नयन बिनु देखा। गहे घ्राण बिनु बास अशेषा।
अस सब भाँति अलौलिक करनी। महिमा जाइ जासु नहीं बरनी॥

ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** उसके पास मन सहित वाणी भी नहीं पहुँच पाती। ऐसे ये अगोचर भी हैं और **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'** जिस जीव पर कृपा करके उसे स्वीकार करते हैं, उसे ही वे अपने स्वरूप का दान करते हैं। ब्रह्म का स्वरूप इतना महान् है कि एक-दूसरे के विरुद्ध धर्म उसमें एक साथ समाये हुए है- **'विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्।'** जगत् में जो एक साथ रह न सके, ऐसे सभी विरोधी गुण-धर्म परब्रह्म परमात्मा में एक साथ रहते हैं। यही तो इनकी अगम्य लीला है।

कड़ा निवासी श्री गदाधरदास को प्रयाग में श्रीवल्लभ प्रभु मिले। गदाधरदास के काका को पंडिताई का, विद्वत्ता का मद था। उसने श्री महाप्रभुजी से प्रश्न किया- "महाराज! भगवान तो एक ही है, फिर वैष्णवों में सेव्यस्वरूप अलग-अलग क्यों हैं? कोई कृष्ण को मानता है तो कोई राम को, कोई नारायण को भजता है, तो कोई नृसिंह को । ऐसा क्यों?"

श्री महाप्रभुजी ने इसका सुन्दर समाधान किया- "चक्रवर्ती राजा का शासन सारी पृथ्वी पर होता है और दूसरे देशों के विभिन्न स्थानों या क्षेत्रों के राजा भी होते हैं। ये सभी राजा कहलाते हैं, किन्तु होते हैं वे सभी चक्रवर्ती सम्राट के आज्ञाकारी। वैसे ही पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सर्वोपरि हैं और अन्य अवतार अंश, कला रूप होने से सदा श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी हैं। श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम होने से सर्वोपरि हैं, अन्य अवतार अंश अवतार या कला अवतार हैं। ये सब श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी हैं।"

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस, अंतरगत ही भावै॥
परम स्वाद सब ही सु निरंतर, अमित तोष उपजावे।
मन बानी को आगम-अगोचर, जो जानै सो पावे॥

रूप रेख गुण जाति जुगेति बिनु, निरालम्ब धावे।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं, 'सूर' सगुण पद गावे॥

परमात्मा के अव्यक्त स्वरूप के संबंध में भक्तों ने हमेशा असमर्थता व्यक्त की है। गूँगे को मीठे फल का स्वाद तो मिलता है, किन्तु वह उस स्वाद को वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। ब्रह्म-सुख के संबंध में भी ऐसा ही है, इसका अनुभव तो हो सकता है, किन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यदि कोई भी अनुभवी कुछ भी न कहे तो अनुभवहीन कैसे समझ सकता है कि वह सुख कैसा होता है।

अनुभवी तो कहते हैं कि- **रसो वै सः** रसस्वरूप प्रभु का आनंद परम स्वाद है। परम आनंद का अनुभव है, जिसने स्वाद लिया, वह हमेशा ही आनंदित है। **इतरराग विस्मारणं नृणाम्** उसका स्वाद मिलने पर दूसरे स्वाद भूल जाता है। भगवान् को देखने के बाद दूसरे किसी को देखने की इच्छा ही नहीं होती। उनको स्पर्श करने के बाद हमें किसी और का स्पर्श सुहाता ही नहीं। इनकी वाणी सुनने के बाद और किसी को सुनना हमें रुचता ही नहीं। केवल अनुभवी ही जान सकते हैं कि यह कैसा अनुभव है!

ब्रह्म के अव्यक्त और व्यक्त रूप में से भक्त व्यक्त को ही पसंद करते हैं। उसके अव्यक्त स्वरूप में रूप, आकार, सत्त्व, रज या तमोगुण नहीं है और नहीं है कोई जाति तथा नहीं है कुछ भी जानने का अन्य कोई साधन। ऐसे अव्यक्त के पीछे कहाँ तक मुग्ध होकर बुद्धि दौड़ेगी? भक्त के अधिक निकट आने के लिए, भक्त को अधिकाधिक सुख देने के लिए, भक्त के लिए सुगम और सुलभ होने के लिए प्रभु व्यक्त बनते हैं। वे साकार, सगुण (अनेक अलौकिक गुणों से युक्त) बन जाते हैं। वे विविध लीलाएँ करते हैं और इन लीलाओं के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होने पर भक्त को जो सुखानुभूति होती है, वे उसे अभिव्यक्त कर सकते हैं। उस व्यक्त बने लीलाबिहारी को देख सकते हैं, छू सकते हैं, पकड़ सकते हैं, उससे मिल सकते हैं और बिछुड़ भी सकते हैं। उनके साथ खेल सकते हैं, उनके साथ भोजन कर सकते हैं, उनसे प्रेम भी कर सकते हैं. इसलिए तो प्रभु प्रकट होते हैं, अवतरित होते हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के भजन, सेवा को छोड़कर अन्य अंश-कला आदि अवतारों या अग्नि, वायु या अन्य देवी-देवताओं की उपासना करने वाले सज्जनवृंद कामधेनु छोड़कर बकरी दुहने या बहती निर्मल गंगा के जल की उपेक्षा करके गड्डा खोदने वाले के समान मूर्खता करते हैं। जल से तरबतर तो मेघ की जलधारा ही कर सकती है। अंश का आश्रय आंशिक ही होता है। पूर्ण का आश्रय ही परिपूर्ण बनता है। इसलिए पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को ही भजना चाहिए- उन्हीं की सेवा करना चाहिए।

भगवान

संभर्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः।

भगवान् इस शब्द में भ का अर्थ होता है- पोषण करने वाला या धारण करने वाला।

नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने।

ग याने कर्म फल की प्राप्ति कराने वाला, लय करने वाला और सबको बनाने वाला सर्जक

वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स य भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः॥

जिसमें सब बसा है और जो सबमें बसा है, जो सबका निवास रूप है, यही अर्थ है "व" का। इस प्रकार भगवान् का अर्थ हुआ- वह परम तत्त्व, जो सबका पोषण करता है, सबको धारण करता है, कर्मफल की प्राप्ति करता है, सबका निर्माता है, जिसमें सब अन्ततः लीन हो जाते हैं, जिसमें सब बसे हैं, जो सबमें बसा है। भगवान् ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छह प्रकार के भग (गुण, धर्म) धारण करते हैं, इसलिए उन्हें भगवान कहते हैं। सामान्यतः भगवान शब्द का अर्थ होता है, परब्रह्म का वह साकार स्वरूप, जो भक्तों द्वारा ग्राह्य, संवेद्य और भोग्य है। यही भगवान प्रायः भक्तों के लिए, भक्तों के साथ लीला करने के लिए, भक्तों का परित्राण आदि कार्यों को करने के लिए अवतार लेते हैं, रूप धारण करते हैं।

स वाच्यवाचकतया भगवान्ब्रह्मा रूपधृक्। नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः॥

परमात्मा वस्तुतः माया से परे तथा सर्व व्यापारों से रहित होते हुए निजेच्छा से कर्म करने वाले बनकर, नाम, रूप और क्रियाएँ धारण करते हैं। भगवान को जानने का उपाय एक ही है और वह है भगवत्शास्त्र। आँख आदि इन्द्रियों के द्वारा भगवान का ज्ञान होना असंभव है। इन्द्रियजनित ज्ञान अथवा क्रिया ये दोनों भगवान का अनुभव नहीं कर पाते और लौट आते हैं। बुद्धिजनित तर्क भी भगवान तक पहुँचने में असमर्थ है। भगवान का स्वरूप गुणातीत है। जिस प्रकार आकाश वायु के शोषणगुण से, अग्नि के दाहक गुण से, जल के गीला करने के गुण से, पृथ्वी के धूल रूप गुण से लिप्त नहीं होता और बदलती रहने वाली ऋतुओं के गुण से भी लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार अहंकार से पर अक्षर रूप परब्रह्म भी संसार के कारण रूप सत्व, रज और तमोगुण से लिप्त नहीं होते। प्रभु का स्वरूप अविकृत है। जैसे अपने उदय और अस्त आदि क्रियाओं से सूर्य का तेज घटता या बढ़ता नहीं, उसी तरह अद्वितीय परमात्मा का तेज सर्जन आदि कार्यों से घटता या बढ़ता नहीं है।

इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्ति से सुख प्रदान-

भगवद्-अवतार तथा भगवत्-लीला का प्रयोजन जीव के दोषों का नाश करना और उसे सुख की प्राप्ति कराना है। दुष्टों के दोषों का नाश करना यह अवतार का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। जिनके

दोषों का निवारण संभव नहीं, उनके दोषों का नाश प्रभु अपने स्वरूप से करते हैं और अन्यों के दोषों का नाश भगवान् संबंध से करते हैं, अर्थात् अतिप्रबल दोषों (दुष्टों) का नाश प्रभु स्वरूप से करते हैं और साधारण दोषों का नाश प्रभु स्वसंबंध से करते हैं। भगवान को भजने वाले दैवी-जीवों के उत्कर्ष के लिए और उनके संसार को नष्ट करने के लिए भगवान का स्वरूप तथा स्वसंबंध का प्रभाव काम करता है। अवतार धारण करके प्रभु निज स्वरूप से तथा स्वसंबंध से अनेक भक्तों को आनंद का दान करते हैं। श्री गर्गमुनि ने नन्द बाबा से कहा था कि आपके गोपों और गोकुल को आनंद प्रदान करने वाले इस लाड़ले पुत्र के द्वारा आप सर्वविपत्तियों को सरलता से पार कर सकते हैं। इतना ही नहीं, यह आप सबका कल्याण करेगा। आप सभी को सुखी बनाएगा। इस प्रकार भगवान अपने स्वरूप से तथा संबंध से जीव को इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-निवृत्ति करवाकर दोनों प्रकार से सुख देते हैं।

भगवान में सर्वसामर्थ्य

भगवति प्रमेयबलमेव मुख्यं, न प्रमाणबलम् (सु.) भगवान का बल दो प्रकार का है- प्रमेय बल और प्रमाण बल। इसमें प्रमेय बल ही मुख्य है। भगवान को ईश्वर इसलिए कहा जाता है कि वे सबको नियमन में, नियंत्रण में रखने वाले हैं। उनकी आज्ञा का उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता। **कालनियंता च भगवान** (सु.) भगवान काल के भी नियंता हैं। ऐसे तो संसार में काल से बलवान कोई नहीं है। भगवान महाबली काल का भी उल्लंघन करने वाले हैं। इसलिए उनके समान और उनके जैसा शक्तिशाली कोई नहीं है।

भगवान की शक्ति, पराक्रम लीला-सामर्थ्य भी अनेक प्रकार के हैं। **क्षणेन विश्वरूपो भवति क्षणेन वामनः** एक क्षण में ये विश्व रूप विराट हो जाते हैं, तो एक क्षण में वामन रूप। कभी दिखाई देते हैं तो कभी अदृश्य हो जाते हैं। वे बाहर भी हैं और भीतर भी। वे सीमा (मर्यादा) वाले भी हैं और असीम भी। भगवान का यह सामर्थ्य भी है कि वे सब विरोधी धर्मों के भी आश्रय हैं। भगवान का ऐश्वर्य लोकवेदातीत है, इसलिए ये ईश्वर कहलाते हैं; **स ईश्वरः योऽलौकिकं करोति यो वा वेदस्याप्यशक्यं करोति।** ये अलौकिक कार्य कर सकते हैं। यहाँ तक कि वेद से अशक्य कार्य भी कर सकते हैं, तभी तो वे सर्वसमर्थ ईश्वर हैं।

स्वरूप और संबंध की महिमा

स्वरूपेण कृतार्थत्वम्- भगवान भक्त को अपने स्वरूप से कृतार्थ करते हैं। **भगवत्स्वरूपं यथाकथंचिदपि संबंद्धं साधनान्तरनिरपेक्षं फलं साधयति** भगवान के स्वरूप का चाहे जिस प्रकार से संबंध हो जाए, तो वे दूसरे किसी भी साधन की अपेक्षा किए बिना फल की प्राप्ति कराते हैं। यहाँ तक कि इनके चरणों के साथ का संबंध हो जाए तो भी जीव को कृतार्थ कर देते हैं। सत्संग और भागवत ये दोनों भगवान के आधिभौतिक चरण हैं। ज्ञान और भक्ति ये दोनों भगवान् के आध्यात्मिक चरण हैं और प्रसन्न होकर जब वे प्रकट होते हैं, तब प्रत्यक्ष प्रभु के चरण आधिदैविक चरण हैं. इनमें से एक भी मिल जाए तो जीव कृतार्थ हो जाता है, किन्तु भगवान का स्वरूप प्रायः दुर्लभ है। ब्रह्मा, शंकर आदि देव और मुनियों जैसे वाचस्पपति भी उन्हें तप, विद्या और समाधि रूप उपायों से खोजते हैं। फिर

भी **पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरं** वे सब के साक्षी परमात्मा का साक्षात्कार कर नहीं सकते। अपने महत् अनुग्रह से, असीम कृपा से ही भगवान भक्तों के लिए सुलभ होते हैं।

सर्वदेवमय-

ऋषयो, मनवो, देवा मनुपुत्रा महौजसः। कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः॥

ऋषि, मनुगण, देव सब ईश्वर की ही कला हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान हैं। सब देव उनमें बसे हैं। जिस प्रकार वृक्ष के मूल में जल डालने से उसकी जड़, डालियाँ, पत्ते आदि सभी को तृप्ति मिलती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की उपासना, सेवा करने से उनके अंश रूप अन्य सब अवतार, देवता आदि तृप्त होते हैं। **सर्वार्हणमच्युतेज्यया** भागवत कहती है कि अच्युत भगवान श्रीकृष्ण की पूजा सब देवों की पूजा है। श्रीमद्‌भागवत के अनुसार जिससे यह सारा जगत् जाना जाता है और सारे विश्व में जो समाया हुआ है, वह आकाश की तरह सर्वव्यापक तत्त्व परब्रह्म है। इस परमेश्वर का न तो आदि है, न मध्य और न अन्त ही है। इसका न कोई अपना है और न पराया ही। इसमें अंदर या बाहर का भेद नहीं है, फिर भी इसी परम तत्त्व से इस सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त होता है। अपना-पराया, अन्दर-बाहर यह सब इसी से होता है। यह विश्वव्यापी परमात्मा सत्यस्वरूप परब्रह्म है। इस परमात्मा ने जगत् को बनाकर जीव के साथ उसमें प्रवेश किया है। सब जीवों के भोग स्थान शरीर को भी इन्होंने ही बनाया है तथा सबका पालन भी ये ही करते हैं।

भगवत्-स्वरूप

श्रीमद्-भागवत में भगवत्-स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया गया है- अजन्मा भगवान शुद्ध जीव को कौस्तुभमणि के रूप में धारण करते हैं। वे उस मणि की कान्ति को श्रीवत्स रूप में अपने वक्षस्थल में धारण करते हैं। अपनी त्रिगुणात्मक माया को प्रभु वनमाला के रूप में धारण करते हैं। वे वेद रूपी पीताम्बर धारण करते हैं। प्रभु की जनोई (यज्ञोपवीत) अ, उ और म इन तीन मात्राओं वाला, ॐकार है। भगवान सांख्य और योग रूपी मकराकृति कुण्डलों को धारण करते हैं। सभी लोगों को अभय देने वाले परमेष्ठिपद को प्रभु मुकुट के रूप में धारण करते हैं।

धर्म और ज्ञान से युक्त सत्वगुण भगवान का कमल है। मन, इन्द्रियों और देह के सामर्थ्य रूपी मुख्य तत्त्ववाली गदा को भगवान धारण करते हैं। भगवान जलतत्त्व को उत्तम शंख के रूप में तथा तेजस तत्त्व को सुदर्शन चक्र के रूप में धारण करते हैं। आकाश तत्त्व को तलवार रूप तथा काल को शार्ङ्ग धनुष रूप में धारण करते हैं। वे कर्मरूप ढाल धारण करते हैं। इन्द्रियाँ भगवान के बाणरूप हैं। क्रियाशक्ति रूप मन भगवान का रथ है। भगवान के हाथों में जो लीला कमल है, यह ऐश्वर्य है। चँवर, धर्म और यश हैं। सर्वथा निर्भय वैकुण्ठधाम भगवान का छत्र है। ऋक्, यजु और साम ये तीनों वेद गरुड़ के रूप में विराजमान हैं। यह वेदात्मक गरुड़ यज्ञरूप भगवान को वहन करने का कार्य करते हैं। और **स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम-** भगवान का अद्‌भुत स्थूल शरीर सब जीवों का धाम स्वरूप है।

विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः। श्रद्धा, दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनुः॥

ब्राह्मण, गाय, वेद, तप, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, तितिक्षा और यज्ञ ये सब भगवान का शरीर हैं। इस प्रकार अपने अंगों का परिचय स्वयं भगवान ने दिया है-

तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रियाऽऽकृतिः। अंगानि क्रतवो जाता धर्म आत्मासवः सुराः॥

हे ब्राह्मण! तप मेरा हृदय है, विद्या मेरा शरीर है, क्रिया मेरी आकृति है, यज्ञ मेरे अंग हैं, धर्म मेरा मन (आत्मा) है तथा देव मेरे प्राण हैं। पुष्टिमार्ग में भगवान स्वरूपात्मक रूप से विराजते हैं यहाँ ठाकुरजी "मर्यादा पुष्टि" की रीति से विराजते हैं। वे भक्त द्वारा समर्पित सभी सामग्री आरोगते हैं। वस्त्र, आभूषण आदि अंगीकार करते हैं, यह पुष्टिभाव है, किन्तु दर्शन देने में मर्यादा रखते हुए विराजते हैं, अतः बोलते नहीं। साक्षात् विराजमान होते हुए भी ऐसे दर्शन देते हैं, मानो प्रभु का स्वरूप विराजमान है। यह मर्यादापुष्टि है।

भगवत्-स्वरूप दो प्रकार के हैं, भक्तोद्धारक और सर्वोद्धारक। सर्वोद्धारक स्वरूप मर्यादा पुष्टि के रूप में सबको दर्शन देते हैं। भगवत् स्वरूप में प्रगाढ़ स्नेह जागे तब तक प्रभु सर्वोद्धारक रूप में ही दर्शन देते हैं। भक्तोद्धारक स्वरूप का प्राकट्य सर्वोद्धारक स्वरूप में से ही होता है। उन्हें जैसी लीला करना हो, वैसा स्वरूप वे धारण करते हैं। वे भक्त के साथ बोलते, खेलते और अनेक अनुभव करवाते हैं। भक्तोद्धारक स्वरूप के आविर्भाव प्रसंग में तो केवल प्रेम का ही सर्वोपरि शासन चलता है। तब अपरस रहे या न रहे, लोकवेद की मर्यादा रहे या टूटे, किसी प्रकार का ध्यान नहीं रहता। यही तो प्रेम की सर्वोपरिता है। मन्दिर में ठाकुरजी की सेवा करते समय पुष्टिमार्ग की मर्यादा सहित सेवा करते हैं, किन्तु प्रेम में तो मर्यादा का कोई ध्यान नहीं रहता। उस स्थिति में जो कुछ भी होता है, वह सब प्रभु को प्रिय है, किन्तु इस परमोच्च अवस्था के सिद्ध होने के पूर्व तक सभी मर्यादाओं का ध्यान रखना चाहिए और अगर ज्ञान के आवेश या तर्क की उलझन से मर्यादा टूटी, तो वह दोष होगा। लेकिन प्रगाढ़ प्रेम की स्थिति में मर्यादा टूट जाती है, तो कोई दोष नहीं होता।

देखो माई सुंदरता को रूप।
मन-बुद्धि दे-दे चितै रहिहौं कमल नयन को स्वरूप॥
कुंचित केश सुदेश अलिगण वदन जो सहज सरोज।
मकर कुंडल किरन की छबि, दुरत फिरत मनोज।
अंग-अंग अनंग जीत्यो, रुचिर उर बनमाल।
शोभा "सूर" हृदय परिपूरण सब सुख देत गोपाल॥

ब्रज की गोपियाँ एक-दूसरे से कहती हैं- "श्यामसुंदर की सुंदरता का रूप तो देखो। हम बुद्धि, मन, लगाकर उनके कमलनयन के सुंदर स्वरूप को देखा ही करेंगी। मुख के चारों ओर बिखरी सुंदर घुंघराले बालों की छटा ऐसी लगती है, मानो उनके मुख-कमल के चारों ओर भँवरे रसपान करने के लिए मँडरा रहे हों। मकराकृति कुंडलों की सुंदरता देखकर तो कामदेव भी लज्जित होकर छिपते फिरते हैं। इनके एक-एक अंग की सुंदरता ने कामदेव के गर्व को नष्ट कर दिया है। हृदय पर विराजमान वनमाला की सुंदरता का तो क्या कहना, ऐसे सौन्दर्य के सूर्य गोपालकृष्ण हमारे हृदय में विराजमान होकर सब सुख प्रदान कर रहे हैं।" यदि प्रभु प्रकट न होते तो भक्तों के नेत्रों तथा हृदयों को यह दिव्य रसानुभूति कहाँ से होती? ●

स्वाध्याय-४

भगवत्-लीला

लीला क्या है?

कौतुकाधिष्ठितेन अनायासत्वेन क्रियमाणं कर्म लीला।

भगवान कौतुक करनेवाले बनकर जो प्रयास किए बगैर सहज कर्म करते हैं, वह लीला है। **अनायासेन हर्षात् क्रियमाणा चेष्टा लीला-** बिना प्रयास के हर्षपूर्वक की जाने वाली चेष्टा लीला है।

भगवान की लीला उदार है। वे पात्र या अपात्र का विचार किए बगैर सबको सभी पुरुषार्थ देते हैं। यह उनकी उदारता है।

लीलाओं की उत्तमता

हरेरुदारं चरितं विशुद्धम्- भगवान का चरित्र उदार और विशुद्ध है। उदार याने उत्तम, जो विशुद्ध हो, उसे ही महात्मा उदार कहते हैं। जीव की कृति में, कर्मों में विशुद्धि नहीं होती। जीव में यह मैंने किया ऐसा अहं भाव और मुझे मेरे कर्म का फल मिलना ही चाहिए, ऐसा फल की आसक्ति का भाव आ ही जाता है, लेकिन जगत् के सर्जन, पोषण आदि महान् कार्य भी भगवान अति सहज भाव से करते रहते हैं। इसमें उनके करने का कर्ताभाव या उपभोग करने का भोक्ताभाव इन दोनों की कहीं गंध भी नहीं होती, इसलिए वे महान् हैं। इसलिए भगवान का चरित्र उत्तम और विशुद्ध कहा गया है।

यत्र प्रभुकृतो नैव गुणदोषविचारणम्।
तत्कृतावुत्तमज्ञानं पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥

प्रभु की किसी लीला में उत्तम बुद्धि और किसी लीला में हीन बुद्धि जैसे भेद सोचना नहीं चाहिए। भगवान की कालियदमन लीला, गोवर्धनधारण लीला, भक्तरक्षण और दुष्ट का संहार जैसी लीलाओं को उत्तम मानना और लौकिक बालक के समान लगती रुदन, बंधन, भोजन जैसी लीला को हीन मानना अपराध है। भगवान की सब लीलाएँ उत्तम हैं। भक्त के सुख के लिए भगवान को जो उचित लगेगा, वैसी लीलाएँ वे करेंगे। हमको सबमें उत्तम भाव रखना चाहिए।

लीला का प्रयोजन

एका भगवतो लीला नानाकार्यप्रवर्तिका- भगवान की एक लीला अलग-अलग अनेक कार्यों की प्रवृत्ति कराने वाली होती है। उनकी एक-एक लीला के अनेक प्रयोजन संभव हैं।

भगवान भक्तों के साथ भावनात्मक-लीलात्मक संबंध करने के लिए अनेक गुण और स्वरूप धारण करके प्रकट होते हैं। भगवदीयों, भक्तों का जिस-जिस लीला और जिस-जिस स्वरूप में भाव, स्नेह प्रकट होता है, भगवान वैसा स्वरूप धारण करके उनके लिए वैसी लीला करते हैं। इस प्रकार भगवत्-स्वरूप और भगवत्-लीला भक्तों के लिए फल रूप ही हो जाते हैं। भगवान् भक्तों का हित करने, उन्हें सुख देने, उनमें अपनी भक्ति स्थापित करने के लिए निजानंद में मग्न होकर लीला करते हैं।

भगवत्-लीला के कुछ मुख्य प्रयोजन

१. भक्तिहित-

प्रभुस्तु निजदासानां विदधाति स्वतो हितम्- जीव अपनी अधीरता के कारण प्रभु की कृति को जानता नहीं है। प्रभु तो निज भक्तों का हित अपने आप ही करते हैं। फिर भी यदि हम दुःखी होते हैं, तो इसका कारण हमारी बुद्धि का दोष है।

२. भक्तसुख-

भक्तानां सर्वसौख्यार्थं लीलां चक्रे तथाविधाम्।।

भक्तों को सब सुख देने के लिए भगवान् ने वैसी लीला की है, जिससे भक्तों को सुख मिले।

३. भक्ति-स्थापन-

भक्तों को उत्पन्न कर उनमें भक्ति का स्थापन करने के लिए भगवान् ने मनुष्यभाव से भिन्न-भिन्न प्रकार की लीलाएँ की हैं। भगवान की लीलाओं को इसलिए सुनना, उनका वर्णन करना या उनका स्मरण करना चाहिए, जिससे कि उनमें हमारी आसक्ति हो जाए।

४. निजानंद-

संग्राहयितुमखिलं तैः क्रीडयितुमेव च।
शकलीकर्तुमधुना प्रभोर्बालचिकीर्षितम्।।

जिस प्रकर बालक अपनी मस्ती में निजानंद के लिए खेलता है, उसी प्रकार भगवान का रमण भी निजानंद के लिए ही है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय जैसे महान् कार्य भी भगवान के लिए क्रीड़ा ही है। समस्त चर और अचर वस्तुओं को एकत्रित करना, उनके साथ खेलना और फिर उन्हें बिखेर देना यह प्रभु की बालक्रीड़ा ही है। बालक जिस प्रकार अहंकार और आसक्ति से रहित होकर खेल खेलता है, उसी प्रकार ईश्वर की लीला भी बालक के समान सहज और निर्दोष ही है।

अलौकिकता

कृष्णावतारचरित्रमत्यलौकिकम् अवस्थासाधनविरुद्धकार्यत्वात्

भगवान श्रीकृष्ण का चरित्र अत्यंत अलौकिक है, क्योंकि उसमें उन्होंने अवस्था और साधन के विरुद्ध कार्य किए हैं।

भगवान ने सब कर्मों में स्वयं प्रवेश कर उन कर्मों को अपने कर्म बनाकर व्रजभक्तों को कर्मों से छुड़ाया है। भगवान का जन्म और उनके कर्म दिव्य हैं। उन्होंने अनेक लीलाएँ लोकवत् की हैं। जैसे- लौकिक व्यक्ति करता है। वास्तव में भगवान की सभी लीलाएँ अलौकिक हैं, चाहे वे लौकिक के समान दिखलाई देती हों। भगवत्-लीला में अलौकिक रस है। इस रस का पान करने से अन्य सब रसों की आसक्ति का निवारण हो जाता है। ध्यान, संयम जैसे साधनों में क्लेश है, किन्तु भगवत्-लीला को मन में उतारने में जरा-सा भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि ये कानों के लिए भी अमृत है। इस लीला रूपी अमृत का जो कोई पान करता है, उसके राग-द्वेष रूपी समस्त द्वंद्व नष्ट हो जाते हैं। लीलामृत का पान करने वाले को लौकिक या वैदिक अल्प और नाशवान् फल नहीं, किन्तु पुष्टिमार्गीय धर्म का संबंध फल के रूप में प्राप्त होता है।

दशविधलीला-

श्री भागवतजी में भगवान की दशविध लीला का निरूपण किया गया है। ये हैं- (१) सर्ग (२) विसर्ग (३) स्थान (४) पोषण (५) ऊति (६) मन्वन्तर (७) ईशानुकथा (८) निरोध (९) मुक्ति और (१०) आश्रय।

१. अशरीरी विष्णु का पुरुष शरीर धारण करना **सर्ग** लीला है।
२. पुरुष में से ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति **विसर्ग** लीला है।
३. उत्पन्न हुई सृष्टि का उसकी मर्यादानुसार पालन करना **स्थान** लीला है।
४. स्थान में रहे हुए की अभिवृद्धि करना **पोषण** लीला है।
५. भगवान से पोषण प्राप्त जीवों का आचार **ऊति** लीला है।
६. उसमें जो सदाचार है वह **मन्वन्तर** लीला के अन्तर्गत है।
७. सर्व सदाचारों में भी विष्णु की भक्ति **ईशानुकथा** लीला है।
८. भक्तों के प्रपंच का अभाव ही **निरोध** लीला है।
९. निष्प्रपंचों के स्वरूप का लाभ होना **मुक्ति** लीला है और
१०. मुक्तों की ब्रह्मस्वरूप में स्थिति **आश्रय** लीला है।

लीलाओं का अतर्क्यता-

विभु का चरित्र अतर्क्य है। भगवान की लीलाएँ विपरीत हैं। प्रभु को प्राप्त करना चाहिए ऐसा कहा जाता है, फिर भी वे प्राप्त होते नहीं हैं और छोड़ता हूँ, ऐसा कह देने पर भी वे छोड़ते नहीं हैं। ऐसी विचित्र और विपरीत-सी लीला करते हैं। इसीलिए कहा गया है- **अहो ईश्वरलीलेयं दुर्विभाव्या शरीरिणाम्-** ईश्वर की लीला प्राणियों की समझ से परे है। भगवान् आनंद रूप हैं और उनकी लीला भी आनंद रूप है। जीव आनंदमयी भगवत्-लीला का गान न करके नकागत्मक दृष्टिबिन्दु अपनाकर निरंतर अपने दोषों का ही स्मरण और वर्णन किया करता है। इससे क्या लाभ? इससे तो उसका जीवन क्लेश-दुःख और निराशा से भर जाएगा। श्री सूरदासजी का गौघाट पर श्री महाप्रभुजी के साथ मिलन हुआ। श्री महाप्रभुजी ने कहा- "सूर! कछु भगवत जस वर्णन करो।" तब श्री सूरदास ने दण्डवत्

करके अपने दोषों का वर्णन किया। दीनता भरे पद गाए। सूरदास की यह दशा श्री वल्लभ को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने कहा- "सूर ह्वै के, ऐसो घिघियात काहे को है? सो तासो कछु भगवत्-लीला वर्णन करि" (तू तो सूर है, फिर ऐसा घिघियाना क्यों है? कुछ भगवत्-लीला का वर्णन कर।)

जीव भगवान् से अलग हुआ तब से पतित हुआ ही है, किन्तु इसका बार-बार वर्णन क्या करना, वर्णन तो भगवान की रसमय लीलाओं का ही करना चाहिए, ताकि जीव शुद्ध हो सके।

गायो न गोपाल मन लायो न रसाल लीला
सुनी न सुबोधिनी न साधु संग पायो है।
सेव्यो नहीं स्वाद करी घरी आधी घरी हरि,
कबहूँ न कृष्ण नाम रसना रटायो है॥
वल्लभ श्री विट्ठलेश प्रभु की शरण जाय,
दीन होय मतिहीन शीश न नमायो है।
रसिक कहे बार-बार लाजहू न आवे तोहि,
मनुष्य जन्म पाय मूढ़ कहा तू कमायो है?

सभी संतों ने गाया है कि हरि भजन ही नर तन की सार्थकता है। प्रभु ने कंठ दिया है और उसका कीर्तन न करें! उसने मन दिया है, किन्तु मन में उनकी रसाल लीला का चिन्तन न करें! उसने रसना दी, किन्तु उसका नाम उच्चारण न करें, तो यह प्रभु के द्वारा मानव को दी गई वाणी की, मन की अनमोल भेंट का अनादर ही कहा जाएगा।

आइए, दीनतापूर्वक श्री वल्लभ के चरणों में शीश नवावें। भगवद्-भजन ही सच्चा धन है। सन्मति ही सच्ची सम्पत्ति है और वैष्णवता ही सच्चा वैभव है। जिसने इसे कमाया उसी ने सही कमाया है, अन्यथा सब व्यर्थ है।

भक्तानां सर्वसौख्यार्थं लीलां चक्रे तथाविधाम्। सुबो. ३/१३/२७
भक्तों को सर्व सुख प्रदान करने के लिए भगवान् ने लीला की है।

मानुषभावेन नानाविधाः क्रीडा भक्तानुत्पाद्य तेषु भक्तिस्थापनार्थाः॥ सुबो. १०/१०/३५
भगवान् ने मनुष्य रूप धारण कर मानुष भाव से क्रीडा की। प्रभु ने भक्तों को उत्पन्न किया और उनमें भक्ति की स्थापना करने के लिए आपने नाना प्रकार की लीलाएँ कीं।

भगवल्लीला पात्रापात्रविचारव्यतिरेकेण सर्वेभ्यः एव सर्वपुरुषार्थान् प्रयच्छतीत्युदाराः। सुबो. १०/३५/३१
भगवान् उदार हैं और उनकी लीलाएँ भी उदार हैं। इसलिए भगवान् की लीला पात्र अथवा अपात्र का विचार किये बिना ही सभी को सर्वपुरुषार्थ प्रदान करती हैं।

यः कश्चन भगवत्स्वरूपात्मको रसो निरतिशयत्वेऽपि सातिशयः
स्वाभिव्यक्त्या भोक्तव्य इति येषामिच्छा तैर्लीला श्रोतव्याः। सुबो. २/१/९
भगवान् की लीला का श्रवण करने से भगवान् के स्वरूपात्मक रस की प्राप्ति होती है। यह स्वरूपात्मक रस उत्तम है। उससे उत्तम कुछ भी नहीं है। भगवान् की लीला के श्रवण करने से यह रस प्रकट होता है और लीला श्रवण करने वाला उस दिव्य रस का भोग करता है।

स्वाध्याय-५

भगवान का अनुभव

अनिर्वचनीय- शक्कर की मिठास को केवल अनुभव से ही जान सकते हैं। उसका अनुभव तो कर सकते हैं, किन्तु उसका वर्णन नहीं कर सकते। भगवान के विषय में भी यही बात है कि उनका अनुभव अवश्य होता है, किन्तु यह अनुभव कैसा है, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। **मूकास्वादनवत्-** जिस प्रकार गूँगा व्यक्ति स्वाद को जान तो सकता है, किन्तु बता नहीं सकता। ऐसी ही परमात्मा की अनुभूति है।

रसात्मक भावानुभव-

भक्तों को भगवान का अनुभव रसात्मक अलौकिक शृंगार के रूप में होता है। श्रीहरि संयोग और विप्रयोग दोनों प्रकार के शृंगार रस से परिपूर्ण हैं। यह संयोग और विप्रयोग भी धर्मरूप और धर्मीरूप दो प्रकार का है।

(१) धर्मरूप संयोग- भगवान का भक्त के हृदय से बाहर प्रकट होना, उनकी जगत् में प्रत्यक्ष अनुभूति होना ही यह धर्मरूप संयोग है।

(२) धर्मीरूप संयोग- जब भक्त के हृदय में भगवान् पधारते हैं, उसे अपना परोक्ष अनुभव बताते हैं, तो आंतरिक संयोग का अनुभव होता है। यह धर्मीरूप संयोग है।

(३) धर्मरूप विप्रयोग- दो संयोग के बीच का विप्रयोग अथवा जिस विप्रयोग के परिणामस्वरूप संयोग मिले, वह धर्मरूप विप्रयोग कहलाता है। इसमें बाहर का अनुसंधान, भान, ध्यान भी रहता है।

(४) धर्मीरूप विप्रयोग- जब भक्त के हृदय में भगवत्-आवेश हो जाता है, उससे जो विरह प्रकट होता है, वह संयोग का साधन नहीं है, किन्तु स्वयं फलस्वरूप ही है। इस परम फलरूप अनुभव में भगवान के बाह्य प्राकट्य की आवश्यकता नहीं है। इसमें बाह्य अनुसंधान या भान नहीं रहता। चित्त भगवन्मय हो जाता है। जिस प्रकार मूर्ति में भगवान का आवेश होता है, उसी प्रकार भक्त के हृदय में भगवान का आवेश होता है। यह धर्मीरूप विप्रयोग है।

भगवत्-आविर्भाव-

यह सर्वविदित है कि भक्तों के दुःख दूर करने के लिए भगवान् का आविर्भाव होता है, किन्तु भक्तों के अधिकार भेद और क्लेश के भेद के अनुसार उनके आविर्भाव के प्रयोजनों में भी भेद

होता है। भगवान् श्रीकृष्ण तीन रूपों में- हरि रूप में, रसात्मक रूप में और पूर्णानंद रूप में प्रकटे ऐसा कहा जा सकता है।

(१) हरि रूप में-

उनका प्राकट्य पृथ्वी के, भक्तों के, देवों के, वेद आदि के दुःखों को दूर करने के लिए हुआ।

यदान्यविहितं दुःखं भक्तानामिह जायते।
तदासुरविनाशायावतरत्यंजसा हरिः॥

जब भक्तों को अन्यकृत् अर्थात् अन्य असुरों आदि से दुःख-विपत्ति आदि होती है, तब असुरसंहार आदि लीला करने के लिए भगवान हरिरूप में अर्थात् भक्त दुःखहर्ता के रूप में प्रकट होते हैं।

(२) रसात्मक रूप में-

कामेन यत्र तद् दुःखं स्वरूपविषयं मतम्।
आविर्भावो भवेत्तत्र हरेः पूर्णरसात्मनः॥

भक्त की इच्छा पूरिपूर्ण करने के लिए, जैसा कि वसुदेव-देवकी की भगवान् के जैसा पुत्र प्राप्त करने की इच्छा थी, ऐसी प्रभु के स्वरूप के प्राकट्य की इच्छा पूर्ण करने और उससे संबंधित दुःख दूर करने के लिए पूर्ण रस रूप भगवान् प्रकट होते हैं।

भक्त भगवान् के साथ संबंध रखने की इच्छा करते हैं। रस रूप ब्रह्म के साथ अपने अधिकार, पात्रता के अनुसार ही संबंध की इच्छा जागती है। भक्तों की पुत्र रूप में, मित्र के रूप में, गुरु के रूप में आदि विविध संबंधों की कामना को पूर्ण करने के लिए प्रभु अवतार लेते हैं।

(३) पूर्णानंद रूप में-

यत्रैव सहजस्नेहात् दुःखं तत्र स्वयं हरिः।
मूलरूपेण करुणस्तदर्थं प्रकटो भवेत्॥

सहज स्वाभाविक स्नेह भी उत्कृष्ट भक्तों के दुःख का कारण होता है। व्रजवनिताओं का विरह दुःख इसी प्रकार का है। ऐसे भक्तों के लिए करुणा-सागर प्रभु अपने मूल स्वरूप में, परमानंद स्वरूप में प्रकट होते हैं।

भगवान् के दर्शन के साधन

भगवान् के दर्शन के दो उपाय बताए गए हैं- (१) अंतरंग साधन तथा (२) बहिरंग साधन।

(१) अंतरंग साधन- भगवान की निरंतर, निष्कपट भाव से सेवा करना भगवान् के दर्शन का अंतरंग साधन है।

(२) बहिरंग साधन- सभी प्राणियों के प्रति दया, सभी इन्द्रियों का संयम या उपशमन, जो

मिल जाए उसमें संतोष करना तथा भगवान् के लीला-चरित्रों का गुणगान, श्रवण आदि करना भगवान् के दर्शन के बहिरंग साधन हैं।

अंतरंग उपाय सेवा प्रधान है। वैष्णवों को निष्काम भाव से, निष्कपट भाव से अपनी योग्यता के अनुसार प्रभु श्रीकृष्ण की सेवा निरंतर करना चाहिए। भगवान् की सेवा अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिए अर्थात् बहुत कम या बहुत अधिक नहीं। ऐसी शक्ति-सामर्थ्य के अनुरूप ठाकुरजी की सेवा करना चाहिए। अपनी क्षमतानुसार से कम सेवा करना भगवान से कपट है और क्षमता से अधिक सेवा करने से क्लेश उत्पन्न होता है। परिणाम यह होता है कि भगवान की सेवा जो अतिदुर्लभ है, परमानंदमयी है, किन्तु वह भी जीव को भार जैसी लगने लगती है। ये दोनों अंतरंग और बहिरंग साधन भगवान को प्रसन्न करने वाले हैं। जब प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे स्वयं भक्त को अपने दर्शनों का परम सुख प्रदान करते हैं।

भगवद्-गुणगान की महिमा- भगवान के अनुभव के साधनों में श्री महाप्रभुजी भगवान के गुणगान पर विशेष बल देते हैं।

सर्वापेक्षापरित्यागात् पौरुषस्य सभाजनम्।
आसक्त्या भगवद्भक्तैः परं दर्शनसाधनम्।।

सभी अपेक्षाओं का त्याग करके भक्तों के साथ मिलकर उनके साथ रहकर भगवान के अतिपौरुष (दिव्य एवं अद्भुत) लीला-चरित्रों का वाणी से सन्मानपूर्वक कथन/गान करना भगवद्-साक्षात्कार का उत्तम साधन है।

ऐसे भगवद्-गुणगान में लगे भक्तों को भगवान् के किस स्वरूप में दर्शन होते हैं, यह भी कहा गया है-

पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति।।

भगवान के भक्त भगवान के स्वरूप का नित्य साक्षात्कार करते हैं। वृंदावन आदि धाम में विराजमान भगवत्स्वरूप का अनुभव इन्हें होता है। इन्हें भगवान के आभरणयुक्त मुख-कमल का दर्शन होता है। प्रसन्न मुखारविन्द, अरुण नेत्र से शोभायमान भगवत्स्वरूप का दर्शन करते हैं।

उपासकों को भगवान् के उसी स्वरूप के दर्शन होते हैं, जिसका वे सतत ध्यान करते हैं। जबकि भक्तों को उनके विविध भावों के अनुसार अनेक भगवद्-रूपों के दर्शन होते हैं। प्रभु प्रसन्न होकर इन रूपों का दर्शन रूप वरदान देते हैं। लौकिक दृष्टि और लौकिक बुद्धि से तो ये भगवद्-स्वरूप ग्राह्य नहीं है। भक्त यहाँ, इस लोक में, इस शरीर में भगवान के साथ वार्तालाप करते हैं। भगवान ऐसे भक्तों के साथ अनेक प्रकार की रसमयी लीला करते हैं।

भगवान की प्राप्ति का सरल उपाय-

भगवद्-प्राप्ति का, भगवान के दर्शन का सबसे सरल उपाय स्वयं भगवान ने उद्धवजी को बताया है-

अयं हि सर्वकल्पानां समीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायकर्मभिः॥

मन से, वाणी से और शरीर के कार्यों से सभी प्राणियों में भगवद्भाव करना, यह भगवान् को पाने के समस्त उपायों में सर्वश्रेष्ठ एवं सरलतम उपाय है।

सबमें एकमात्र प्रभु ही व्याप्त हैं, यह भाव भक्तिमार्ग में अत्यंत उपयोगी है। भगवद्गीता उसे ही पंडित या बुद्धिमान कहती है, जो ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल आदि सभी में समदृष्टि रखता है, याने कि ये सभी भगवान के ही अलग-अलग लीला करने के लिए प्रकट हुए स्वरूप हैं, ऐसा भाव रखते हैं।

प्रभु ही सर्वरूप हैं। खेल भी ये हैं, खिलाड़ी भी ये ही हैं और खेल का मैदान भी भगवान् ही हैं।

भगवान के अनुभव के विषय में भगवन ही साधन हैं और भगवान ही फल हैं। वे ही कृपा करके अपना अनुभव कराते हैं और उनका अनुभव ही परमफल है। इसी कारण पुष्टिमार्ग में साधन और फल में कोई अंतर नहीं है। जीव के पास स्वतंत्र कोई साधन नहीं है। फिर भी यथासंभव उसे दीनता, शरणागत-भाव और भगवद्-अनुभव के लिए तापक्लेश रखना चाहिए।

भाग्यवान भक्तों को ही भगवान का अनुभव होता है। काम, क्रोध में डूबे, संसार में आसक्त जीव को, भगवदीयों से विमुख रहने वाले को, भगवान श्रीकृष्ण की लीला में दोष देखने वाले को तथा अहंकारी जीव को भगवान का अनुभव नहीं होता है।

चित्त में भगवान के प्रति स्नेह का संपादन करना चाहिए। फिर प्रेम से भरा चित्त सर्वत्र भगवान को ग्रहण कर लेता है। जिस प्रकार जीभ वस्तु के स्वाद को स्वतः ग्रहण करती है, उसी प्रकार भगवत्प्रेम से भरा चित्त स्वयं भगवान को ग्रहण करता है।

भगवान का अनुभव भक्त के अधिकार और भगवान के अनुग्रह पर आधारित है। जीव को अपने अधिकार के अनुसार प्रभु के स्वरूप का पाँच प्रकार से अनुभव होता है-

(क) आधिभौतिक अनुभव	-	(१) लौकिक स्वरूपात्मक अनुभव
(ख) आध्यात्मिक अनुभव	-	(२) मर्यादामार्गीय स्वरूपात्मक अनुभव
		(३) माहात्म्यज्ञानपूर्वक अनुभव
(ग) आधिदैविक अनुभव	-	(४) पुष्टिमार्गीय स्वरूपात्मक अनुभव
		(५) रसात्मक स्वरूपात्मक अनुभव।

भगवान के जिस प्रकार दर्शन सभी करते हैं, उसी प्रकार भगवान के स्वरूप को, मूर्ति के रूप में, प्रतिमा के रूप में, अनुभव करना भगवान का आधिभौतिक या लौकिक अनुभव कहलाता है। जब भगवान के दर्शन, पूजन आदि से चित्त को शान्ति, प्रसन्नता और अभय जैसे गुणों का अनुभव होता है, तो वह प्रभु का मर्यादामार्गीय अनुभव है। भगवान् के अनुभव में उनके गुण व पूर्ण सामर्थ्य

की स्मृति रहे, अर्थात् प्रभु मेरे पालनहार, तारनहार हैं, ऐसी अनुभूति हो तो वह माहात्म्यज्ञानात्मक अनुभव है। ये दोनों भगवान् के आध्यात्मिक अनुभव माने जाते हैं। जब भगवत्स्वरूप में चैतन्य का अनुभव होता है, प्रभुभक्त के अधीन बनकर लीला करते हैं अथवा अपना श्रम या अपनी प्रसन्नता भक्त को बताते हैं, तो यह पुष्टिमार्गीय अनुभव है। उदाहरणार्थ- दामोदरदासजी संभलवाले के माथे श्री द्वारकाधीशजी विराजते थे। एक बार गर्मी के दिनों में श्री ठाकुरजी को मंदिर में पोढाकर वे खुली हवा में जाकर सो गए। श्री ठाकुरजी ने उनकी दासी को जगाकर आज्ञा की कि- "तू किवाड़ खोलि, मोको गरमी बहुत होत है"। दासी ने दरवाजा खोल दिया। फिर प्रभु ने उसे पंखा झलने की आज्ञा की। ऐसे अनुभव पुष्टिमार्गीय स्वरूपात्मक अनुभव हैं।

पुष्टिभक्त को पुष्टिमार्ग में भगवान् के पुष्टि स्वरूप से होने वाले अनुभवों में उत्तम रसात्मक अनुभव हैं। रसस्वरूप भगवान् के दर्शन, स्पर्श आदि में प्रभु के संयोग की आनंदानुभूति होना तथा क्षणमात्र के विरह में परम व्याकुलता होना- यह पुष्टिमार्गीय परम फल है।

हरिरस वृंदावन ते आयो।
भगवदीयजन पीवन के कारण श्री व्रजनाथ पठायो।।
बाँटि लियो, अपनी-अपनी रुचि, जो जाके मन भायो।
सूरदास प्रभु रसिक विनोदी सो रस रसिकन पायो।।

जिस पर प्रभु अतिशय कृपा करते हैं, उसके पास आनंदरूप बनकर आते हैं। गोलोक से बहता हुआ यह हरि-रस ब्रज में आया। वन में पधारे प्रभु-गृह में रहने वाले भक्तों को भी इस रस से आप्लावित करते हैं। भक्त पी सकें, घूँट के रूप में उसे उतार सकें इसलिए ही प्रभु रस रूप बनकर आते हैं। आनंद का स्वरूप द्रवीभूत होता है, तब उसे रस कहते हैं। आनंदघन जब अति कृपावान हो जाते हैं, तब द्रव स्वरूप बन जाते हैं। बस यही हरिरस है।

भक्त अपनी रुचि के अनुसार इसको बाँट लेते हैं। इस दिव्य क्षेत्र में ईर्ष्या, असूया, सापत्न्य (सौतिया भाव) भाव को स्थान ही नहीं है। **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"** भगवान का भक्त की रुचि के अनुसार होना या बन जाना ही कृपा है। इस कृपा के लिए एक ही शर्त है कि जो रस का रसिक है, वही इसे जानता है और वही पाता भी है। रसिक वही होता है, जिसे हरिरस की प्यास हो। वस्तुतः प्रभु प्रेम से ही मिलते हैं- **"प्रेम-भक्तिवश हैं पूर्णानंद"**। प्रेम ही समस्त वेद-शास्त्र का सार है, उसके समान अन्य कुछ भी नहीं है-

प्रेम सकल श्रुति- सार है, प्रेम सकल स्मृति कर मूल।
प्रेम पुरान-समान है, कोऊ न प्रेम के तूल।।

भगवद्-अवतार

अवतरणमवतारः- अवतार अर्थात् अवतरण। **व्यापि वैकुण्ठात् भगवतः प्रपंचे समागमनम्** - व्यापी वैकुंठ से भगवान का प्रपंच में, जगत् में पधारना ही अवतार है। जिनका उद्धार करना है, उनके बीच उतरना अवतार है। कुए में गिरे हुए व्यक्ति का उद्धार तभी हो सकता है, जब या तो रस्सी उसके पास पहुँचावें या स्वयं कुए में उतरें।

अवतार-विवेचन

श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और वे ब्रह्म सर्वव्यापक हैं, जो सर्वव्यापक तत्त्व है, उसका वैकुण्ठ से नीचे अवतरण, आगमन कैसे हो सकता है? व्यापक का अवरोहण (नीचे उतरना) कैसा और आरोहण (ऊपर चढ़ना) कैसा? यह ठीक है कि भगवान् अव्यक्त और अगोचर है, लेकिन जब वे जीवों पर कृपा करके उनके लिए व्यक्त, इन्द्रियगम्य बन जाते हैं, तो उसे अवतार कहा जाता है। व्यापी वैकुण्ठ अर्थात् अक्षर। अक्षर ब्रह्म व्यापक है, इसलिए इसे व्यापी वैकुण्ठ कहते हैं। परब्रह्म का धाम अक्षर ब्रह्म ही है। भगवान् सदा सर्वदा निज धाम में विराजते हैं, जब उनकी प्रकट होने की इच्छा होती है, तब वे इस प्रपंच में, जगत् में प्रत्यक्ष अनुभव में आने लगते हैं। **यथा शक्ति तथा बृहत् यथा देवी तथा कृष्णः** अक्षर ब्रह्म और पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ये दोनों गंगा की शक्ति और स्वयं गंगादेवी के समान एक-दूसरे से अभिन्न हैं, अलग नहीं हैं। इस प्रकार प्रभु श्रीकृष्ण और उनके धामरूप अक्षर ब्रह्म दोनों अभिन्न हैं, एक-दूसरे से अलग नहीं हैं।

आवरण का हटना ही अवतार

यदि भगवान सर्वत्र रहते हैं, तो हमें उनका दर्शन या प्रत्यक्ष अनुभव क्यों नहीं होता? **तत्र भगवान् सर्वत्र साकारः सच्चिदानंदरूपः सर्वतः पाणिपादन्तः मायाजवनिकाच्छन्नास्तिष्ठति**- परब्रह्म परमात्मा साकार और सच्चिदानंद रूप से विश्व में सर्वत्र विराजमान हैं, किन्तु वे अपने स्वरूप को माया के आवरण में, परदे में ढँके हुए हैं। इस कारण हमें उनका अनुभव, दर्शन नहीं होता। प्रभु ने अपने स्वरूप को जिस माया से ढँक रखा है, वह जीव को भ्रम में डालने वाली अविद्या रूपी माया नहीं है। वह भगवान् की "सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा" शक्ति है, उसी का दूसरा नाम माया है। उसी आत्मशक्ति रूपा माया से भगवान् अपने स्वरूप को ढँके हुए हैं। यह माया आवरण रूपा है। इस आवरण का हटना ही अवतार है, भगवान का प्राकट्य है।

यह आवरण चार प्रकार का है- (१) प्रमाण आवरण (२) वस्तु आवरण (३) जीव आवरण और (४) भगवद्-आवरण। श्री सुबोधिनीजी में इसका निरूपण इस प्रकार है- "**आत्मस्वरूपज्ञानं भगवत्स्वरूपज्ञानं च नोपदेशसापेक्षम्। प्रमाण-वस्तु परतंत्रत्वात् परं प्रमाणवस्तुनोरावरणं**

दूरीकर्त्तव्यम्। जीवात्मावरणं माया, भगवदावरणं भगवदिच्छा। तत्र जीवावरणं भक्तिसहित ज्ञानेनऽपगच्छति। भगवन्माहात्म्यपूर्वक- भगवद्-विषयक-परमप्रेम्णा भगवत्सेवायां भगवदावरणमपगच्छति। (१) प्रमाण अर्थात् ज्ञान का साधन। नेत्र, कान, इत्यादि इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और वेद-शास्त्र आदि ज्ञान के साधनों को प्रमाण कहा जाता है। जब इन ज्ञान के साधनों पर कोई आवरण आ जाता है, तो भगवान् का दर्शन, अनुभव नहीं हो पाता। इसलिए इसे प्रमाण आवरण कहा जाता है। (२) वस्तु अर्थात् दृश्य। वस्तु, दृश्यवस्तु पर जब तक आवरण होता है, भगवान् की मूर्ति, स्वरूप आदि पर जब तक आवरण रहेगा, तब तक मूर्ति/स्वरूप होते हुए भी वे अनुभव में नहीं आते, उनका दर्शन नहीं हो पाता। यदि पूरा सरोवर पानी से लबालब भरा हुआ हो, लेकिन यदि उस पर काई, शैवाल फैली हुई हो तो हमें पानी दिखलाई नहीं देता है। इसे वस्तु-आवरण कहा जाता है। (३) जीव अर्थात् दृष्टा पर माया रूप आवरण आ जाता है। जब भगवान् के चिद्-अंश की शक्ति, माया की मोहिनी शक्ति जीव को ढँक लेती है, तब जीव भगवान् का साक्षात्कार नहीं कर पाता। यह मोहिनी/संमोहिनी माया रूप आवरण ही जीव आवरण कहा जाता है। (४) चौथा आवरण है- भगवद्-आवरण, भगवान् की इच्छा का आवरण। चाहे अन्य सभी आवरण हट जावें, लेकिन यदि भगवान की इच्छा दर्शन देने की न हो तो कोई भी उनके दर्शन नहीं कर सकता। ये सभी आवरण अलग-अलग समय, अलग-अलग व्यक्तियों पर आते हैं और उनके अधिकार के अनुसार अलग-अलग प्रकार से दूर होते हैं।

प्रमाण आवरण और वस्तु आवरण का निवारण तत्त्व विचार और धर्म के आचरण से हो जाता है। जीव तत्त्व पर पड़ा हुआ आवरण भक्तिसहित तत्त्वज्ञान से हट जाता है और भगवद्-आवरण का निवारण करने के लिए जीव को भगवान की माहात्म्यज्ञानपूर्वक परम प्रेमसहित सेवा करनी चाहिए। ऐसी सेवा अर्थात् भक्ति से भगवान प्रसन्न होते हैं और उनकी इच्छा भक्त को दर्शन देने की हो जाती है। इस प्रकार भगवद्-आवरण दूर होकर भक्त को भगवान् के दर्शन प्राप्त हो जाते हैं।

अवतार-भेद

परब्रह्म, अक्षर ब्रह्म और अन्तर्यामी- ये तीनों भगवान् के ही रूप हैं। भगवान् ने ही भिन्न-भिन्न कार्य करने के लिए ये अलग-अलग रूप धारण किए हैं। इन तीन रूपों के अलावा भगवान् के तीन धर्म भी हैं- आनंद, ज्ञान और क्रिया। इन सभी के भेदों से भगवान् के अनेक अवतार होते हैं।

''**सत्वरूप शरीरेषु ब्रह्मणः संक्रमः स्मृतः। अशुद्ध-शुद्ध भेदेनं शरीराणामतो द्विधा। कार्यकाले संक्रमणमावेशः सर्वदापरम्।**'' अशुद्ध और शुद्ध सत्त्व को आसन/स्थान बनाकर उसमें परब्रह्म अथवा उनके धर्म का उतरना, सभी आवरणों को हटाकर अपने इच्छित स्थान पर परब्रह्म का प्रकट होना अवतार है।

कार्याधिकारं कुर्वन्तः सदंशास्ते प्रकीर्तिताः जो अवतार भगवान् के द्वारा सौंपे गए सृष्टि-निर्माण आदि कार्य सम्पन्न करते हैं, वे ब्रह्मा आदि सद्-रूप भगवान के **अंशावतार** हैं। इस कार्य में उन्हें सहयोग देने वाले मरीचि, कश्यप, मनु आदि **अशांशावतार** हैं। **येषामन्तर्गतो विष्णुः कार्यं कृत्वा विनिर्गतः। नानावेशावतारांश्च विद्धि राजन् महामते।** भगवान विष्णु जिनके अन्तकरणः में आविष्ट

होकर अभीष्ट कार्य करके पुनः बाहर आ जाते हैं, अपने आवेश को हटा लेते हैं, ऐसे परशुराम आदि अवतारों को **आवेशावतार** कहा जाता है। **धर्मं विज्ञाय कृत्वा यः पुनरन्तरधीयत। युगे-युगे वर्तमानः सोऽवतारः कला हरे-** जो प्रत्येक युग में प्रकट होकर, युग धर्म को पहचान कर, उसकी स्थापना करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं, जैसे कपिल, कूर्म आदि; इन अवतारों को **कला अवतार** कहा जाता है। **चतुर्व्यूहो भवेद् यत्र दृश्यन्ते च रसाः नव। अतः परं च वीर्याणि स तु पूर्णः प्रकथ्यते-** जब भगवान् के चारों व्यूह प्रकट हों, जहाँ पूरे नौ रसों की अभिव्यक्ति होती है और जहाँ बल-पराक्रम की पराकाष्ठा होती है, जैसे- श्रीराम, श्री हरि ये **पूर्ण अवतार** हैं।

जिस अवतार में ऊपर बताए गए सभी अवतारों के विशिष्ट कार्य और लक्षण हों, साथ ही सत्, चित् और आनंद धर्म की चरम अभिव्यक्ति हो, जिनका स्वभाव अपार करुणामय हो, जिनमें भक्तों की अधीनता जैसे गुण हों और जिनमें अन्य अवतारों तथा सभी देवों से श्रेष्ठता हो, ऐसे श्रीकृष्ण अवतार को **परिपूर्णतम अवतार** कहा जाता है।

श्रीकृष्ण अवतार

जब परमकाष्ठापन्न तत्त्व परात्पर परब्रह्म निर्गुण पुरुषोत्तम अपने सर्वधर्म, सर्वशक्ति एवं परिकर सहित मायाशक्ति को साथ लेकर, स्वेच्छा से प्रकट हुए हैं, वह श्रीकृष्ण अवतार है। बहुतों को यह संदेह होता है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, तो इसका उल्लेख तथा लीलाओं का वर्णन वेदों तथा उपनिषदों में क्यों नहीं है? इसका समाधान यह है कि सर्वत्र उनके स्वरूप और लीलाओं का वर्णन है, कहीं उनके प्रकट स्वरूप का वर्णन है, तो कहीं उनके अप्रकट स्वरूप का वर्णन है। जो स्वरूप अव्यक्त है, अप्रकट है, वह "पर" अथवा "ब्रह्म" कहलाता है, परन्तु जब अनेकविध लीला करने के लिए उनका स्वरूप प्रकट होता है, तभी वे "श्रीकृष्ण" कहलाते हैं। अव्यक्त रूप से तो वे सदा-सर्वदा विराजमान रहते हैं, इस रूप में वेद, उपनिषद् और शास्त्रों में इसका वर्णन है। प्रकट रूप में कभी-कभी उनका आविर्भाव होता है, इससे उनका वर्णन श्रीकृष्णोपनिषद्, श्रीवासुदेवोपनिषद् आदि में देखने को मिलता है।

श्रुतियों में ब्रह्मधर्म का जो निरूपण किया है, उन सबका निरूपण श्रीकृष्ण अवतार में, श्रीमद्भागवत महापुराण में, गीता आदि में देखने को मिलता है। श्रुति परब्रह्म को "रसो वै सः" रस स्वरूप, आनंदस्वरूप कहती है, तो श्रीकृष्ण के स्वरूप में भक्तों को उनके शृंगारादि सारे रसों का अनुभव होता है। श्रुति ब्रह्म को "**अनंत ब्रह्म**" भी कहती है। श्रीकृष्ण लीला में श्री यशोदाजी को, अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण के विराट विश्वरूप स्वरूप के दर्शन हुए थे। दामोदर लीला में उसका प्रमाण मिलता है। श्रुति कहती हैं, "**परात्परं पुरुषमीक्षते,**" भगवान पर से पर हैं, इसका समर्थन ब्रह्मा तथा इन्द्र के द्वारा की गई स्तुति में मिलता है, उसी प्रकार पूतना मोक्ष में कृष्ण के अविद्यानाश-सामर्थ्य, तृणावर्त-वध आदि प्रसंगों में उनके साधन-निरपेक्ष-मुक्तिदान-सामर्थ्य, दावानलपान तथा गोवर्धन लीला में ईश्वरत्व, रास लीला में रसरूपत्व, गीता-उपदेश में आचार्यत्व, कंस, शिशुपाल आदि के वध में भू-भार को कम करने वाले ब्रह्म के धर्मों के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

अधिक गहराई में जाने पर ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अवतार नहीं हैं, परन्तु आविर्भाव हैं। उनका अवतार होते हुए भी उनका आविर्भाव है। **श्रीकृष्ण** साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं, इसलिए वे **अवतार नहीं, ''अवतारी'' हैं।** अन्य अवतार उनके अवतार हैं, इसलिए श्रीमद्‌भागवत में ''**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**'' कहा है।

अवतार का हेतु

गीताजी के चौथे अध्याय में प्रभु ने अपने स्वमुख से अपने अंशत्व, आचार्यत्व तथा पूर्णत्व आदि समस्त पक्षों का निरूपण किया है, ''**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥**'' जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब हे भारत! मैं (आचार्य रूप से) प्रकट होता हूँ। इस श्लोक के अनुसार भगवान् स्वयं अनिरुद्ध व्यूहात्मक, धर्म की रक्षा करने के लिए प्रकट हुए हैं। धर्म की रक्षा के लिए प्रभु आचार्य के रूप में अवतरित होते हैं। ''**आचिनोति हि शास्त्राणि स्वाचारे स्थापयत्यपि। आचारयति तं लोके तमाचार्यं प्रचक्षते**''॥ जो शास्त्र का धर्म के साथ समन्वय करे, धर्म का स्वयं आचरण करे और उपदेश द्वारा दूसरों के धर्म का आचरण करावे, उसे ''आचार्य'' कहते हैं।

अंशावतार का मुख्य प्रयोजन दैवी जीवों की रक्षा, असुरों का संहार और धर्मस्थापना है। भगवान् ने कहा है- ''**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥**'' सत्पुरुषों की रक्षा के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए और धर्म की स्थापना के लिए प्रत्येक युग में प्रकट होता हूँ। इस प्रकार बतलाकर इस अवतार के अंशत्व के प्रयोजन की चर्चा भी की है। पूर्ण में अंश का समावेश होता है, परिपूर्ण अवतार में भगवान अंशावतार के कार्य भी करते हैं। श्रीकृष्ण ने अनेक असुरों को मारकर पृथ्वी के भार को कम किया है। अर्जुन, द्रौपदी, ब्रजवासियों, कुंती, उग्रसेन जैसे लोगों का रक्षण-परित्राण भी किया। वे असुर-संहार, शरणागतों का परिपालन जैसी लीलाएँ अंशावतार में करते हैं, यद्यपि ये लीलाएँ श्रीकृष्ण अवतार में भी की हैं, तो भी ये कृष्ण अवतार का मुख्य प्रयोजन नहीं है। जो प्रयोजन, परिणाम और प्रभाव अंश, आवेश कला जैसे अवतारों में न मिलते हों, वे परिपूर्ण पुरुषोत्तम अवतार में देखने को मिलते हैं। जैसा कि-

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो भुवि।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥ (भा. १०.२९.१४)

अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण, सर्वगुणों के कारण रूप भगवान् का प्राकट्य जीव मात्र के कल्याण के लिए हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं। वे ही निःसाधन जीवों का उद्धार कर सकते हैं। वे यदि साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान न करें, तो उनके इस असाधारण प्राकट्य की सार्थकता ही न रहे। ''**असाधारणप्रयोजनाभावात्। भूभारहरणादिकं अन्यथापि भवति।**'' असुर-संहार, धर्म-रक्षा जैसे कार्य तो अन्य प्रकार से भी हो सकते हैं। भगवान श्रीकृष्ण के असाधारण प्राकट्य के पीछे असाधारण प्रयोजन होना चाहिए और वह असाधारण प्रयोजन ''निःसाधनजनों का उद्धार'' ही है।

केवल अपने स्वरूप बल से ही सम्पूर्ण जगत् को स्वयं के स्वरूप का दान करके उनका उद्धार कर देना ही भगवान श्रीकृष्ण का असाधारण अनुग्रह है। जिस प्रकार अग्नि अपने कार्य से अन्य

किसी पदार्थ की अपेक्षा रखे बिना स्वयं के स्वरूप बल से अपने सम्पर्क में आने वाले पदार्थों को अपने समान अग्निमय बिना देती है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने साथ संबंध रखने वाले प्रत्येक जीव को उसके किसी भी साधन की सहज ही परवाह/चिन्ता न करते हुए, उसके साधन की अपेक्षा न रखते हुए, अपने स्वरूप के सामर्थ्य से उस जीव के तिरोहित-आनंद-सा रूप, अन्यथारूप को दूर कर देते हैं और अपने आनंद रूप अलौकिक स्वरूप से उसे आनंदमय बना देते हैं।

सर्वव्यापी केवल आनंदरूप परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं के अप्राकृत आनंदरूप से ही अनेक प्रकार की लीलाएँ करने के लिए अंशांश सहित किसी एक प्रदेश में, किसी एक स्थल पर आवरण हटाकर निजेच्छा से प्रकट हो जाते हैं। भगवान् का यह प्राकट्य पूर्ण अवतार होता है। प्रभु श्रीकृष्ण ऐसे ही पूर्ण अवतार हैं। कृष्ण-अवतार कई कल्पों में होता है, किन्तु उनका पूर्ण आविर्भाव सारस्वत कल्प में होता है। श्रीमद्भागवत में जिस कृष्ण-कथा का वर्णन हुआ है, वह प्रायः सारस्वत कल्प की लीला की कथा है।

पुष्टि भक्तों के लिए तो भगवान की यह प्राकट्य लीला नित्यलीला है। जब-जब प्रभु की कृपा होती है, तब-तब उन्हें इस लीला का अनुभव हो सकता है। उदाहरणार्थ- एक बार जन्माष्टमी के समय श्री गुसाँईजी परमानंददास को लेकर गिरिराज से गोकुल पधारे। आपने श्री नवनीतप्रिय प्रभु को अभ्यंग करवाया। मध्यरात्रि में जन्मकाल के उपरान्त लालन श्री नवनीतप्रियजी को पालने में पधराया। नंदरायजी, यशोदाजी, गोपी, ग्वाल आदि के वेश धारण कर उत्सव मनाया गया। इस समय परमानंददास के मन में ऐसा आनंद उमड़ा कि वे नाचने-गाने लगे। भगवत्प्रेम के इस प्रबल प्रवाह में वे राग का क्रम भी भूल गए। जैसी लीला स्फुरित हुई, वैसी ही वे गाने लगे। प्रेम में राग का क्रम नहीं रहता, लीला का क्रम ही प्रधान हो जाता है। प्रभु की लीला का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर राग का स्मरण किसे रहता है?

पुष्टि प्रभु का आविर्भाव तो व्रज और व्रजभक्तों के भय और आर्ति (वेदना) को दूर करने के लिए होता है। यदि ऐसा न होता तो भगवान् के साक्षात् अवतार का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। श्रीकृष्ण भूमि का भार हरने के लिए ही प्रकट नहीं हुए थे। यदि केवल भू-भार-हरण करना ही उनके अवतार का प्रयोजन होता, तो यह कार्य तो संकर्षण व्यूह से ही हो सकता था। वसुदेव-देवकी को सुख देना ही उनके अवतार का प्रयोजन होता तो यह उद्देश्य प्रद्युम्न अंश से पूरा हो सकता था। केवल धर्मरक्षा ही भगवान् के अवतार का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मरक्षा तो अनिरुद्ध व्यूह से ही हो जाती। वास्तव में समर्पित, प्रपन्न भक्तों के भय-आर्ति का हरण करना ही भगवान श्रीकृष्ण के अवतार का प्रयोजन है।

भगवान् सम हैं। उनमें न तो विषमता है और न पक्षपात ही, लेकिन भक्तों को सुख देने में वे उनका पक्ष लेते हैं, विषमता अंगीकार करते हैं। जिस प्रकार आदि पुरुष भगवान इन्द्र आदि देवों पर कृपा करते हैं और दैत्यों का संहार करते हैं, उसी प्रकार भगवान् भक्तों का पक्ष लेकर उन्हें सुख देने के लिए प्रकट होते हैं। यही भगवान् के प्राकट्य का हेतु है।

भादों के कृष्णपक्ष की अष्टमी को मध्यरात्रि में वसुदेव-देवकी के सम्मुख भगवान् का जो स्वरूप

प्रकट हुआ था, उनके दर्शन और स्वरूप की भावना श्री परमानंददासजी ने नीचे दिए गए पद में सुन्दर रीति से व्यक्त की है-

जन्म धर्यो जन-ताप-निवारन।
चक्र सुदर्शन धर्यो कमल-कर, भक्तन की रक्षा के कारण॥
शंख धर्यो रिपु-उदर-बिदारन, गदा धरी दुष्टन संहारन।
चार्यो भुजा चार आयुध धरे, नारायन भुव-भार उतारन॥
दीनानाथ दयाल जगतगुरु, आरतिहरन भक्त-चिन्तामन।
''परमानंददास'' को ठाकुर, यह ओसर ओसर छांडो जिन॥

प्रकट पुरुषोत्तम श्री हरि जिन-जिन मुख्य लीलाओं को करने के लिए भूतल पर पधारे हैं, उन्होंने उन-उन लीलाओं का संकेत अपने स्वरूप में प्राकट्य काल में ही दे दिया है। भूमि, माता और अन्य भगवदीयों के आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक ताप को, विरहताप को, शान्त करने के लिए प्रभु पधारे हैं। इस बात का संकेत आपश्री के श्रीहस्त में धारण किए गये कमल से ही मिल जाता है। जल शीतलता प्रदान करता है और कमल की उत्पत्ति जल से ही होती है, अतः कमल ताप-हरण का निश्चित संकेत देता है। भगवान् ने भक्तों के रक्षण की जवाबदारी भी ली है- **न मे भक्तः प्रणश्यति।** इस भक्त-रक्षण का प्रत्यक्ष प्रमाण देने वाले सुदर्शन चक्र को आपश्री अपने श्रीहस्त में धारण किए हुए हैं। सुदर्शन चक्र सहज ही भक्तों को दुर्वासा मुनि की दुर्दशा का स्मरण भी करा देता है। जिस प्रकार भगवान् ने भक्त अम्बरीष की रक्षा की थी, सुदर्शन चक्र को मुनि के पीछे छोड़ दिया था, उसी प्रकार सुदर्शन चक्र के माध्यम से भगवान् सभी भक्तों में रक्षा का विश्वास जगाते हैं। विपत्ति चाहे कैसी भी क्यों न हो, यह किसी भी देव, ऋषि, दानव या मानव के द्वारा उपस्थित की गई हो या स्वभाव से सर्जित हो, चक्रधारी का चक्र किसी भी स्थिति में रुकता नहीं है। वह तो अमोघ है। नादब्रह्म का ललित लीलात्मक प्राकट्य वेणुनाद है और उसका वीर एवं रौद्र स्वरूप शंखनाद है। प्रपन्न भक्तों को मारने के लिए जुड़ी हुई प्रपंची आसुरी शक्तियों को हताश करने के लिए तो प्रभु का शंखनाद ही पर्याप्त है- ''**स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।**'' प्रभु ने शक्ति की, सत्ता की, सामर्थ्य की प्रतीक गदा को धारण करके दैत्यों का विनाश ही नहीं किया, अपितु उन्हें उनके आसुरी स्वभाव से और आसुरी स्वरूप से मुक्त भी किया है। मानव जीवन के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थ नारायण, श्री हरिः ही हैं, इस बात का संकेत भगवान् की चार भुजाएँ करती हैं। प्रभु की दो भुजाएँ साधन करने वाले दैवी जीवों को फल प्रदान करने के लिए हैं और दो भुजाएँ निःसाधन जीवों को फल देने के लिए हैं। समर्थ सन्तानों की अपेक्षा भगवान् को अपनी असमर्थ, निःसाधन सन्तान अधिक प्रिय हैं। ऐसे दीनबन्धु, दयानिधि, जगद्गुरु भक्त की समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाले भक्त कल्पतरु श्रीकृष्ण का जब हम भजन/सेवा-स्मरण करते हैं, वही ''**अवसर**'' है, बाकी अन्य समय तो ''**अनवसर**'' ही हैं। जो ''अवसर'' को जीता है, वही वास्तव में जी रहा है, उसी का जीवन सच्चा जीवन है। अतः हम भगवान् के भजन-सेवा-स्मरण रूप ''अवसर'' से युक्त वास्तविक सार्थक जीवन जीवें। ●

स्वाध्याय-७

भगवद्-इच्छा

सर्वासां(भगवतः)शक्तीनां मध्ये इच्छाशक्तिरुत्कृष्टा- भगवान की सर्वशक्तियों में उनकी इच्छाशक्ति उत्कृष्ट है, क्योंकि यह सबका मूल है। दूसरी सभी शक्तियाँ इच्छाशक्ति से साध्य हैं। भगवान की अन्य सभी शक्तियाँ इच्छाशक्ति के अधीन हैं। सब कुछ भगवद्-इच्छा के अधीन है। कहा है कि-

यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया।
एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुख-दुःखयोः॥

जिस प्रकार कठपुतली नचाने वाले सूत्रधार के इशारों पर नाचती है, उसी प्रकार ईश्वर के अधीन रहने वाले सभी प्राणी ईश्वर की इच्छानुसार ही सुखी या दुःखी होते हैं।

कियो गोपाल को सब होय।
जो जाने पुरुषारथ अपनो अतिशय झूठो सोय॥

श्री परमानंददासजी ने गाया है कि भगवान् की मर्जी से ही सब होता है, जो यह समझता है या मानता है कि यह मेरा पुरुषार्थ है, यह पूरी तरह झूठा है। वह बहुत बड़े भ्रम में है। वैष्णव को बदलती परिस्थितियों में समचित्त रहना चाहिए।

दुःख-सुख लाभ-अलाभ सहज गति, ताहि न मरिये रोय।
जो कछु लेख लिख्यो नंदनन्दन, मेट सके नहीं कोय॥

दुःख आता है आवे, दुःख जाता है, जावे। सुख भी आवे या जावे। कभी लाभ तो कभी हानि होती है। यह सब तो संसार की गति है, संसार का सहज क्रम है, इससे प्रभावित नहीं होना चाहिए। भगवान ने अपने लिये जो भाग्य रचना की है, उसे कोई बदल या मिटा नहीं सकता।

उद्यम साधन जंत्र-मंत्र-विधि ये सब डारो धोय।
परमानंददास को ठाकुर, चरणकमल चित पोय॥

सुखी होने के लिए प्रयत्न तथा अनेक प्रकार के साधन जैसे- मंत्र, तंत्र, विधि ये सब व्यर्थ हैं। अन्त में सब कुछ तो भगवान की इच्छानुसार ही होता है। इसलिए उनके चरणारविंद में ही अपने चित्त को लगाये रखना उचित है। उसी में हमारा कल्याण है। विश्व की समस्त घटनाओं में भगवदिच्छा ही कारण रूप है। लोकपाल सहित ये समस्त लोक भगवान की इच्छा के वश में रहकर जाल में बँधे हुए पक्षी के समान चेष्टा कर रहे हैं। सब की जय और पराजय में उनकी इन्द्रिय शक्ति, शरीर शक्ति या मानसिक शक्ति में भी भगवदिच्छा ही कारणभूत है। प्राण, अमरत्व या मृत्यु सबके कारण रूप भी भगवान ही हैं। जिस प्रकार कठपुतली या काठ का खिलौना अपने संचालक के आधीन है, उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा के आधीन है।

पुरुषः प्रकृति व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः।
शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात्॥

पुरुष (चेतन) प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंचभूत, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण ये सब तत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति आदि में भगवान की इच्छाशक्ति, भगवद्-अनुग्रह के बिना समर्थ नहीं होते हैं। जिनको इस सत्य सिद्धान्त का ज्ञान नहीं है, वे मनुष्य अपने असमर्थ शरीर को समर्थ मानकर अहंकार करते हैं। वास्तव में तो भगवान ही निज इच्छा से प्राणियों के द्वारा प्राणियों को उत्पन्न करते हैं और प्राणियों से प्राणियों का नाश करते हैं। जीवन में कीर्ति या अपकीर्ति, जय या पराजय, सुख या दुःख, मृत्यु या जीवन के मूल में ईश्वर की इच्छा ही जानना चाहिए।

भक्त-हित-

भगवान की इच्छा में भक्त का हित समाया हुआ है। जब भगवान भक्त को लौकिक दुःख देते हैं, तो उसमें भक्त के संसार के स्नेह को नाश करने की इच्छा कारण रूप होती है। भक्त के मद को, अहंकार को नष्ट करने के लिए देह-पीड़ा या स्वजनों द्वारा दुःख पहुँचाया जाता है, जब भगवान भक्त को लौकिक दुःसंग से बचाना चाहते हैं, तो वे उसे अपने-स्वजनों से दूर कर देते हैं या स्वजनों से क्लेश करवाते हैं। भक्त की दीनता को सिद्ध करना हो, परिपक्व करना हो, तो उसे दूर विदेश भेज देते हैं।

लौकिक मोह की निवृत्ति कराना हो, तो भगवान उसे साधन की आर्ति देते हैं। वेदना भक्त के संचित (पिछले जन्म में किए हुए) और क्रियमाण (इस जन्म में किए हुए) प्रारब्ध भुगतवाने के लिए अथवा भक्त के धैर्य, विश्वास आदि की परीक्षा लेने के लिए भगवान् फल देने में विलम्ब करते हैं।

लौकिक में अगर दुःख आ जाए तो, उसे भगवदिच्छा जानकर प्रसन्नता से रहना चाहिए। वैष्णव को अपने मन में क्लेश नहीं करना चाहिए। **यथा न गणयेद् रोगी तिक्तभेषजभक्षणम्-** जिस प्रकार रोगी पुनः स्वस्थ होने के लिए कड़वी दवा भी, उसके स्वाद पर ध्यान न देकर, पी जाता है, क्योंकि उसका ध्यान स्वास्थ्य-प्राप्ति की ओर होता है; इसी प्रकार भक्त को लौकिक कष्टों को कड़वी दवा के रूप में सहन कर लेना चाहिए। उसका ध्यान तो परमानंद स्वरूप प्रभु में होना चाहिए। भक्त भगवदिच्छा को समझ नहीं सकता है, इसलिए भगवान से विनती करता है, शिकायत करता है, लेकिन भगवान अपने भक्त का कभी अहित नहीं करते। वे तो सबके मित्र हैं। **समस्तानां सखा स्वीयभक्तानां न कथं भवेत्?** भगवान तो सबके मित्र हैं, जो सबके मित्र हैं, क्या वे अपने भक्त के मित्र नहीं होंगे?

प्रभु भक्त का हित ही करते हैं। जो प्रभु के हैं, उनके सभी कार्य प्रभु अपनी इच्छानुसार करते ही हैं। वैसे तो सारा संसार भगवान की इच्छा के आधीन है। फिर भी समर्पित भक्त का जीवन तो पूरी तरह भगवदिच्छा के ही आधीन होता है। भक्त को जहाँ फल देने में भगवदिच्छा ही प्रतिकूल होती है, वहाँ वही अन्तराय रूप बन जाती है। भगवदिच्छा को अनुकूल बनाने का कोई उपाय भक्त

के पास नहीं है। फिर भी ऐसे प्रसंगों पर भक्त को शान्ति और धैर्य रखना चाहिए। निःसाधनता के इस मार्ग में भक्त के पास दीनता ही एकमात्र साधन है। **दैन्यं हि मार्गेऽस्मिन् परं साधनं मतम्-** दीनता परम साधन है यानी दीन, निःसाधन भक्तों के प्रति भगवान् भी अपनी इच्छा को अनुकूल कर देते हैं।

जब स्वामी की इच्छा अनुकूल हो, तो फिर दास को किस बात की कमी? भगवदिच्छा को जीव तर्क से या स्वबुद्धि से समझ नहीं सकता। साधन कराने में, फल देने में, फल न देने में, फल देरी से या कम-ज्यादा देने आदि विषय केवल भगवान की इच्छा पर ही आधारित होते हैं। अजामिल ने पुत्र के निमित्त से नारायण का नाम लिया था और प्रभु ने इसे ही उसके समस्त पापों का प्रायश्चित्त मान लिया। पूतना अपनी स्तनों पर हलाहल विष लगाकर आई थी। वह महादुष्ट थी, फिर भी प्रभु ने उसे उसी जन्म में मोक्ष दे दिया। उसे माता की गति दे दी। मुचुकुंद राजा पवित्र थे। भगवान के स्वरूप का उन्हें दर्शन और ज्ञान भी हुआ, फिर भी उनका उद्धार दूसरे जन्म में हुआ। ऐसे अनेक प्रमाण यह दर्शाते हैं कि भगवान की कृपा के विषय में भगवदिच्छा ही मुख्य है।

"सेवाफल" ग्रंथ में तो श्री महाप्रभुजी ने यहाँ तक कहा है कि- "**भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबंधः तदा अन्यसेवापि व्यर्था, तदा आसुरोऽयं जीव इति निर्धारः तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावायेति विवेकः**" यदि भगवान को फल देने की इच्छा ही न हो, तो कोई गति नहीं है। भगवत्कृत प्रतिबंध दूर करने का कोई उपाय नहीं है। भगवान की इच्छा के आगे जीव की कृति निरर्थक है। जीव उनकी इच्छा के सामने निरुपाय हो जाता है।

भगवदिच्छा से ही जीव का भक्तिमार्ग में वरण होता है। अगर भगवान की इच्छा प्रतिकूल हो तो भगवान के इस मार्ग में जीव की रुचि ही नहीं होगी। उसके मन में भक्तिमार्ग के प्रति अरुचि रूप बहिर्मुखता आ जाएगी। फिर चाहे वह जीव अन्य देव की सेवा करे तो वह भी व्यर्थ होगी। भगवदिच्छा को सम्मान देना भगवदीय का धर्म है।

अम्मा क्षत्राणी को दो पुत्र थे। वे दोनों ठाकुरजी के सखा अर्जुन और भोज के अवतार थे। इस जन्म में भी वे प्रभु से सखाभाव रखते और उनके साथ खेलते थे। ईंट घिसकर एक-दूसरे को लगाते थे और अन्य अनेक खेल खेलते थे। अचानक बड़े पुत्र की मृत्यु हो गई। अम्मा रोज सेवा से निवृत्त होकर रोने लगती। ठाकुरजी उसे रोकते, किन्तु अम्मा न मानती। कुछ समय पश्चात् अम्मा का छोटा पुत्र भी मर गया। अब तो अम्मा खूब रोने लगी। श्री ठाकुरजी रोकते, समझाते तो भी अम्मा का रोना नहीं रुकता। वह रोया ही करती।

अम्मा के क्लेश का कारण यद्यपि लौकिक नहीं था, वह पुत्र की आसक्ति के कारण रोती थी, ऐसा नहीं था, किन्तु "श्री ठाकुरजी दोऊ बेटान के संग खेलते, ईंट घिसके परस्पर देह सो लगावते, उडावते। सो खेल अनेक प्रकार को अम्मा दर्शन करती, सो खेल को सुख गयो। दोऊ श्री ठाकुरजी के खिलौना बेटा हते। सो अब किन सो खेलेंगे?" मेरे पुत्र प्रभु की बाल-लीला के खिलौने थे, तो अब प्रभु किनके साथ खेलेंगे? भगवान् के इस सुख को विचार करके अम्मा क्लेश करती थी। इसी कारण श्री ठाकुरजी अम्मा पर प्रसन्न होकर उसे रोने से रोकते थे। यदि वह पुत्र-मोह के कारण रोती,

तो प्रभु कुछ बोलते ही नहीं, किन्तु भक्त भगवान के सुख के लिए अति क्लेश करे तो भी प्रभु को अच्छा नहीं लगता। वे उस क्लेश को सहन नहीं कर सकते।

राखो तैसे रहूँ जैसे राखो तैसे रहूँ।
जानत हो सुख-दुःख सब जनके, मुख कर कहाजू कहूँ॥
कबहुँक तुरंग चढ़ूँ महागज, कबहुँक भार वहूँ।
कबहुँक भोजन देहो कृपाकर, कबहुँक भूख सहूँ॥
कमलनयन घनश्याम मनोहर, अनुचर भयो रहूँ।
''सूरदास'' प्रभु भक्त कृपानिधि, तुम्हारे चरण गहूँ॥

भगवान की इच्छा में भक्त को अपनी इच्छा विलीन करना अच्छा लगता है। प्रभु के चाहने से अलग चाहना सहज ही यह बताता है कि शरणभाव में अभी अपूर्णता है। भक्त हमेशा अनाग्रही होता है। उसमें न तो सुख का आग्रह होता है और न दुःख का। वह दुःख और सुख दोनों को ही भगवान की लीला मानता है और उन्हें भगवान का प्रसाद मानकर स्वीकार करता है।

इस भूमिका में एक गहरा रहस्य है। भक्त के जीवन में घटने वाली समस्त घटनाएँ भगवान को ज्ञान न हों ऐसा तो हो ही नहीं सकता। जो कुछ भी हो रहा है, वह सब उनकी इच्छा से, उनकी जानकारी में और उनके द्वारा ही हो रहा है, तो फिर जो कुछ हो रहा है, उसके लिए हमारी स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

भक्त को किसी दिन भरपेट पकवान मिले तो वह भी प्रभु जानते हैं और कभी भक्त भूखा रहे तो वह भी प्रभु जानते हैं। भक्त को धन, मान, प्रशंसा मिले तो वह भी भक्त को स्वीकार और कभी निन्दा हो तो वह भी उसे कबूल है। आज वह हाथी पर सवार होकर निकलता है, तो कल उसे मजूरी भी करनी पड़ सकती है। एक ओर पांडवों के इन्द्रप्रस्थ साम्राज्य का वैभव दूसरी ओर राजा विराट के यहाँ पाँचों भाइयों और द्रौपदी के एक वर्ष के पराधीन जीवन में कैसा विरोधाभास था? एक स्थिति राजकीय वैभव की थी, तो दूसरी दासता की। यही जीवन का विरोधाभास है। भक्त का प्रसन्न हृदय इस विरोधाभास को झेल लेता है। भक्तिपथ में तो जो इसे झेल जाता है, वह जीत जाता है, वह जी जाता है।

भक्त की एक ही प्रार्थना है कि सुख और दुःख के इस द्वंद्व में, विरोधाभास में मेरे दासत्व पर आँच न आवे, कोई प्रभाव न पड़े। सम्पन्नता के शिखर पर पहुँचकर भी मैं न भूलूँ कि प्रभु! मैं आपका दास हूँ। दुःख की गहरी खाई में डूबता जाऊँ तब भी ''दासोऽहं दासोऽहं'' की रटन लगी रहे।

ऐसा भक्त भगवान को बड़ा प्यारा लगता है।

''संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ (गीता)

ऐसे भक्तों का भगवान कभी हाथ नहीं छोड़ते और ऐसे भक्त कभी प्रभु के चरण नहीं छोड़ते।

स्वाध्याय-८

भगवान् का स्वभाव

भक्तवत्सल-

भगवान् स्वयं कहते हैं कि "**अहं स्वभावतो भक्तवत्सलः**"- मैं स्वभाव से ही भक्तवत्सल हूँ। भक्त के मन की अल्प चिन्ता भी भगवान को सहन नहीं होती। इसलिए जब भक्त का कार्य आ जाता है, तब प्रभु स्वयं के आरम्भ किए कार्य को भी छोड़कर भक्त का कार्य पहले करते हैं। अपनों के, स्वकीय भक्तों के सभी काम स्वयं भगवान ही करते हैं। ऐसा भगवान का चरित्र है। ऐसा उनका स्वभाव और व्यवहार है। भगवान सदा भक्त के कल्याण की ही कामना करते हैं और सदा उनका कल्याण ही करते हैं। विचार कीजिए कि जो भगवान अपने भक्त न हों, उनका भी अहित नहीं करते हैं, वे भला अपने भक्त का अहित कभी कैसे करेंगे? भगवान की भक्त-वत्सलता तो इतनी है कि दूसरों पर भी जब भयानक स्थितियाँ आती हैं, तब भगवान ही उनकी रक्षा करते हैं। वे भगवान अपने भक्तों को तो सदा अभय में ही रखते हैं।

अक्लिष्टकर्मा-

अन्य अवतारों की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण के स्वभाव की विशेषता यह है कि वे "अक्लिष्टकर्मा" हैं। जीवों का हित तो वे सदा करते ही हैं, किन्तु वे अपने भक्त का हित तो उसे थोड़ा-सा भी क्लेश दिए बगैर करते हैं। दुष्ट से दुष्ट जीव को निर्दोष बनाने के लिए भी प्रभु उसे कठोर तप जैसा साधन अथवा उग्र दण्ड देने के बजाए अपने स्वरूप-सामर्थ्य से या लीला के माधुर्य से दोषरहित बना देते हैं, किन्तु अंगीकृत जीव को काल अथवा प्रारब्ध के सहारे छोड़ने के बजाय भक्तवत्सल भगवान् स्वयं संभालते हैं।

"भगवान् सर्वेषां स्वकीयानां सर्वमेव कार्यं स्वयं करोति।"

सर्व स्वकीयों के, अपने अंगीकृत भक्तों के सभी कार्य भगवान करते हैं। अतः जीव स्वकीय बने यह महत्त्व की बात है। प्रभु तो सहज कृपालु हैं ही, किन्तु जिनको वे अपना मानते हैं, ऐसे जीव पर तो ये अत्यंत कृपावान होते हैं? वे जीव के संबंध में स्वकीय संबंध को ही देखते हैं, उसे ही महत्त्व देते हैं-

सतामप्यसतां वापि स्वकीयानां कृपानिधिः।
करिष्यति स्वतः सर्वमतश्चिंता न कापि हि॥

उनके भक्त सत्पुरुष हों या असत्पुरुष किन्तु प्रभु का जो हो गया उसके अर्थात् स्वकीयजन के गुण-दोषों को देखे बिना ही उसका सब कुछ कृपानिधि होने के कारण प्रभु स्वयं कर देते हैं। भगवान के ऐसे कृपालु स्वभाव के कारण जीव को कोई चिंता की आवश्यकता ही नहीं होना चाहिए।

भगवान् हरिः हैं-

(१) दुःखहरण- भगवान् श्री हरि हैं। उनका स्वभाव भक्त के दुःख को दूर करने का है, इसीलिए वे हरि हैं। **"यथा गन्धः पृथिव्यां एवैवं भगवतो, भक्त-दुःख-निवर्तकत्वम्"**- अग्नि में जैसे उष्णता का सहज गुण विद्यमान है, जैसे पृथ्वी में गंध उसका सहज गुण है, उसी प्रकार भक्त के दुःख दूर करना भी भगवान का सहज गुण है।

कभी भगवान भक्त की सुख और सम्पत्ति को भी हर लेते हैं। उसमें भी उसका मूल कारण तो उनका करुणामय स्वभाव है। आवश्यक हुआ तो वे भक्त के भोग को भी हर लेते हैं। याने भक्त के लिए दुःख रूप और अनिष्ट रूप जो भोग होते हैं, उन्हें वे हर लेते हैं और जो सुख रूप, कल्याणकारी हों, ऐसे भोग वे भक्त को देते हैं।

भगवान के हरि नाम के अवतार में इस भक्तदुःख हरने के करुणामय स्वभाव का दर्शन होता है। श्री हरि ने गजेन्द्र को मगर के मुख से छुड़ाया और उसे वैकुण्ठ की प्राप्ति कराई। इस प्रसंग में उसका देहभाव (ऐश्वर्य रूप) जो दुःख रूप भोग था, उसे छुड़ाया और वैकुण्ठ जैसा परमानंद रूपी भोग प्रदान किया। यों दोनों ही ढंग से भगवान् का करुणामय स्वभाव प्रकट होता है।

(२) पापहरण - 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः' अग्नि को कोई जानकर स्पर्श करे या अनजाने में स्पर्श करे, किन्तु उसका तो कार्य है जलाना, स्पर्श करने वाले को वह जलाएगी ही। ऐसा ही भगवान् का स्मरण कोई भी जीव कभी भी करे, किसी भी प्रकार से करे, भगवान उसके पापों को हर ही लेते हैं। जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार दोनों एक साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार परमात्मा जहाँ हैं, वहाँ पाप नहीं रह सकता। इस सन्दर्भ में कृष्णलीला में अघासुर वध की कथा मननीय है।

(३) दोषहरण- 'स्वप्रवेशाय कामादि-सर्वदोष-निवारकम्'- भक्त के दोषों को भगवान् स्वयं दूर करते हैं। जब वे भक्त के हृदय में प्रवेश करना चाहते हैं तो भक्त के काम, क्रोधादि सर्व दोष दूर कर देते हैं। ब्रह्म निर्दोष हैं और जो-जो उनके सम्पर्क में आते हैं, उन सबको वे निर्दोष, निर्मल बना देते हैं। जैसे- अग्नि और जल अपने सम्पर्क में आने वाले को निर्दोष बना देते हैं।

(४) संसारहरण- 'स्वभावतोऽपि भगवान् स्वभृत्यानां संसारं दूरी करोति'- अपने सेवकों के संसार को दूर कर देना, यह भगवान् का स्वभाव ही है। पृथ्वी और शेष के संवाद में श्री शेष भगवान् ने श्री हरि को 'संसार-वैरी' कहा है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान प्रभु अपने भक्त को संसार से छुड़ाएँगे। यह उनके स्वभाव में है कि जो संसार हमको भगवान की विस्मृति करा देता है, उस संसार को भगवान कैसे रहने देंगे? भक्तों को भगवान के इस स्वभाव का सदा स्मरण रखना चाहिए। अंगीकृत जीव की भगवान् लोक-वेद के संबंधों में, फल में आसक्ति होने ही नहीं देते।

(५) भगवान् परम कृपालु- 'भगवांश्च गुणानेव गृह्णाति न दोषान्। अतः परमदयालुः।' भगवान गुणों को ही ग्रहण करते हैं, दोषों को नहीं। अन्य देव तो बिना विचार किए ही दान करते हैं। **विचारेण तु दातृत्वं कृष्णस्यैव विशेषतः** विशेष रूप से विचार करके दान करने वाले तो श्रीकृष्ण ही हैं।

बिना विचार किए गए दान देने से दाता का भी नाश होता है, तब फिर जिसे दान दिया उसकी

तो हालत क्या होगी? इसलिए श्रीपति भगवान् ऐसा विचार-शून्य-दान नहीं देते। ब्रह्मा, शिव आदि देव शाप देने में भी समर्थ हैं और अनुग्रह करने में भी **सद्यः शाप-प्रसाददः शिवो ब्रह्मा च-** उसमें भी शिव और ब्रह्मा तो तुरंत ही शाप और वरदान (कृपा) प्रदान कर देते हैं। श्री हरि भगवान अच्युत प्रभु ऐसे नहीं हैं। वे व्यक्ति के स्वरूप और भविष्य में होने वाले कार्य का विचार करके ही शाप अथवा वरदान देते हैं। बिना विचारे वे कुछ भी देते नहीं। यह उनका स्वभाव है।

भगवान् श्रीकृष्ण तो सदा कृपावान ही हैं। उनकी कृपा के स्वरूप को साक्षात् स्पष्टतः नहीं समझ सकें तो भी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि **क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः** हे प्रभु! आपका क्रोध भी हमारा भला करने वाला ही है।

उनकी कृपालुता समझना मुश्किल है। वे देते हैं, उसमें भी उनकी कृपा है। वे नहीं देते तो उसमें भी उनकी कृपा है और देकर ले लेते हैं, उसमें भी उनकी कृपा है। भगवान विलक्षण हैं। अपने अल्पज्ञानी भक्त को माँगने पर भी विविध सम्पत्ति, राज्य या स्त्री-पुत्रादि सुख देते नहीं। धन के मद से विवेकहीन जीवों के अधःपतन को देखकर अपने भक्त की ऐसी दशा न हो, इसलिए वे खूब सावधान रहते हैं।

भौतिक समृद्धि मानव को क्या देती है, यह भगवान जानते हैं। भौतिक सम्पदा मानव को द्वेष, दुःख, उद्वेग, मद, क्लेश और परिश्रम देती है। भक्त को उन दुःखों से दूर रखकर भगवान कृपा करके भक्त के स्थूल सुख के प्रयासों को नष्ट करते हैं। उन्हें सफल होने नहीं देते। यह भगवान की असीम कृपा ही है।

समत्व - विषमत्व-

शास्त्र कहते हैं- ब्रह्म सम है। उसके स्वभाव में समता है।

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा।
आत्मत्वात् सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः॥

श्री हरि सब प्राणियों की आत्मा हैं। उनका कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है। उनका कोई अपना या पराया नहीं है।

भगवान् का समत्व आकाश के जैसा शून्य, निर्विचार समत्व नहीं है। भगवान का समत्व कल्पतरु के समान है। कल्पतरु अपने पास आने वाले को, अपना सेवन करने वाले को बिना किसी प्रकार का भेदभाव किए बगैर फल देता है। उसी प्रकार भगवान् उसे इच्छा कामना के अनुसार फल देते हैं। किसी को अधिक और किसी को कम ऐसी विषमता, भेदभाव नहीं करते।

तथापि भक्तान् भजते यथा, तथा सुरद्रुमोयद्वदुपाश्रितो अर्थदः - भगवान् का कोई मित्र या शत्रु नहीं है। कल्पतरु के भी कोई मित्र और शत्रु नहीं होते। जिस प्रकार आश्रय लेने पर कल्पवृक्ष इच्छानुसार फल देता है, उसी प्रकार भगवान भी भक्त के अनुकूल कार्य करते हैं, इष्टफल प्रदान करते हैं। यही भगवान का भक्त को भजना है। भगवान जीव के भावानुसार मित्र या शत्रु या तटस्थ के समान व्यवहार करते हैं। गीता में भगवान ने कहा है- **''ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्''** जो मुझे जिस भावना से भजता है, उसे मैं भी उसी भाव से भजता हूँ।

चतुर्थ शिक्षा पत्र के अनुसार श्री ठाकुरजी बालक हैं। फिर भी वे रसिकों के शिरोमणि हैं। वे स्वतंत्र हैं, फिर भी भक्तों के वश में हैं। वे स्वयं भयरहित हैं। ऐसा होते हुए भी वे माता आदि से डरते हैं। वैसे तो वे निरपेक्ष हैं, फिर भी भक्तों से अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं। वे चतुर भी हैं और मुग्ध, एकदम भोले भी। आत्माराम होते हुए भी वे रासरमण करते हैं। वे अदीन हैं, फिर भी कभी दीन के समान बोलते हैं, लीला करते हैं। वे बाहर भी विराजमान हैं और भक्त के हृदय में भी। सर्वशक्तिमान होते हुए भी जैसे असमर्थ हों, वे ऐसी लीला करते हैं।

भक्तवत्सल स्वभाव होने के कारण भगवान् निज भक्तों को श्रम हो, यह कभी सहन नहीं कर सकते। कभी अपने भक्त की परीक्षा लेने के लिए, कभी भक्त को निर्दोष बनाने के लिए, कभी भक्त का विश्वास, अनन्यता, दृढ़ता जैसे गुणों का जगत् से परिचय कराने के लिए, प्रभु भक्त को कसौटी पर कसते हैं, किन्तु भगवान् के स्वभाव में भक्तवत्सलता ऐसी है कि कभी-कभी तो भक्त के साधारण परिश्रम को, कष्ट को भी वे स्वयं सहन नहीं कर सकते।

त्रिपुरदास कायस्थ की श्रीनाथजी में बड़ी आस्था थी। वे श्रीनाथजी को कभी पीठ नहीं देते थे। श्रीनाथजी का चरणामृत महाप्रसाद लिए बगैर, जल भी नहीं लेते थे। एक दिन उनकी कसौटी (परीक्षा) हुई, सुबह रसोइए ने कहा कि "आज श्रीनाथजी का चरणामृत और महाप्रसाद नहीं है।"

त्रिपुरदास ने मन में निश्चय किया कि जब तक देह चलेगा, तब तक कामकाज करूँगा, किन्तु चरणामृत, महाप्रसाद लिए बगैर जल भी नहीं लूँगा। भक्तवत्सल प्रभु अपने भक्त का एक दिन का उपवास भी सहन कैसे करते? स्वयं श्रीनाथजी दस वर्ष के बालक का रूप लेकर पधारे। उनके साथ तीन थैलियाँ थीं। एक थैली में श्रीनाथजी का महाप्रसाद, दूसरी थैली में श्रीनाथजी का चरणामृत और तीसरी थैली में आचार्यश्री का चरणामृत था। यह सब लाकर प्रभु रसोइए को दे गए। त्रिपुरदास को यह मालूम हुआ, तब प्रभु की इस अनुग्रह-लीला से उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। "मैं ठाकुरजी को बहुत श्रम करवायो, अब ते काहू बात को हठ न करनो।" इस प्रकार उन्होंने मन में बहुत खेद किया।

त्रिपुरदास अपनी दृष्टि से, भक्ति की दृष्टि से ठीक सोचते हैं। भक्त को ऐसी कोई जिद नहीं करना चाहिए, जिससे प्रभु को परिश्रम हो, किन्तु इस प्रसंग में भगवान् के स्वभाव का भी परिचय मिल जाता है। भक्त ने अपने व्रत के लिए, नियम का पालन करने के लिए ऐसा संकल्प लिया कि भले देह छूट जाए, किन्तु व्रत नहीं छोड़ूँगा। जल भी ग्रहण नहीं करूँगा। तब भगवान् से रहा नहीं गया। वे दौड़कर आ गए। भक्त के सुख को अपना सुख और भक्त के दुःख को अपना दुःख मानना यह प्रभु का सहज गुण है, सहज स्वभाव है। त्रिपुरदास के प्रसंग में तो भक्त के व्रत, हठ का सवाल था, किन्तु श्री सूरदासजी का प्रसंग लें, तो भगवान् की भक्त-वत्सलता का वास्तविक स्वरूप समझ में आएगा।

सूरदासजी के पास एक ब्रजवासी बालक था। वह सूरदासजी की सेवा, टहल करता था। उसका नाम था- गोपाल। एक दिन सूरदासजी महाप्रसाद लेने बैठे। तब गोपाल जल की लोटी रखना भूल गया। महाप्रसाद लेते समय सूरदासजी के गले में कौर अटका। उन्होंने बायाँ हाथ इधर-उधर घूमाकर टटोला पर लोटी नहीं मिली। गले में कौर अटका था, इसलिए बोलते भी नहीं बन रहा था। वे व्याकुल

हो गए। श्रीनाथजी अपने लाड़ले भक्त की यह दशा नहीं देख सके। प्रभु अपनी जल की झारी लेकर स्वयं दौड़े आए और वहाँ पर झारी रख दी। सूरदासजी ने झारी में से जल पीया और स्वस्थ हुए। थोड़ी देर पश्चात् ब्रजवासी गोपाल को सूरदासजी का ध्यान आया और वह दौड़ा-दौड़ा आया। उसने सूरदासजी के पास में सोने की झारी देखी। सारी स्थिति की जानकारी मिलने पर सूरदासजी अपने सेवक पर नाराज हुए कि तुम्हारी लापरवाही से प्रभु को इतना श्रम उठाना पड़ा।

ऐसे अनेकों प्रसंग प्रभु के दयालु स्वभाव का परिचय देते हैं।

प्रभु को देखौ एक सुभाई।
अति गंभीर, उदार, उदधि हरि, जान शिरोमनि, राई॥
तिनका सो अपने जन को गुन, मानत मेरु समान।
सकुचि गनत अपराध-समुद्रहि बूँद तुल्य भगवान्॥
बदन प्रसन्न कमल सनमुख ह्वै, देखत हौं जैसे।
बिमुख भये अकृपा न निमिष हूँ, फिर चितियौ तो तैसे॥
भक्त-विरह-कातर, करुणामय, डोलत पाछे लागे।
''सूरदास'' ऐसे स्वामी कौ, देहि पीठ सो अभागे॥

भक्तों ने भगवान् के स्वभाव में देखा कि वे सागर के समान विशाल और गंभीर हैं। वे उस राजा के समान हैं, जो अपने सेवकों-भक्तों के विषय में पूरा ज्ञान रखता है। उदारता के सागर भगवान भक्त के तिनके के समान छोटे से गुण को भी मेरु पर्वत के समान महान् मानते हैं, किन्तु भक्त के सागर जैसे विशाल दोष को, अपराध को जल-बिन्दु समान छोटा-सा मानते हैं। किंचित् अपराध देखने में भी उन्हें संकोच-सा लगता है।

भगवान् के स्वभाव में ऐसी सतही प्रवृत्ति नहीं है कि कोई पूजा करे तो एकदम प्रसन्न हो जाएँ और सहज अपराध हो जाए तो गुस्सा हो जावें। बार-बार अल्प अपराध से अप्रसन्न हो जाना अल्पजन का ही, संकीर्ण मानस वाले व्यक्ति का ही, स्वभाव हो सकता है। प्रभु तो ऐसे उदार हैं कि कभी भक्त भगवान से विमुख हो जाए तो भी भगवान् उससे नाराज नहीं होते। (प्यासा समुद्र के पास आकर भी पानी से दूर रहे तो उसे ही प्यासा रहना पड़ेगा, किन्तु जलधि उससे क्रोधित नहीं होता या सरोवर को उससे दुःख नहीं होता) भगवान से विमुख हुआ भक्त अगर पुनः भगवान की शरण में आ जाता है, तो भगवान वैसे ही उसे अपना लेते हैं, जैसे पहले अपनाया था। प्रभु ऐसे रहते हैं, जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो। भक्त को ही भगवान का विरह होता हो, ऐसा भी नहीं है, भगवान को भी भक्त के विरह की व्याकुलता सताती है। भक्त जानता नहीं है कि उसके विरह में भगवान भी व्याकुल होकर उसके पीछे-पीछे घूमते रहते हैं। ऐसे प्रेममय परमात्मा से जो विमुख रहे, वह अभागा ही होगा। भक्त कैसा भाग्यवान है कि प्रभु उसके लिए व्याकुल हो जाते हैं। ऐसे हैं परम कृपालु, करुणामय, भक्तवत्सल भगवान्।

स्वाध्याय-९

श्री यमुनाजी

नाम एवं उसका अर्थ-

श्री यमुनाजी के नाम का अर्थ है- **यमयति जीवान्- भगवत्समीपे रमयति-** जो जीव को भगवान् के समीप रमण करावे, भगवान् के निकट ले जाए और भगवान् की अनेकविध लीलाओं का अनुभव करावे, वे श्री यमुनाजी हैं। श्री यमुनाजी का एक सुप्रसिद्ध नाम **कालिंदी** भी है। श्री यमुनाजी कलिंद पर्वत के शिखर से पृथ्वी पर आईं इसलिए उन्हें कालिंदी कहा जाता है, परन्तु उनके कालिन्दी नाम के पीछे उनका करुणामय सामर्थ्य भी छिपा हुआ है। भगवान् की प्रिया कालिन्दी भगवान् के प्रिय भक्तों के कलिरूप प्रतिबंध को, दोष को दूर करने वाली है- **कलेर्दोषस्य खंडनकर्त्रीम्**। श्री कालिन्दीजी तीन प्रकार से कलि के दोषों को दूर करती हैं। स्नेह की अधिकता के कारण कभी भक्तों का भगवान के साथ कलह हो जाए, प्रेमपूर्ण लड़ाई हो जाए या स्वभावश भक्तों का आपस में कलह हो जाए अथवा कलिकाल में जन्मे भक्त को कलि के दोषों का स्पर्श हो जाए तो इन तीनों प्रकार के कलि (दोषों) का नाश श्री यमुनाजी करती हैं- **हरिप्रियाणां कलिं (दोषं) द्यति खंडयति।** इस प्रकार भक्तों के दोषों का नाश करती हैं इसलिए ये कालिन्दी हैं। अहंता-ममता-जनित भवसागर को पार करने के लिए श्री यमुनाजी का नाम नौका रूप है। **कृष्णदास जो कहे श्री यमुना नाम नौका, भक्त भवसिंधु ते यों ही तरिये।** सुदृढ़ नौका द्वारा जैसे सागर पार कर सकते हैं, वैसे ही श्री यमुनाजी का नाम लेते ही, जीव बिना परिश्रम के संसार-समुद्र पार कर सकते हैं। भाग्यवान जीव के मुख में श्री यमुनाजी का मंगलमय नाम बसता है। यह परम दिव्य नाम तो ''निरमोल नग'', अनमोल रत्न है। यह ऐसा रत्न है कि जिसको कोई छीन नहीं सकता। भक्त इस नामरत्न को अपने भक्ति रूपी हार में इस प्रकार जड़ देते हैं कि पदक (पेंडेंट) की तरह सतत हृदय पर रहता है। रूप के साथ-साथ भक्त नाम को भी हृदय में बसा लेते हैं। श्री यमुना नाम में ऐसा माधुर्य, मांगल्य और माहात्म्य है कि भक्त उसे कभी छोड़ते ही नहीं हैं।

स्वरूप

श्री यमुनाजी का आधिभौतिक स्वरूप नदी रूप या जल रूप प्रतीत होता है। भौतिक रूप से यमुनाजी अनेक दूसरी नदियों-सी लगती हैं, लेकिन श्री यमुना वस्तुतः सभी नदियों से भिन्न स्वरूप और महत्त्व रखती हैं। उनका स्वरूप वास्तव में अलौकिक, आधिदैविक है। श्री यमुनाजी का प्राकट्य भी अलौकिक है। सरिता रूप से इनकी यात्रा भी अलौकिक है और उनका तिरोभाव भी अलौकिक है।

श्री यमुना **''सूरसुता''** सूर्य-पुत्री हैं। उनका प्राकट्य आकाश में दिखाई देते भौतिक सूर्यमण्डल में से नहीं, किन्तु उसके आध्यात्मिक स्वरूप वेदत्रयी तथा उनके अन्तर्यामी रूप हिरण्यमय आनंदमय भगवान् नारायण से श्री यमुनाजी का प्राकट्य हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद यह वेदत्रयी ''आदित्य'' है। इस वेदत्रयी का सम्यक् ज्ञान और तद्नुरूप कर्तव्य-बोध ''संज्ञा'' है। इसी आदित्य और संज्ञा से यम (धर्म) और श्री यमुना का प्राकट्य है।

सुदूर आदित्य मण्डल से कलिंदगिरि के शिखर पर गिरने के कारण तेज प्रवाह और उज्ज्वल फेन के कारण श्री यमुनाजी श्याम होते हुए भी उज्ज्वल दिखाई देती हैं। ऊँची-नीची चट्टानों के उतार-चढ़ाव में उनकी गति में एक विलास प्रकट होता है, विषम भूमि पर श्री यमुनाजी की गति अति सुन्दर लगती है।

श्याम संग श्याम ह्वै रही श्री यमुने।
सुरत श्रमबिन्दु ते सिंधु सी बह चली, मानो आतुर अली रही न भवने॥
कोटि काम वारों रूप नैनन निहारों, लाल गिरधरन संग करत रवने।
हरख 'गोविंद' प्रभु निरख उनकी ओर मानो नव दुलहिनी आई गवने॥

जल रूप श्री यमुनाजी का स्वरूप भी श्याम सुन्दर है। उनकी प्रभु के प्रति गति भी ''सघोषगति दंतुरा'', घोष सहित, सस्वर है। अपने प्रियतम से मिलने जाती हुई अभिसारिका जैसे कोई मधुर गीत का गान करती है अथवा उसके नूपुर की झनकार होती हो, ऐसी सस्वर, सुन्दर स्वर के साथ गति करती हैं, जैसे पालकी में बैठकर ये प्रभु से मिलने जा रही हों, ऐसे अद्भुत दर्शन होते हैं श्री यमुनाजी के।

आधिभौतिक जलप्रवाह को जैसे पालकी बनाकर उनका आधिदैविक स्वरूप, दैवी रूप ऐसा लगता है मानो कोई नवदुलहनिया अपने प्रियतम प्रभु से मिलने जा रही हो। वे ऐसा नववधू का भाव प्रकट करती हैं।

द्वादश निकुंज वार्ता में श्री यमुनाजी के प्राकट्य, आगमन और स्वरूप का सुन्दर निरूपण है। तद्नुसार श्री गोवर्धनगिरि रत्न धातुमय है। वहाँ श्री गिरिराज के आसपास द्वादश निकुंज हैं। पर्वत शिखर पर से यमुनाजी का प्रवाह बहता है। यह अत्यन्त सुगंधित जलप्रवाह पर्वत की दाहिनी तरफ से बहता हुआ द्वादश कुंजों से होकर ब्रह्म-सदन होता हुआ सूर्यमण्डल में पहुँचता है। जब श्रीनाथजी को भूतल पर आने की इच्छा हुई, तब उन प्रवाह रूप श्री यमुनाजी ने प्रभु की इच्छा समझ ली कि दैवी जीवों को अंगीकार करने और उनके उद्धार के लिए श्री प्रभु पधारेंगे, इसलिए मैं उनसे पहले पृथ्वी पर अवतरित होकर, जाकर सभी जल, स्थल, वस्तु सामग्री को सिद्ध कर दूँ। पति की इच्छा भूलोक पर पधारने की है यह जानकर सब पहले से लीला के लिए तैयार कर लिया जाए, ऐसा विचार करके वहाँ से श्री ठाकुरजी के प्राकट्य के पूर्व श्री यमुनाजी भूलोक पर पधारीं।

जिस प्रकार ठाकुरजी कहलाने के लिए श्री वसुदेवजी के पुत्र कहलाए, उसी प्रकार श्री यमुनाजी सूर्य और सूर्यपत्नी संज्ञा की पुत्री कहलाईं। सूर्यमण्डल से श्री कलिंद पर्वत के शिखर पर पधारकर श्री यमुनाजी ने पृथ्वी पर गमन किया। फिर ब्रज में पधारकर काल, वस्तु, स्थल आदि को प्रभु की लीला के लिए सिद्ध किया। रासरमण के समय भी श्री यमुनाजी ने सब सामग्री सिद्ध की।

जब ठाकुरजी आधिदैविक रूप में निज धाम पधारे, तब श्री यमुनाजी सप्तसमुद्र से अलग होकर, लोकालोक पर्वत पर चढ़कर, फिर वापिस ब्रह्म-सदन व्यापी वैकुण्ठ पर होकर श्री गिरिराज के उत्तर भाग की ओर होकर तुलसी कुंज में पधारीं। जल का प्रवाह नीचे गिरता है, ऊपर नहीं चढ़ता, किन्तु यमुनाजी का प्रवाह प्रमेयबल से ऊपर चढ़कर फिर श्री प्रभु से जा मिलता है। ऐसा श्री यमुनाजी का अलौकिक बल, सामर्थ्य है। इसलिए जो जीव श्री यमुनाजी का दृढ़ आश्रय करके रहता है, उनका जल-पान करता है, उनमें विश्वास रखता है, उस जीव का भी श्री यमुनाजी निजधाम में श्रीजी से मिलन करवाती हैं।

सप्तद्वीपान् सप्तराशींश्च वारापाराद् भित्वा प्राङ्मुखी पावयन्ती।
यास्येऽस्ताद्रेरुद्गमिद्रिं विहर्तुं खेलन्तीव स्वाश्रिताघापनुत्यै॥

पद्मपुराण के यमुना-माहात्म्य में कहा है कि ''सातों द्वीप और सातों समुद्रों को पार करके पूर्वाभिमुखी होकर बहती, अपने मार्ग में आने वालों को पावन करने वाली अस्ताचल से उदयाचल की दिशा में क्रीड़ा करती हुई यमुनाजी अपने आश्रित जीवों के पापों को नष्ट कर देने वाली है। आधिभौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप से श्री यमुनाजी **भुवन-पावनी** हैं। सम्पर्क में आनेवाले जीवों के पापों का नाश कर देती हैं। सिर्फ तृषा की शान्ति के लिए श्री यमुनाजी का जलपान करने वाले को भी यम-यातना से छुड़ा देने का श्री यमुनाजी को आध्यात्मिक सामर्थ्य मिला है। यह उनकी अद्‌भुत अनुग्रह लीला है कि उनके स्वरूप और सामर्थ्य का ज्ञान न रखने वाले, तृषा मिटाने के लिए यमुना-जल का पान करनेवाले जीव की इस चेष्टा को भी श्री यमुनाजी पापनिवृत्ति का साधन मानकर उसे यम-यातना से छुड़ा देती हैं।

श्रीकृष्णप्रिया-

श्री यमुने पिय को बस तुमजु कीने।
प्रेम के फन्दते घेर राखे निकट, ऐसे निरमोल नग मोल लीने
तुम जो पठावत तहाँ अब धावत तिहारे रसरंग रहत भीने।
'दास परमानंद' पाए अब ब्रजचंद, परम उदार श्री यमुने जुदान दीने

जिसका स्वामी अपनी प्रिया पर अतिशय प्रेम रखता हो और प्रिया के सर्वथा अनुकूल हो, ऐसी प्रिया 'स्वाधीनपतिका' होती है। भगवान के लीला-परिकर में श्री यमुनाजी प्रभु की परम प्रिय स्वाधीनपतिका स्वामिनी हैं, जिसने प्यारे प्रभु को वश में कर रखा है; जैसे उनको प्रेम के पाश में बाँध लिया हो। किसी ने अमूल्य हीरा प्राप्त कर लिया हो और उसे वह जैसे संभालकर रखता है, ऐसे श्री यमुनाजी प्रभु पर अधिकार रखती हैं। वे जहाँ प्रभु को पधराती हैं, प्रभु वहाँ पधारते हैं। वे जिस पर परम-अनुग्रह करके प्रभु का दान करती हैं, उसे ही व्रजचंद्र श्रीकृष्ण प्रभु मिलते हैं।

आधिदैविक स्वरूपात्मक यमुनाजी श्रीकृष्ण व्रजपति की चतुर्थ प्रिया हैं। उनका यह आधिदैविक स्वामिनी रूप भगवान श्रीकृष्ण के अवतार के समय अथवा कभी अपने परमभक्त को दर्शन देने के लिए प्रकट होता है।

ब्रजलीला में श्री यमुनाजी **चतुर्थ प्रिया** हैं। वह इस प्रकार है- (१) मुख्य स्वामिनीजी (श्री राधाजी) (२) श्रुतिरूपा गोपभार्याएँ यानी कि अन्यपूर्वा सखियाँ (३) ऋषिरूपा, अनन्यपूर्वा-कुमारिकाएँ

और (४) श्री यमुनाजी अथवा (१) श्री राधाजी के यूथ की तामस सखियाँ (२) श्री चन्द्रावलीजी के यूथ की राजस सखियाँ (३) श्री कुमारिकाओं के यूथ की सात्त्विक गोपिकाएँ और (४) निर्गुण यूथ की अर्थात् श्री यमुनाजजी के यूथ की गोपिकाएँ। इन चारों यूथों में चतुर्थ यूथ की मुख्य स्वामिनी होने से श्री यमुनाजी प्रभु श्रीकृष्ण की चतुर्थ प्रिया हैं।

श्री यमुनाजी की जल-तरंगें वास्तव में उनकी भुजाएँ हैं,तट पर चमकती बालू वास्तव में यमुनाजी की तरंग रूपी भुजा में धारण किए कंकणों से जड़े हुए मोती हैं।

भक्तों का भगवान के स्वरूप में प्रेम उत्पन्न हो और बढ़े तथा वैसे ही भगवान् का भी भक्तों के प्रति प्रेम प्रकट हो इसलिए श्री यमुनाजी भूतल पर पधारी हैं। भगवान को श्री यमुनाजी तो प्रिय लगती ही हैं, किन्तु श्री यमुनाजी जिन पर अनुग्रह करती हैं, वे भक्त भी भगवान को प्रिय लगते हैं। इसलिए श्री यमुनाजी **मुकुन्दरतिवर्धिनी** कही जाती हैं।

श्री यमुनाजी के अष्टविध ऐश्वर्य या सिद्धियाँ-

भगवताऽष्टविधैश्वर्यं कालिन्द्यै दत्तम्

भक्तों को विविध प्रकार के रसों की अनुभूति कराना यही श्रीकृष्णावतार का रसात्मक प्रयोजन है। भगवान् जब तक अपने माहात्म्य और ऐश्वर्य को प्रकट करते रहते हैं, तब तक रस-निष्पत्ति संभव नहीं होती। जब प्रभु अपने माहात्म्य और ऐश्वर्य दोनों का तिरोभाव कर दें और भक्तों की अधीनता स्वीकार कर लें तभी विविध प्रकार की पुष्टि लीला संभव हो सकती है।

ऐश्वर्य और अधीनता परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। दोनों का साथ रहना संभव नहीं है। इसलिए प्रभु ने अपने ऐश्वर्य और उसके कार्य, प्रभाव आदि श्री यमुनाजी को समर्पित कर दिए हैं।

स्वाधीना पुष्टिरुच्यते- प्रभु ने ऐश्वर्य छोड़ दिया और व्रजभक्तों के आधीन हो गए। इसके फलस्वरूप ही रसात्मक लीलाओं का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान **ईश्वर** हैं तो श्री यमुनाजी **ईश्वरी** हैं। इस प्रकार ईश्वर ने अपना ऐश्वर्य ईश्वरी में स्थापित किया है। इस आधिदैविक अष्टविध ऐश्वर्य को यमुनाष्टक और उसकी टीकाओं में सुन्दर प्रकार से निरूपित किया गया है, जो इस प्रकार है-

(१) श्री यमुनाजी पुष्टिमार्गीय सकल सिद्धि (साक्षात् भगवत्-सेवोपयोगी देह, साक्षात् भगवल्लीला का अवलोकन आदि) की दात्री हैं।

(२) भगवान में भक्त के स्नेह को बढ़ाने वाली हैं।

(३) जीव और भगवान का संबंध बनाने में जो प्रतिबंध/विघ्न आ सकते हैं, उन्हें श्री यमुनाजी दूर करती हैं।

(४) श्री यमुनाजी के और श्री ठाकुरजी के गुणधर्म एक से हैं, इसलिए श्री यमुनाजी अनायास ही भगवत्-संबंध स्थापित करा देती हैं।

(५) भगवान के प्रिय भक्तों के कलिदोषों का निवारण करती हैं।

(६) श्री यमुनाजी की सेवा से, पुष्टि जीव भगवान का उत्कृष्ट स्नेहपात्र वैसे ही बनता है, जैसे ब्रज की गोपियाँ प्रभु की प्रिय बनी थीं।

(७) श्री यमुनाजी के अनुग्रह से भक्त को **तनुनवत्व** अर्थात् सेवापपयोगी नूतनता की देह में प्राप्ति होती है।

(८) भगवान श्री यमुनाजी के जल में अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं, अनेकविध विहार करते हैं। इसलिए यमुनाजी के प्रत्येक जल-बिन्दु में प्रभु के श्रमजल के बिन्दु भी मिले हुए हैं, इसलिए श्री यमुनाजी का स्पर्श साक्षात् भगवान के संस्पर्श के समान है।

कृपापात्र भक्तों को श्री यमुनाजी इन आठों प्रकार के आधिदैविक ऐश्वर्यों का दान अत्यन्त सरलता से कर देती हैं। वे निज भक्तों को जिन सिद्धियों का दान करती हैं, वे इस प्रकार हैं- (१) आवरणरहित साक्षात् भगवान की सेवा करने योग्य देह की प्राप्ति (२) भगवान की विभिन्न लीलाओं के साक्षात् दर्शन होना। (३) प्रभु की लीलाओं में व्यक्त होने वाले रस की अनुभूति करने का सामर्थ्य (४) सर्वत्र भगवद्भाव याने कि सर्वात्मभाव होना (५) भगवत्-आविष्ट देह की प्राप्ति होना। (६) परावृत्त (अंतर्मुखी) चक्षुओं द्वारा भक्त को निज हृदय में प्रकट होने वाली भगवान् की लीलाओं के दर्शन होना। (७) भक्त को भगवान के भावात्मक स्वरूप के दर्शन होना और उस स्वरूप-संबंधी रस, आनंद की अनुभूति होना और (८) विरह-दशा में भक्त को सर्वत्र भगवत्-भाव का तथा निज हृदय में सर्वात्मभाव का अनुभव होना। इन अष्ट सिद्धियों में प्रथम चार सिद्धियाँ संयोगात्मक सिद्धियाँ हैं तथा बाद की चार सिद्धियाँ विप्रयोगात्मक सिद्धियाँ हैं।

श्यामसुन्दर नंदनंदन और श्यामसुन्दरी रविनन्दिनी श्री यमुना, दोनों एक ही तत्त्व हैं। इनमें जो भेद है वह लीला की दृष्टि से हैं। **घनीभूत रसात्मा हि जातो नंदगृहे हरिः -** उपनिषद् जिसे "रस" कहते हैं; उसी रस, आनंद का घनीभूत प्राकट्य नंदगृह में श्रीकृष्ण रूप में हुआ तथा उसी रसत्व का प्राकट्य **द्रवीभूत रसात्मैषा सर्वांगीणश्रमाम्बुभिः** तापात्मक रविमंडल में रहे नारायण के हृदय से श्री यमुनाजी के रूप में हुआ है। इसलिए यह श्री यमुनाजी का स्वरूप द्रवीभूत-रस स्वरूप में प्रकट है।

भगवान श्रीकृष्ण और श्री यमुनाजी दोनों समान रूप में षड्ऐश्वर्य संपन्न हैं। अनंत गुणों से शोभित होना यह इनका **ऐश्वर्य गुण** है। शिव, ब्रह्मा जैसे वीर्यवान देव भी इनकी स्तुति करते हैं, यह इनका **वीर्य गुण** है। दान करनेवाले का जगत् में यशोगान होता है। ध्रुव, पराशर जैसे तपस्वियों को उनके तप का फल श्री यमुनाजी तथा श्री हरि ने दिया है, वह उनका **यश** गुण है। गोप-गोपी मंडल से उनकी शोभा विशेष रूप से देखने को मिलती है। यह इनका **श्री गुण** है। यमुनाजी के सान्निध्य से मथुरा विशुद्ध कहलाई, यह उनका **ज्ञान धर्म** है और कृपा वैराग्यवान ही कर सकता है। श्री यमुनाजी और श्री व्रजराज इतने कृपालु हैं कि उनको अपने से अधिक अपने प्रिय भक्तों पर विशेष अनुराग है, यह असाधारण कृपालुता इनके **वैराग्य गुण** को दर्शाती है।

ऐसी भगवती ऐश्वर्यवती, स्नेह की सरिता, कृपा की सागर, श्री हरि की चतुर्थ प्रिया, द्रवीभूत आनंद, ब्रह्मस्वरूपा महारानी, पटरानी, ठकुरानी श्री यमुना को हम कोटि-कोटि दंण्डवत् करें और धन्य हों।

श्री महाप्रभुजी

प्राकट्य-

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही श्री वल्लभाचार्यजी महाप्रभुजी के रूप में प्रकट हुए, यह बात अनेक प्रकार से सिद्ध हो चुकी है। प्रथम प्रमाण तो श्री महाप्रभुजी के पहले ही पाँचवीं पीढ़ी से मिलता है। श्री महाप्रभुजी के पूर्वज श्री यज्ञनारायण भट्ट को भगवान् ने वरदान दिया था कि आपके वंश में जब सौ सोमयज्ञ पूर्ण होंगे, तब मैं आपके वंश में अवतार लूँगा। श्री यज्ञनारायण भट्ट के यहाँ श्री गंगाधर सोमयाजी का जन्म हुआ। उनके यहाँ गणपति भट्ट, उनके यहाँ बालभट्ट और उनके यहाँ लक्ष्मण भट्ट का जन्म हुआ। परम्परानुसार सभी ने सोमयज्ञ किए। सौ सोमयज्ञ की परम्परा श्री लक्ष्मण भट्ट के द्वारा पूर्ण हुई। तब उनके यहाँ भगवान् श्री वल्लभ रूप में प्रकट हुए।

जब श्री लक्ष्मण भट्ट काशी में थे, तब यवनों के उपद्रव की आशंका से अनेक काशी-निवासियों के समान ये भी काशी छोड़कर स्वदेश जाने के लिए निकल पड़े। साथ में उनकी पत्नी यल्लम्मागारूजी भी थीं, जो कि उस समय गर्भवती थीं। चलते हुए वे चम्पारण्य प्रदेश में चोड़ानगर (चतुर्भद्रपुर) पहुँचे। वहाँ आठवें मास में श्री वल्लभ प्रकटे। नवजात बालक अचेतन लगता था। उसे मृत समझकर माता ने अपना वस्त्र फाड़कर उसमें लपेटकर एक शमी वृक्ष की खोह में, कोटर में रखकर उस पर पत्ते ढँक दिए। थोड़े आगे चलकर सब ने मुकाम किया। वहाँ श्री लक्ष्मण भट्टजी तथा श्री यलम्मागारूजी को स्वप्न में भगवान् ने दर्शन दिए और बताया कि- 'आपके यहाँ मेरा जन्म हुआ है। आप वापिस लौटकर मुझे लेकर आओ।' जब ये वापिस गए तो वहाँ अग्नि मंडल के बीच विराजमान बालक को देखा। उसे लेने जाती हुई माता को अग्नि ने मार्ग दे दिया माता-पिता बालक को पाकर परमानंद का अनुभव करने लगे।

वि. संवत १५३५ में वैशाख बदी एकादशी रविवार रात्रि में ६ घड़ी ४४ पल में श्रीमद् वल्लभाचार्यजी का प्राकट्य हुआ। जैसे- वेद, धर्म, पृथ्वी और भक्त पर अनुग्रह करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ था, उसी प्रकार अनेक जीवों का उद्धार करने के लिए, अनेक उत्तम कार्यों को करने के लिए, साकार ब्रह्मवाद की स्थापना करने, पुष्टिभक्ति का प्रवर्तन करने, सेवामार्ग की परम्परा चलाने के लिए तथा ऐसे ही अनेक उद्देश्यों से श्रीमद् वल्लभ प्रभु प्रकट हुए।

श्री वल्लभ प्रभु का स्वरूप

पृथ्वी के जीवों को श्री महाप्रभुजी के स्वरूप का अनेक प्रकार से अनुभव हुआ है। जिस जीव का जिस प्रकार का अधिकार होता है, उसे उसी प्रकार से अनुभव होता है।

साधारण मनुष्यों को उनके सन्मनुष्याकृति रूप का अनुभव हुआ है। जैसे यादवों के बीच भगवान् मनुष्य बनकर रहे, वैसे ही श्री महाप्रभुजी भी यजुर्वेदीय तैत्तरीय शाखा में भारद्वाज गोत्र में तैलंग ब्राह्मण परिवार में प्रकट हुए। सबको उनके तेजस्वी सुन्दर मनुष्य रूप के दर्शन होते थे। जन्म, बाललीला आदि मनुष्यों के समान अनेक लीलाएँ कीं, फिर भी श्री महाप्रभुजी की दिव्यता का अनुभव अनेकों को हुआ था।

श्री महाप्रभुजी अग्नि स्वरूप भी हैं। श्री सुबोधिनी के मंगलाचरण में (वैश्वानराद्वाक्पतेः) पुरुषोत्तमसहस्रनाम में (ऋषिरग्निर्निरूपितः) श्री सर्वोत्तम स्तोत्र में (वैश्वानरो वल्लभाख्यः) अणुभाष्य में (अतोऽग्निना मया सर्वतः) अग्नि पुराण में (वल्लभोग्निरूपः स्याद्) उनके अग्नि रूप के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

श्री महाप्रभुजी आचार्यस्वरूप हैं। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे- पूर्ण पुरुषोत्तम श्री हरि ने अपने आचार्य अवतारों का उल्लेख श्री गीताजी में किया है। धर्म के अनेकविध स्वरूप हैं, अनेकविध शाखाएँ हैं। जब-जब धर्म के किसी सुविशेष आयाम की संस्थापना करने की आवश्यकता हुई, तब-तब प्रभु ने ''तदात्मानं सृजाम्यहम्'' अपने ही आत्मरूप आचार्यों के रूप में अवतार लिया है। भारतीय वैदिक दर्शन में शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद का सिद्धांत प्रस्तुत करने वाले, अणुभाष्य द्वारा व्यासमत को प्रकट करने वाले, भगवद्-भक्ति मार्ग में पुष्टिमार्ग नाम से सर्वमार्गों से विलक्षण मार्ग को बताने वाले तथा उसी के अनुरूप आचरण करके जगत् को आचार सिखाने वाले ऐसे आचार्योचित अनेक विलक्षण कार्यों से श्रीमद् वल्लभाचार्य का आचार्यत्व सिद्ध होता है।

श्री वल्लभ श्रीस्वामिनी रूप भी हैं। दामोदरदास हरसानी जैसे अंतरंग आप्त भगवदीय के साथ कभी ऐकांतिक लीलात्मक भगवद् वार्ता में आपश्री के स्वामिनी स्वरूप का भी कभी आविर्भाव हुआ है। श्रीमद् भागवतजी में भगवान् के प्राकट्य के समय **प्रादुर्भूतो मम स्वामी** लिखकर महाप्रभुजी भगवान् का 'मेरे स्वामी' शब्द से परिचय करवाते हैं। श्री दामोदरदासजी की वार्ता में 'हँसि हँसि दूध पीवत नाथ' के प्रसंग में श्री ठाकुरजी का स्वामी स्वरूप, श्री महाप्रभुजी का स्वामिनी स्वरूप तथा श्री दामोदरदास का ललिताजी (मध्या) स्वरूप स्पष्ट प्रकट होता है। इसलिए आपश्री को रासस्त्रीभाव से भरपूर स्वरूप वाले कहा गया है।

पुष्टिलीला में प्रत्येक स्वरूप 'रसस्वरूप' है। यह रसात्मक आविर्भाव भी आधिदैविक शृंगार रूप हो तो उसके संयोग-वियोग रूप में दो पक्ष होते हैं। **श्री वल्लभ भगवान् के रसावतार** भी हैं। 'भावतत्त्व' से ये विरह स्वरूप हैं। दोनों पक्षों के बिना, उभयदल के बिना, तत्त्व की परिपूर्णता नहीं है। इसलिए श्रीमद् प्रभुचरण श्री गुसांईजी संयोग स्वरूप हैं। महाप्रभुजी का आधिदैविक अग्निस्वरूप भी तो तापात्मक विरह का ही रूप है।

'तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार'- भक्तों के कष्ट दूर करने के स्वभाव वाले श्री हरि ने ऐश्वर्य, वीर्य आदि छह धर्म सहित धर्मी रूप अपने मुखारविंद को प्रकट किया है। **श्री वल्लभ श्रीकृष्ण के श्रीमुख हैं।** पुष्टि लीला के भक्तों को पुष्टि प्रभु के स्वरूप का ज्ञान करने के लिए श्री हरि के मुख के रूप में प्रकट होना भगवान् का अनुग्रह है। वही श्री वल्लभ अवतार है। भगवान के स्वरूप का ज्ञान,

पुष्टिमार्गीय माहात्म्यपूर्वक भगवान् के स्वरूप का ज्ञान न हो, तो भक्तों के पुष्टिजन्म का तथा पुष्टिमार्गीय पुरुषार्थों का फल सिद्ध नहीं होता। श्री राधा और श्रीकृष्ण के मुखारविंद से प्रकट हुए विप्रयोगाग्नि स्वरूप भी मुखारविंद रूप ही है। अलौकिक आधिदैविक आनंदमय अग्नि परब्रह्म का मुखारविंद रूप है। वे ही श्री वल्लभ हैं।

सच्चिदानंद साक्षात् परब्रह्म भगवान **पुष्टि पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ही श्री वल्लभ रूप** में प्रकटे हैं। इस संदर्भ में अनेक शब्द-प्रमाण तथा भगवदीयों के अनुभव प्रमाण मिलते हैं। सौ सोमयज्ञ के पश्चात् भगवान् स्वयं प्रकट होंगे ऐसा भगवान का वरदान होना, अलौकिक रीति से चम्पारण्य में श्री वल्लभ का प्राकट्य और प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में भक्तों का अनुभव श्री महाप्रभुजी को भगवद् अवतार के रूप में सिद्ध करता है। श्री दामोदरदास संभलवाले के ताम्रपत्र का प्रसंग, हरिवंश पाठक को गणेशजी की आज्ञा, महावन की एक क्षत्राणी का अनुभव, श्री गोपालदास के अनुग्रह से पद्मारावल को साक्षात् रणछोड़जी के रूप में दर्शन देना, बुला मिश्र को साक्षात् भगवान् की आज्ञा जैसे अनेक प्रसंगों में श्री महाप्रभुजी के पूर्णब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। श्री सर्वोत्तमजी में आनंद, विभु, सर्वलक्षण-सम्पन्न, विबुधेश्वर, सर्वशक्तिधृक्, यज्ञभोक्ता और त्रिगुणातीत जैसे नाम भी स्पष्ट रूप से उनके ब्रह्म तत्त्व का संकेत करते हैं।

लीला में महाप्रभुजी श्री ठाकुरजी के रूप में (पुंभाव) श्री स्वामिनीजी के रूप में (स्त्रीभाव) और उभयात्मक रूप के साक्षी रूप में विराजमान हैं। ये भोक्ता रूप में तथा अनुभवकर्त्ता के रूप में इस प्रकार **त्रिविध स्वरूप में विराजमान हैं।** भोक्ता के रूप में ये आनंद रूप, भोग्य के रूप में ये परमानंद रूप और लीला के साक्षी रूप में ये मुखारविंद रूप हैं।

श्री महाप्रभुजी का स्वरूप अलौकिक है। इसलिए वे '**अप्राकृतनिखिलधर्मरूप**' कहे गए हैं। अलौकिक आनंदमय देह इन्द्रियादियुक्त सा इनका रूप भी भगवत्-स्वरूप ही होने से इनके स्वरूप में भी धर्म-धर्मी की अलौकिकता प्रकट होती है।

श्री महाप्रभुजी रसरूप श्रीकृष्ण की अनेक रसमय लीलाओं से और श्रीकृष्ण के प्रति अपार प्रेम के अमृत से भरपूर हैं। यह इनका ऐश्वर्य है। '**वस्तुतः कृष्ण एव**' श्री महाप्रभुजी तो **साक्षात् भगवान** ही हैं। मायावाद के अंधकार को दूर करने वाले सूर्य के समान **वीर्यवान** श्री महाप्रभुजी हैं। ज्ञान याने प्रकाश और उस प्रकाश से, स्ववीर्य से अंधकार नष्ट करें ऐसे श्री महाप्रभुजी अज्ञानियों के अज्ञान को तथा ज्ञानाभिमानियों के ज्ञानमद को दूर करते हैं। अनेक जीवों को आपके 'उग्र प्रताप' का अनुभव हुआ है। **वीर्यवान** ही स्वबल से शरणस्थ का उद्धार कर सकता है।

दिव्य गुणों से सम्पन्न होना यह यश असाधारण पांडित्य, वेद में पारंगत होना, वेदविहित कर्मानुष्ठान में निष्ठावाले होना, इसके उपरांत भक्तिमार्ग के प्रणेता होना, इतना यश तो आपका है ही, किन्तु व्रजपति में परमगति होना यह तो श्री वल्लभ का महान् **यश** है। श्री वल्लभ की तीन **श्री** हैं- सेवा, प्रेम और इन दोनों का उपदेश। ज्ञान से स्वभावतः दोष दूर होते हैं। जिन-जिन भक्तों ने श्री महाप्रभुजी का चरणामृतपान किया है, वे सब निर्दोष हुए हैं और इसके बाद वे भगवदीय बने, भगवान के दास बने। जब जीव को निज स्वरूप का ज्ञान होता है, तब वह प्रभु का दास बनने की इच्छा करता है। इससे श्री महाप्रभुजी का **ज्ञान**

गुण प्रकट हुआ है। श्री महाप्रभुजी वैराग्य स्वरूप हैं। सब में अनासक्ति तथा केवल भगवान और भगवदीयों में आसक्ति यह **वैराग्य** का पुष्टिमार्गीय स्वरूप है।

रतिपथ प्रकट करनकुं प्रकटे करुणानिधि श्री वल्लभ भूतल।
हुलसे सकल दैवी जन के मन, साधन बिन हम पावेंगे फल ॥१॥
माया मत को तिमिर नसायो, पंथ दिखायो वेद वचन-बल।
इह मारग जो द्रढ तिनको हरि मेलत मुख में पत्र-कुसुम-जल ॥२॥
सींचत वचन सुधाकर सेवक मारग रिपु दाहे वचनानल।
सेवा-रस-सागर प्रकट्यो वदन अनलतें अतिशय शीतल ॥३॥
उपजत ताप छिनक सानिध में, देत विरह आनंद रस केवल।
देखो संत विचार चारु चित्त, श्री गोकुलपति है यह निश्चल ॥४॥
दे चरनोदक दोष निवारे सूधे किये काल कलि के खल।
'रसिक' भजन नित श्री वल्लभ पद ते बडभाग सदा मन निर्मल ॥५॥

प्रभु को पाने के लिए तो बहुत से मार्ग हैं, किन्तु सरल, सर्वसुगम, निष्कंटक मार्ग तो प्रेम का ही है। प्रेम-मंदिर की शिखर रूप गोपियों ने जिस रतिपंथ का निर्माण किया और उसे पुनः प्रकट करने के लिए करुणासागर श्री वल्लभ पृथ्वी पर प्रकट हुए।

प्रेम-पथ के पथिक तो थे, किन्तु उन्हें सही रास्ता नहीं मिल रहा था। श्री महाप्रभुजी ने विश्व के वर्तमान के तथा भविष्य के भगवन्मार्ग के पथिकों के लिए यह अद्‌भुत 'रतिपथ', प्रेमपंथ बताकर महान् अनुग्रह किया है।

निःसाधन दैवी जीव, जिनमें शास्त्रोक्त साधन करने की शक्ति नहीं थी अथवा जिनकी ऐसे साधनों में निष्ठा नहीं थी, उनके मन प्रसन्न हो उठे कि हम अब यह सर्वफलों का फल प्राप्त करेंगे कि जो साधन बगैर ही प्राप्त होता है। अर्थात् साधनों से दुर्लभ और निःसाधनता से सुलभ ऐसा भक्ति-सुख उन्हें प्राप्त होगा।

श्री वल्लभ ने प्रकट होकर जगत् को मिथ्या समझकर विमुख हो जाने वाले मत अर्थात् मायावाद के अंधकार को नष्ट किया। इतना ही नहीं, किन्तु वेद से प्रमाणित शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद को प्रकट किया और इतना सुंदर भक्तिपथ प्रकट किया कि भक्ति का दृढ़ आश्रय करने वाला, दृढ़ विश्वासी पत्रं पुष्पं जो कुछ भी भावपूर्वक प्रभु को अर्पण करता है, उसे प्रभु प्रेमपूर्वक आरोगते, ग्रहण करते हैं।

अपने वचनामृत के सिंचन से भक्तों को शीतलता प्रदान करने वाले तथा दुष्टों को अपने ताप से तपाने वाले ऐसा विरुद्धधर्माश्रयत्व रखने वाले श्री वल्लभ प्रभु ने भगवल्लीला ही की है। जिस प्रकार सृष्टि की रचना में, अग्नि में से जल तत्त्व प्रकट हुआ, उसी प्रकार भगवान के वदन रूप अग्नि में से सेवा-रस सागर की उत्पत्ति हुई। ऐसी श्री वल्लभ महाप्रभु की अद्‌भुत लीला है।

आधिदैविक अग्नि रूप श्री महाप्रभुजी तो जो भक्त उनके समीप आता है, उसे श्रीकृष्ण के विरह-ताप का अर्थात् फलरूप महारस का अनुभव कराते हैं।

आप श्री चरणामृत से कलिदोष से दूषित स्वभाव वाले दुष्ट जीवों के स्वभाव में सरलता लाते हैं। अपने वचनामृत से परम शीतलता का अनुभव कराते हैं और स्वरूपामृत से भगवान का संयोग-विरहात्मक सुख का दान करते हैं। क्या यह श्री वल्लभ के पुरुषोत्तम होने का प्रमाण नहीं है? भाग्यवान जीव ही यह तत्त्व समझ पाता है।

दामोदरदास संभलवाला को एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ था। उसमें कई आकृतियाँ थीं और नीचे लिखा हुआ था कि जो इस ताम्रपत्र की सभी आकृतियों का एकीकरण करके सच्चा अर्थ समझा सकेगा, उसकी शरण में जाना। बहुत से ज्ञानी, विद्वानों के पास दामोदरदासजी गए, कोई भी इसके यथार्थ अर्थ को समझ नहीं सका। जब श्री महाप्रभुजी गंगा किनारे कन्नौज पधारे, तब दामोदर दास वह ताम्रपत्र लेकर आए और अर्थ समझाने की विनती की। श्री आचार्यजी ने चित्र का रहस्य मार्मिक रूप से समझाया और दामोदरदास आप श्री की शरण में हो गए, सेवक बने। काशी के एक सारस्वत ब्राह्मण हरिवंश पाठक पहले गणपति जी के भक्त थे, वे अनायास महाप्रभुजी के दर्शन करने आए। दर्शन करते ही उनके मन में हुआ कि 'जो ये ब्राह्मण हैं, हम हूँ ब्राह्मण हैं। ये पंडित हैं सो मेरे कहा काम हैं। मुझे गणेशजी के दर्शन में देरी नहीं करना चाहिए। इस पंडित ब्राह्मण से मुझे क्या लेना देना?' किन्तु गणेशजी की पूजा में जाते ही दरवाजे पर ठोकर लगी और वे मूर्च्छित हो गए। श्री गणपतिजी ने उसी अवस्था में उन हरिवंश पाठक को ज्ञान कराया कि 'तूने महाप्रभुजी का अपराध किया है। श्री आचार्यजी पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। तिन सों अपराध क्षमा कराई मेरे पास आइयो।'

इसी प्रकार श्री महाप्रभुजी के दर्शन करने परमानंददासजी अडेल आए, तब उन्हें यमुना किनारे संध्या-वंदन करते हुए श्री महाप्रभुजी में अति अद्‌भुत अलौकिक साक्षात् श्रीकृष्ण के स्वरूप के दर्शन हुए। इन प्रसंगों से सिद्ध हो जाता है कि भगवदीयों को श्री महाप्रभुजी का पूर्ण पुरुषोत्तम रूप में अनुभव हुआ है।

जिन श्री वल्लभ रूप न जान्यो।
जननी उदर आय कहा कीनो, जनम अकारथ मान्यो॥
सकल वेद-विधि सकल धर्मनिधि करत ज्यों वेद बखान्यो।
कहा भयो जु सकल शास्त्र पढ्यो, नाहक फाट्यो पान्यो॥
अग्निरूप प्रभु सकल सिरोमनि, देत अभय पद दान्यो।
'रसिक' प्रीतम चरण भजत ते, सकल पदारथ जान्यो॥

●

राग कान्हरो

प्रकटे पुष्टि महारस देन।
श्री वल्लभ हरि भाव अति मुखरूप समर्पित लेन॥१॥
नित्य संबंध कराय भाव दे विरह अलौकिक बेन॥
यह प्राकट्य रहत हृदय में तीन लोक भेदन कों जेन॥२॥
रहिये ध्यान सदा इनके पद पातक कोउ लगे न।
रसिक यह निराधार निगम गति साधन और न हे न॥३॥

स्वाध्याय-११

माया

स्वरूप-

सर्वशक्तिमान ब्रह्म की पूर्ण शक्ति का नाम माया अथवा प्रकृति है।

सा वा एतस्य सन्द्रष्टुः शक्ति सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥

सर्वदृष्टा, सम्यक् दृष्टा परमात्मा की कार्यशक्ति को माया कहते हैं। इसी के द्वारा प्रभु ने व्यापक जगत् का सर्जन किया है।

सैषा विष्णोर्महामायाबाध्यया लक्षणा यया। भगवान विष्णु की माया अकल्प है, जानी जा सके ऐसी नहीं है और टाली जा सके, ऐसी भी नहीं है।

काल, कर्म और स्वभाव ये तीनों माया (प्रकृति) के तीन मुख्य अंग हैं। ये तीनों माया की मुख्य शक्तियाँ हैं। इन तीनों से ही जगत् का निर्माण होता है। उसकी स्थिति बनी रहती है और उसी से उसकी समाप्ति होती है। माया भगवान् की शक्ति है। यह दो प्रकार की है- मोहित करने वाली और जगत् रचनेवाली। माया भगवान् का सर्वभवन सामर्थ्य अर्थात् सब कुछ हो सकने, बन सकने का सामर्थ्य है। जगत् की रचना करने में वही करण या साधन रूप है। उसे ही साधन बनाकर भगवान जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हैं।

माया का कार्य-

मोहभ्रम- जैसे सामने दर्पण हो, तो उसमें प्रतिबिंबित होता मुख विपरीत (उलटा) दिखाई देता है। उसी प्रकार जब माया पास होती है, तब आत्मा विमुख और परिच्छिन्न दिखाई देती है। इस प्रकार अन्यथा दिखाई देने का कारण माया ही है।

जिस प्रकार अल्पबुद्धि वाले मनुष्य मृगजल को वास्तविक पानी का स्वरूप समझ लेते हैं, उसी प्रकार अविवेकी जन विकारों के स्वरूप में भासती माया को सत्य वस्तु मान लेते हैं।

जैसे कोई सोता हुआ मनुष्य स्वप्न में दिखाई देने वाले विषयों को सत्य समझ लेता है और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है, उसी प्रकार अनिष्ट विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति होने से भ्रमित मनवाला मानव विवेक के नाश के कारण सच्ची वस्तु को जान नहीं पाता, यही माया है। सृष्टि में कार्य और कारणरूप जो कुछ वस्तु प्रतीत होती है, वह सब माया है। जिसका आधार एक-दूसरे पर हो, जिसका आदि और अंत हो और जो अपने सच्चे स्वरूप में अनुभव में न आवे, वह सब माया का कार्य है।

सैषा भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी भगवान् की माया तो मायावी पुरुषों को भी मोह लेने वाली है। माया के मोह से ग्रस्त जीव अनर्थों, मिथ्या पदार्थों को भोगने की तृष्णा से भगवान की उपासना को छोड़कर संसार में ही रचेपचे रहते हैं। वे सुख की लालसा से ठगे जाकर दुःख देने वाले संबंधों में बँध जाते हैं। यह व्यामोहिका माया भगवान् के चरणारविंद की दासी है। भगवान् ज्ञान-स्वरूप हैं, इसलिए जो भगवान् के सम्मुख हैं, उनके पास तो माया स्वयं लज्जित हो जाती है। भगवान् की माया अन्य लोगों को तो मोह लेती है, किन्तु भक्तों को मोहित नहीं कर सकती है।

गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतंत्रेष्वतन्द्रितः।
कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही॥

माया के मोह की पराकाष्ठा यह है कि संसारी मानव दुःख और कपटमय व्यवहार वाले घरों में रहकर दुःखों के नाश के उपाय करते-करते अंत में इतना भ्रमित हो जाता है कि वह दुःख को ही सुख समझ बैठता है, विपत्ति को ही सम्पत्ति मान लेता है। श्री चतुःश्लोकी भागवत में माया का वर्णन इस प्रकार है-

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चाऽऽत्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥

वास्तविक प्रतीति के बदले, किसी के बदले अन्य ही किसी का अनुभव कराना और जो है उसका अनुभव न कराना, यही माया है। वस्तु की प्रतीति में तथा आत्मा की प्रतीति में माया ऐसा ही कार्य करती है। यह भगवान की मोहिनी माया है। यह जीवों को मोह में डाला ही करती है। यह जीव को मोहित करके उसकी बुद्धि आदि को भ्रम में डाल देती है। वस्तु या आत्मा के स्वरूप में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु माया से जीव की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः यह भ्रम है, यथार्थ नहीं। इसका प्रमाण वेद और शास्त्र हैं। माया से भ्रमित मनुष्य को जो अनुभव होता है, वह प्रमाण नहीं है। प्रमाण तो वेद हैं। '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' वेद कहते हैं कि सब ब्रह्म है। ब्रह्मज्ञानियों का अनुभव भी यही है। भ्रमित दृष्टि को कभी प्रमाण नहीं माना जा सकता।

जगत् भ्रम नहीं, ब्रह्म है। जगत् यदि भ्रम हो तो देशांतर में (अन्य स्थान पर) और कालान्तर में (अन्य समय में) भ्रम न हो तब, कुछ दूसरा ही यथार्थ अनुभव होगा। जैसा कि हल्के अंधकार में रस्सी को भ्रम से साँप मान सकते हैं, पर प्रकाश में किसी को भी रस्सी सर्प नहीं लग सकती। जब रस्सी सर्प के समान दिखती है तो इसमें अंधकार ही कारण रूप है। इस प्रकार किसी वस्तु और उसके स्वरूप में जीव को अन्यथाज्ञान होने में माया कारण रूप है। व्यामोहिका माया हमें उल्टा-पुल्टा अनुभव कराती है। यह अन्यत्र स्थित विषयता को अन्यत्र ले आती है जैसे कि सीप में चाँदी का आभास होता है। चाँदी में चाँदीपना होना और सीप में सीपपना होना वास्तविकता है, किन्तु माया सीप में चाँदी की प्रतीति कराती है। यह उलटा अनुभव कराती है (सीप में चाँदीपना है ही नहीं। चाँदी की विषयता माया के कारण सीप में अनुभव होने लगती है। यह माया के कारण होता है।)

रस्सी में सर्प का आभास या सीप में चाँदी की प्रतीति होती है, इसमें रस्सी, सर्प, सीप अथवा चाँदी का दोष नहीं है। दोष तो हमारी बुद्धि में समाये हुए भ्रम का है। वैसे ही यदि जगत् असत्य

लगता है, मिथ्या लगता है तो उसमें जगत् के स्वरूप का या ब्रह्म के स्वरूप का दोष नहीं है, किन्तु वह दोष माया का है।

कभी-कभी दो चन्द्र होने का भ्रम हो जाता है। इसी प्रकार मरुस्थल में पानी न होने पर भी वहाँ पानी का आभास होता है। वहाँ सिर्फ 'दिखाई' देता है। इतने से दिखने मात्र से कोई बुद्धिशाली मानव दो चन्द्र का अस्तित्व नहीं मान लेता। 'दो चन्द्र' दिखाई देने को वह भ्रम ही मानता है। इसी प्रकार जगत् और जीव के स्वरूप में भी विवेकवान् मानव यथार्थ का ही अनुसरण करता है, भ्रमपूर्ण प्रतीति का नहीं।

अज्ञान और अन्यथाज्ञान -

माया का प्रभाव जीव की बुद्धि पर दो प्रकार से पड़ता है, क्योंकि माया की कार्यशक्ति के दो प्रभाव हैं- **'सा च विषयता द्विधा आच्छादिकैका अन्यथाप्रतीतिहेतुश्चापरा।'** एक आच्छादन (ढँक देना) और दूसरा अन्यथा प्रतीति (वस्तु का जो स्वरूप हो उससे अलग दिखाई देना, अनुभव में आना)।

जैसे प्रकाश की अनुपस्थिति में आँख को अंधकार का अनुभव होता है। अंधकार कोई वस्तु नहीं है, फिर भी आँख को अंधकार दिखाई देता है। यह माया की आच्छादन शक्ति का उदाहरण है और जैसे दर्पण में हमें प्रतिबिंब के रूप में दूसरा रूप भी देखने को मिलता है। हम जानते हैं कि वहाँ अन्य कोई रूप नहीं है। हमारी ही दृष्टि परावर्तित होकर वापिस आती है, फिर भी हमारी दृष्टि हमें दृश्य रूप में दिखाई देती है। यही अन्यथा प्रतीति है।

आँख के स्वस्थ होते हुए भी (अंधकार के कारण) कुछ न दिखाई देना अथवा (अल्प प्रकाश या अन्य कारण से) कुछ के बदले कुछ दिखाई देना यह आच्छादन अथवा आभास का अनुभव है। उसी प्रकार हमारी बुद्धि को भी माया के कारण आच्छादन का भ्रांत अनुभव होता है।

वेद आदि दिव्य शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान से माया के ऐसे आच्छादन और भ्रान्त अनुभव से मुक्ति मिल सकती है। प्रभु के साक्षात्कार के लिए भी माया के प्रभाव को दूर करना अति आवश्यक है। जमीन में गड़े हुए धन को प्राप्त करने के लिए उस भूमि पर लगाए गए वृक्ष को जड़ से उखाड़े बगैर गड़ा हुआ धन निकाल नहीं सकते। उसी प्रकार हृदय में स्थित भगवान् माया रूपी परदे से ढँके हुए रहते हैं। इतना ही नहीं, उस पर अविद्या का आवरण भी है। उनके दर्शन में ये सभी बाधक हैं। जब तक ये सभी आवरण दूर न हों, तब तक भगवान् के दर्शन होना दुर्लभ है।

सामर्थ्य

योगमाया क्षणमात्र में करोड़ों ब्रह्माण्ड रचने की शक्ति रखती है। उसकी शक्ति भगवान् के गुणों से ही है, स्वतंत्र रूप से नहीं होती है। काल, दैव, कर्म के संस्कार रूप स्वभाव, उस स्वभाववाला जीव, शब्द-स्पर्शादि वाले पदार्थ, शरीर, प्राण, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पंच महाभूत इन सबके समुदाय से शरीर बनता है। शरीर से कर्म होते हैं और ये कर्म फिर शरीर का निर्माण करते हैं। इस प्रकार जो प्रवाह चलता है, वह भगवान् की माया के बल से ही चलता है।

अहो! मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिद जगत्। भगवान् की माया का बल इतना प्रबल है, कि

इसने सारे विश्व को आसक्ति के बंधन में बाँध दिया है। उसमें भी जो लोग विषयासक्त होते हैं, उन पर माया का बल पूरी तरह चलता है।

माया से बंधन-

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥

भगवान् की माया तर्क से परे है। जीवात्मा परमेश्वर का अंश है, फिर भी उस आत्मा को माया के कारण अविद्या का बंधन और संसार का दुःख ही मिलता है।

माया के निवारण का उपाय-

विद्या और अविद्या ये दोनों शक्तियाँ माया की दासियाँ हैं। वे माया के वश में रहती हैं। माया भगवान् की शक्ति है। इसलिए जब तक माया को पार न कर सके, तब तक अविद्या शक्ति सक्रिय रहती ही है। विद्या शक्ति अविद्याशक्ति को दबाती रहती है, पूरी तरह उसका नाश नहीं करती, इसलिए ज्ञान से अज्ञान का पूर्णतः नाश नहीं हो पाता।

माया शक्ति भगवान् के वश में है। इसलिए जो जीव भगवान् की शरण में जाते हैं,वे ही माया को पार कर सकते हैं **मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते** (गीता)। प्रभु की दैवी, गुणमयी माया को पार करना बहुत ही कठिन है। विद्या का उदय और अविद्या का नाश माया को जीते बिना नहीं हो सकता। भगवान् की शरण स्वीकारने से ही माया को जीता जा सकता है, इसलिए जीव का कर्तव्य है कि शोक की निवृत्ति करने के लिए, सर्वथा अविद्या को समाप्त करने के लिए, विद्या का सर्वथा उत्कर्ष करने के लिए तथा परमानंद की प्राप्ति के लिए, योग, तप, ज्ञान जैसे साधन करने के बदले केवल एक ही उपाय करना चाहिए कि प्रभु श्रीकृष्ण की अनन्य शरण स्वीकारना। **भगवत्समीपे मायायाः विलयः** भगवान् के पास माया का लय हो जाता है। ब्रह्म के सामने खड़े होते ही माया शरमा जाती है और दूर भाग जाती है। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि परब्रह्म की माया दो प्रकार की है- एक तो भगवान् के साथ दृढ़ संबंध करवाने वाली और दूसरी भगवान् से अलग करके संसार के साथ दृढ़ संबंध करने वाली। जिसको भगवान् अपने स्वरूप के साथ संबंध करवाना चाहते हैं, उसे 'आधिदैविक' स्वरूप-संबंधी माया द्वारा अपनी लीला का अनुभव कराते हैं, जिसके फलस्वरूप भक्त का भगवान् के साथ दृढ़ संबंध हो जाता है, किन्तु जिसको भगवान् अपने स्वरूप से अलग रखना चाहते हैं, उसे 'आध्यात्मिक माया' से मोह कराते हैं। जिस पर आध्यात्मिक माया का प्रभाव छाया रहता है, उसे भगवान के विशुद्ध आनंदमय, अप्राकृत स्वरूप में प्राकृतपने का आभास होता है। वह भगवान् को साधारण मनुष्य और भगवान के स्वरूप, लीला आदि को साधारण मानव के शरीर कर्म जैसे ही मानते हैं। श्रीमद् भागवतजी के मंगलाचरण में कहा गया है कि **यत्र त्रिसर्गो मृषा** याने कि भगवान् के स्वरूप में प्राकृत त्रिसर्ग नहीं है। ज्यादा स्पष्ट करें तो उनके स्वरूप में देह, इन्द्रियाँ और अंतःकरण में किंचित् भी लौकिकता नहीं है। भगवान् से स्नेह कराकर भगवान्-संबंधी सुख देने वाली आधिदैविकी माया को '**योगमाया**', '**वैष्णवीमाया**' **या** '**आत्ममाया**' जैसे नाम भी दिए हैं। माया की जहाँ स्तुति, प्रशंसा आदि है, वह योगमाया की है और जहाँ माया से क्लेश होने का वर्णन है, वहाँ मोहमाया, व्यामोहिका माया का संदर्भ है।

माधौजू मन माया बस कीन्हो।
लाभ-हानि कछु समुझत नाहीं, ज्यों पतंग तन दीन्हौं।।
गृह-दीपक, धन-तेल, तूल-तिय, सुत-ज्वाला अति जोर।
मैं मतिहीन मरम नहीं जान्यो, पर्यो अधिक करि दौर।
बिबस भयो नलिनी के शुक ज्यों, बिन गुन मोहि गह्यो।
मैं अज्ञान कछु नहीं समुझायौ, परि दुःखपुंज सह्यो।।
बहुतक दिवस भये या जग में भ्रमत फिर्यो मतिहीन।
'सूर'श्यामसुंदर जो सेवै, क्यों होवे गति दीन।।

इस पद में माया के व्यामोहक स्वरूप तथा उसके प्रभाव का सुन्दर निरुपण है। माया के त्रास से त्रस्त जीव माधव से फरियाद करता है- 'हे माधव! आपकी माया ने मेरे मन को वश में कर लिया है। ज्योति के सम्मोहन में होश भूल जाने वाला पतिंगा जैसे जल कर मर जाता है, वह अपने लाभ-हानि का विचार भी नहीं कर पाता, वैसे मेरा मन भी सम्मोहन दशा में आ गया है। संसार जलाने वाली अग्नि है। धन, स्वजन और घर ये तीनों जलाते हैं। ऐसा समझते हुए भी जीव निरुपाय है। घर दीपक है, धन तेल है, पति अथवा पत्नी दीये की बत्ती हैं, संतान उसकी ज्वाला है। श्री सूरदासजी ने सुंदर रूपक दिया है। यदि घर सिर्फ परिग्रह के लिए है, धन जुटाने के लिए है, तो वह परिताप करायेगा ही। स्वजनों के प्रति स्वार्थपूर्ण स्नेह होगा, तो वह स्नेह हमें जलायेगा ही, मैं जीवरूपी पतिंगा इस ज्वाला में कूद पड़ा। दूर से सुहानी दिखाई देने वाली दीपशिखा मेरे लिए विनाशकारी है, यह भी न समझ सका। आसपास अर्धदग्ध या अन्य दग्ध पतिंगों को भी नहीं देखा। उनकी कराह भी नहीं सुनी। सम्मोह से स्मृति-विभ्रम होता है और स्मृति में विभ्रम होने से बुद्धि का नाश हो जाता है। मैं मतिहीन हो गया। डोरी से सबको बाँध सकते हैं और चाहें तो उस बंधन को जैसे-तैसे खोल भी सकते हैं, किन्तु आसक्ति के बंधन को बलवान भी नहीं तोड़ सकता। कमल में बन्द भँवरा कमल के प्रति आसक्ति के कारण कमल में छेद करने के बजाय स्वयं उसमें बंद हो जाता है। मैं अज्ञानी इस बात को समझ नहीं सका। अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करके चौरासी लाख योनियों के कितने फेरे लगाए फिर भी आपका भजन नहीं कर सका।

हे माधव! यदि आपकी भक्ति की होती, यदि आपके चरणों की सेवा की होती तो मेरी यह दशा नहीं होती। हरि को भजता है, वह कभी नहीं हारता। समझ में आता है कि आपकी माया से बचने का एक ही उपाय है और वह है आपकी सेवा, आपका भजन।

तैल धारावत् अखंड अविकृत अनवरत स्मरण द्वारा भक्त भगवान को प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु उनको वश में भी कर सकता है। जो भक्त भगवान् का निरंतर स्मरण करता है, भगवान् भी उस भक्त के स्मरण में खो जाते हैं। यही स्मरण की महिमा है। यही माया से मुक्ति का सरलतम और अचूक उपाय है।

स्वाध्याय-१२

ब्रह्मवाद

शुद्धाद्वैत

जगत् और ईश्वर दोनों के बीच शुद्धाद्वैत संबंध माना जाता है। **शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः** शुद्ध और अद्वैत के बीच कर्मधारय समास जानना चाहिए। **अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठी तत्पुरुषं बुधाः। मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः॥** शुद्ध याने जहाँ माया का संबंध नहीं है, वह ब्रह्म कार्य और कारण दोनों रूपों में शुद्ध है, मायिक नहीं है।

अद्वैत याने अभेद। जिस प्रकार सोने और सोने के आभूषण में अभेद है। स्वर्ण ही आभूषणरूप बनता है। जिस प्रकार आभूषण और सोने में भेद नहीं है, उसी प्रकार कार्य और कारण के बीच अभेद है, याने कि जगत् ब्रह्म के बीच इसी प्रकार का अद्वैत है। जैसे- स्वर्ण आभूषण बनता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् रूप बनता है- **स आत्मानं स्वयमकुरुत।**

शुद्ध (माया-संबंध-रहित) ब्रह्म अपनी सर्व-भवन-शक्ति से, सब कुछ बन सकने की शक्ति से जगत् रूप बनता है। उसे इसके लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए शुद्ध ब्रह्म कारण है और उससे कार्य रूप जगत् भी शुद्ध ब्रह्म ही रहता है। शुद्ध सुवर्ण आभूषण से बनता है वह शुद्ध स्वर्ण ही होता है। शुद्ध ब्रह्म (कारण) और शुद्ध जगत् (कार्य) इन दोनों शुद्धों का अभेद ही शुद्धाद्वैत है।

इस शुद्धाद्वैत सिद्धांत का ज्ञान, अज्ञान को दूर करके आत्मा का अनुभव कराता है। आत्मा और परमात्मा के बीच के भेद को दूर करने वाला विज्ञान भगवान्-संबंधी विज्ञान है। शुद्धाद्वैत ज्ञान के ये दोनों पक्ष समझने योग्य हैं। एक विशेष ज्ञान अज्ञान का नाश करता है और दूसरा विशेष ज्ञान आत्मा-परमात्मा के बीच के भेद का नाश करता है। इन दोनों प्रक्रियाओं से देह, इन्द्रियों इत्यादि के अध्यास को दूर करते हैं। यह अध्यास दूर होते ही शुद्धाद्वैत स्फुरायमान होता है। शुद्धाद्वैत में देह से आत्मा का भेद और आत्मा का परमात्मा से अभेद स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं।

शुद्धाद्वैत दो दृष्टियाँ-

(१) कर्मधारय समास- **'शुद्धं च तत् अद्वैतम्'** शुद्ध याने कि माया के संबंध से रहित। परब्रह्म माया के संबंध से रहित है, अतः उस ब्रह्म का अद्वैत शुद्ध ही है। मायावाद मानता है कि जीव और जगत् की प्रतीति मिथ्या है। मिथ्या (जीव-जगत्) का सत्य (ब्रह्म) के साथ अद्वैत संभव नहीं है। यह

केवल अद्वैत इस प्रकार वस्तुतः खंडाद्वैत बन जाता है। शुद्ध अद्वैत शब्द के प्रयोग से ब्रह्म के संदर्भ में माया के प्रभाव को दूर किया जा सकता है।

(२) षष्ठी तत्पुरुष समास- **'शुद्धयोः अद्वैतम्'** ब्रह्म तो मायारहित शुद्ध है ही, किन्तु नाम तथा रूप, जीव और ईश, कार्य और कारण की दृष्टि से भी मायारहित, शुद्ध है। इन दोनों शुद्ध का अद्वैत शुद्धाद्वैत है।

ब्रह्मवाद

श्री महाप्रभुजी ने अपने मत का नाम **'ब्रह्मवाद'** दिया है। इसे **'शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद'** भी कहा जाता है। जगत् के स्वरूप के संबंध में श्री शंकराचार्य का मत है कि जगत माया है। इस कारण उनके वाद का नाम मायावाद हुआ। उसी प्रकार श्री वल्लभ का मत है कि जगत् ब्रह्म है। इसलिए इस सिद्धांत का 'ब्रह्मवाद' यह नामाभिधान योग्य ही है।

प्रपंचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत् जगत् परब्रह्म परमात्मा का सर्जन है। परमात्मा ने उसे अपनी सर्वभवन-सामर्थ्य-शक्ति से बनाया है अथवा यों कहें कि वे स्वयं ही जगत् रूप हुए हैं। इसमें माया का उपयोग है, किन्तु यह माया क्या है? वह तो भगवान का अलौकिक सामर्थ्य ही है। मिट्टी का घड़ा भी जैसे मिट्टी ही है और सोने का आभूषण जैसे सोना ही है। वैसे ही जगत् भी ब्रह्मरूप है। इस मत के कारण **महाप्रभुजी का सिद्धांत ब्रह्मवाद कहलाता है।**

प्रभु निराकार और साकार उभय रूप हैं। फिर भी ब्रह्मवाद का आग्रह उनके साकार रूप के प्रति विशेष है और भक्तिमार्ग में तो साकार ही सुखकारी है। निराकार अव्यक्त ब्रह्म केवल आत्मा को ही (आध्यात्मिक) सुख दे सकता है, जबकि साकार ब्रह्म, व्यक्त प्रकट पुरुषोत्तम तो एकादश इन्द्रिय सहित आत्मा को आनंद का अनुभव करा सकता है। यह अनुभव ज्यादा प्रगाढ़, रसात्मक और सुखरूप बन जाता है।

ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मन्येव सुखप्रमा। संघातस्य विलीनत्वात् भक्तानां तु विशेषतः॥
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि। ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते॥ (त.दी.नि. ५०-५१)

'तत्त्वदीप' निबंध में श्री महाप्रभुजी ने वर्णन किया है कि निराकार ब्रह्म में लीन हुए ज्ञानी को केवल आत्मा द्वारा ही सुख प्राप्त होता है, जबकि साकार ब्रह्म की सेवा करने वाले भक्त को सभी इन्द्रियों, मन के साथ आत्मा इन सबके द्वारा सुख मिलता है। इसलिए मोक्ष स्थिति से प्रभु का भजन करते हुए सेवामय गृहस्थिति, घर में रहना, विशेष महत्त्वपूर्ण है।

श्लोकार्धेन वदिष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगत् कार्यः जीवोंऽश एव नापरः॥

ब्रह्मवाद सिद्धांत के मूल तीन सूत्र हैं- ब्रह्म सत्य है, जगत् (मिथ्या नहीं है किन्तु) ब्रह्म का कार्य है और जीव ब्रह्म का अंश है। जगत् और जगदीश का संबंध कार्य-कारण का संबंध है और जीव-ब्रह्म का संबंध अंश-अंशी का है।

वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भागवत इन चारों के अर्थात् प्रस्थान चतुष्टय के आधार पर श्री महाप्रभुजी ने ब्रह्मवाद सिद्ध किया और उसका प्रवर्तन किया है।

ब्रह्मवाद ब्रह्म को निर्धर्मक नहीं, किन्तु सधर्मक मानता है। जगत् में कोई पदार्थ निधर्मक नहीं है। इसलिए ब्रह्म को निर्धर्मक कहना अनुचित है, अतः उसे मान्यता नहीं दी जा सकती। यदि ब्रह्म निर्धर्मक है, तो फिर उसे जानने, भजने या प्राप्त करने की संभावना ही नहीं रहती। निर्धर्मक ब्रह्म की प्राप्ति से क्या सुख? उसका क्या फल? इतना ही नहीं, उसे निर्धर्मक मानने से सभी शास्त्र निरर्थक और असंगत हो जाएँगे।

'सधर्मक' का तात्पर्य क्या है, इस पर विचार करें। जिस वस्तु में जो गुण होता है, वही उसका धर्म कहा जाता है। जैसे शक्कर का धर्म मिठास, बर्फ का धर्म शीतलता आदि। जहाँ-जहाँ ब्रह्म के लिए निर्गुण शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ निर्गुण का अर्थ निर्धर्मक नहीं होता। निर्गुण का अर्थ है- जिस पर प्रकृति के, सत्त्व, रज और तम गुणों का प्रभाव नहीं है। निर्गुण का अर्थ गुण रहित या गुणहीन करना ठीक नहीं। ब्रह्म में **कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** कर्म का अध्यक्षपन, देवत्व, सर्वव्यापकत्व, सबका अन्तर्यामी होना ऐसे गुण भी ब्रह्म में हैं ही। इसलिए ब्रह्मवादी 'निर्गुण' का अर्थ करते हैं- सत्त्वादि गुणों की सत्ता से परे। इस प्रकार ब्रह्मवाद में ब्रह्म निर्गुण होते हुए भी सधर्मक है।

ब्रह्म में अनेक दैवी गुणों का वास है। उनमें सत्य, दया, पवित्रता, संतोष, सौंदर्य, क्षमा जैसे अनेक गुण हैं। शायद पृथ्वी के रजकणों गणना हो सके, किन्तु भगवान् के गुण, कर्म और नाम की गणना नहीं हो सकती।

ब्रह्मवाद का मत है कि वेदार्थ अलौकिक है। उसे लौकिक युक्ति से नहीं जान सकते, किन्तु तप, वेद के अनुकूल युक्ति और परमात्मा की कृपा से ही जान सकते हैं। वेदादि शास्त्रों में ब्रह्म का जो भी निरूपण करने में आया है, वैसा ही उसका स्वरूप जानना चाहिए। उससे अणुमात्र भी अन्यथा कल्पना करने से दोष होता है।

शास्त्रों की मूल प्रवृत्ति पूर्ण-ज्ञान-क्रिया-विशिष्ट ब्रह्म के स्वरूप को यथार्थ रूप में समझाने की है। अज्ञान और अध्यास की निवृत्ति तो शास्त्रों के अभ्यास से होती ही है, किन्तु भगवान् के स्वरूप का बोध भी शास्त्र ही करवाते हैं। जिन्हें कोई अज्ञान न था, अध्यास न था, ऐसे पूर्ण ज्ञानी, समाधि-सम्पन्न श्री शुकदेवजी निर्गुण ब्रह्म में परिनिष्ठित होते हुए भी उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण भगवान् की लीलाओं से आकर्षित होकर श्रीमद्भागवतजी का अध्ययन करने लगे।

उपाधि के कारण ब्रह्म में सधर्मकपना नहीं है। अनेक विरुद्ध धर्मों के वे आश्रय हो सकें, ऐसे विशाल, महान् और व्यापक हैं भगवान्।

जीव का अस्तित्व मायावाद के मतानुसार बुद्धि उपाधि से परिकल्पित है। ब्रह्मवाद मानता है कि जीव ब्रह्म का अंश है। वह ब्रह्म में से ही छिटककर अलग हुआ है, इसलिए जीव भी सत्य है।

ब्रह्मवाद नाम और रूप को मिथ्या नहीं मानता। **आकाशो वै नाम, नामरूपयोर्निर्वहिता ते**

यदन्तरा तद् ब्रह्म- छांदोग्य उपनिषद् कहता है कि ब्रह्म ही नाम-रूप का कर्त्ता है। जो तेरे में है, वह ब्रह्म है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** इस श्रुति के अनुसार कुछ भी मिथ्या नहीं है। सब ब्रह्म रूप है।

निराकार याने प्राकृत आकार-रहित और साकार याने आनंदाकार। ब्रह्म के सभी धर्म नित्य और स्वाभाविक हैं।

अविकृत, निर्गुण, अद्वैत, सच्चिदानंद ब्रह्म जगत् का कर्त्ता है। ब्रह्मा आदि गुणाधिष्ठाता देव उसी ब्रह्म के अंश हैं। ब्रह्म ने स्वयं ही अपने में से सबका सर्जन किया है। परब्रह्म ब्रह्म का आधिदैविक स्वरूप है। अक्षर ब्रह्म उनका आध्यात्मिक स्वरूप है और जगत् उनका आधिभौतिक रूप है। ब्रह्म के ये तीनों स्वरूप अनन्य और अभिन्न हैं। ज्ञानी को अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है। भक्त प्रेम से, भक्ति से, ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप को पाते हैं। संसार अहंता-ममतात्मक है। जीव ने अविद्या से उसकी कल्पना की है। ज्ञान से अविद्या का नाश होने से संसार का लय हो जाता है, किन्तु जगत् तो फिर भी रहता है। जगत् अविद्याजनित नहीं है, यह तो भगवत्-स्वरूप है। वह भगवान से अभिन्न है। भगवान् जब जगत् का लय करना चाहते हैं, लय करते हैं, तभी जगत् का लय होता है। स्वरूप का अज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास और अन्तःकरुणाध्यास ये पंच पर्व अविद्या के ही हैं।

जगत् के विषय में ब्रह्मवाद अविकृत परिणामवाद मानता है। यह सिद्धांत जगत् का उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म को मानता है, इसलिए यह ब्रह्मवाद कहलाता है। जिस मतवाद में जगत् के उपादान कारण को माया मानते हैं, वह मायावाद कहलाता है।

अविकृत निर्गुण ब्रह्म अपनी आविर्भाव-तिरोभाव नाम की शक्ति से अक्षर, जीव, जगत् आदि सर्वरूपी लीला करता है। **अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्** यही ब्रह्मवाद है, दूसरा सब मोह में डालने के लिए कल्पित रूप है।

जिन श्री वल्लभरूप न जान्यो।
जननी उदर आय कहा कीनो, जनम अकारज मान्यो।।
सकल वेद-विधि सकल धर्म-निधि, करत ज्यों वेद बखान्यो।
कहा भयो जु सकल शास्त्र पढ्यो नाहक फाट्यो पान्यो
अग्निरूप प्रभु सकल सिरोमनि, देत अभय पद दान्यो।
'रसिक' प्रीतम के चरन भजत जे, सकल पदारथ जान्यो।।

श्री महाप्रभुजी के द्वारा विश्व को परम तत्त्व का ज्ञान मिला है। अनेक प्रकार के वेदोक्त, शास्त्रोक्त कर्मों से जिस तत्त्व को जानना या प्राप्त करना संभव नहीं है तथा सब ग्रंथों को पढ़-पढ़कर जिसे जानना या प्राप्त करना संभव नहीं, ऐसे तत्त्व को उन्होंने कृपा करके समझा दिया है। यदि जीव में शरणभावपूर्वक दीनता हो और उनका अनुग्रह हो तो ही श्री वल्लभ का स्वरूप और उनके सिद्धांत समझ में आ सकते हैं।

एक बार श्री महाप्रभुजी थानेश्वर पधारे। वहाँ के सारस्वत ब्राह्मण रामानंद पंडित उनके साथ शास्त्रार्थ करने आए, किन्तु श्री महाप्रभुजी के सामने आते ही उनकी आवाज बंद हो गई। बोले कुछ

और निकले कुछ। इससे उन्हें बहुत लज्जा हुई। अपने घर जाकर वे सरस्वती देवी का पूजन, जप, अनुष्ठान करने बैठे। 'जब सरस्वती प्रसन्न होकर वरदान देंगी, तभी भोजन करूँगा'- ऐसा संकल्प किया। तीसरे दिन श्री सरस्वती देवी प्रसन्न होकर कहने लगीं- 'वरदान माँग।' रामानंद पंडित ने माँगा- 'कोई पंडित मुझे हरा न सके, मैं शास्त्रार्थ में विजयी होऊँ।' सरस्वती देवी ने 'तथास्तु' कहकर वरदान दिया।

रामानंद पंडित फिर श्री महाप्रभुजी के पास शास्त्रार्थ करने आए, किन्तु फिर उनकी वाणी बंद हो गई। रामानंद बहुत शर्मिन्दा हुए। घर आकर फिर से सरस्वती देवी की आराधना की। देवी ने प्रकट होकर कहा- 'तुझे विद्या तो दे दी, अब क्या माँगता है?' रामानंद ने कहा- 'आपने मुझे कैसी विद्या दी कि मैं आचार्यजी के पास शास्त्रार्थ करने गया, किन्तु वहाँ मेरे मुँह से किसी प्रश्न का उत्तर ही नहीं निकल पाया।' सरस्वती देवी बोलीं- 'मैंने तुझे पंडितों से विजय पाने का वरदान दिया था। श्री महाप्रभुजी तो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उन्हें तू कैसे जीत सकता है? अपना भला चाहता हो तो उनकी शरण में जा।'

श्री आचार्यजी अग्नि स्वरूप हैं। अग्नि याने प्रकाश और दाहकता अर्थात् दोष का दहन करना और अहंकार रूपी अंधकार को दूर करना। ये दोनों ही आचार्यश्री के अनुग्रह के लक्षण हैं। इनके ऐसे स्वरूप को जिसने जाना वह कृतार्थ हो गया, उसने सकल पदार्थ जान लिए। जिसने तत्त्व को जाना, उसने सब कुछ जान लिया। अतः ब्रह्मवाद के सिद्धांत समझने के लिए श्री महाप्रभुजी की कृपा आवश्यक है।

'आत्मैव तदिदं' सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं यथा।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामतिः॥
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् ॥ सर्वनिर्णय १८३-८४

भगवान् (आत्मा) ही सर्वरूप हैं। भगवान् ही सब कुछ उत्पन्न करते हैं और भगवान् ही उत्पन्न होते हैं। रक्षा करने वाले भी प्रभु हैं और जिनकी वे रक्षा करते हैं वे भी उन्हीं के रूप हैं। भगवान् ही अपनी आविर्भाव-तिरोभाव शक्ति के द्वारा विश्व की उत्पत्ति-स्थिति और संहार की लीला करते हैं।

श्रेष्ठ जीवों को यह समझना चाहिए कि गीताजी में जो सिद्धान्त कहा गया है कि 'सारा जगत् भगवान् ही है', यही ब्रह्मवाद है। वेदों ने भी इसी ब्रह्मवाद को समझाया है। इस गीता, भागवत तथा वेदों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के विरुद्ध जितने भी मत हैं, वे सभी जीवों को भ्रमित-मोहित करने के लिए कल्पित कर लिये गये हैं।

अतः हम उन अद्भुत कर्म करने वाले भगवान् कृष्ण को नमस्कार करते हैं जो नाम-रूप के भेद से क्रीड़ा कर रहे हैं, जो स्वयं ही जगत् हैं और स्वयं ही जगत् को उत्पन्न करने वाले भी हैं -

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
रूप-नाम-विभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः॥ शास्त्रार्थ प्रकरण १

स्वाध्याय-१३

जीव

सबको आत्मस्वरूप जानना चाहिए। **तदवध्यायी न क्वचित् सुखमेधते** उसका अनादर करने वाला कभी सुख नहीं पा सकता। हम जीव के साधारण स्वरूप को तथा उसके पुष्टिस्वरूप को भी जानें।

जीव का स्वरूप

मायावाद का मत है कि ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीव रूप में प्रतीत होता है, किन्तु ऐसा सोचने से तो जीव मिथ्या रूप ही हो जाता है। वास्तव में तो जीव की उत्पत्ति का कारण भगवद्-इच्छा है। 'मैं अनेक रूप में होऊँ' ऐसी परब्रह्म की क्रीड़ा करने की इच्छा होते ही वे अपने पूर्ण प्रकट आनंद का तिरोभाव करके जीव-स्वरूप ग्रहण करते हैं। इसलिए जैसे ब्रह्म सत्य है, वैसे ही जीव भी सत्य है, आभास नहीं है। 'तत्त्वदीप' निबंध में श्री वल्लभ शुद्धाद्वैत मत इन शब्दों में प्रकट करते हैं- **बहुस्यां, प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती/तदिच्छामात्रततस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः।** एक से अनेक होने की सत्यसंकल्प प्रभु की इच्छा होते ही उस इच्छा मात्र से ब्रह्म से ब्रह्मभूत अंशरूप जीवों का व्युच्चरण हुआ, जीव ब्रह्म में से छिटककर अलग हुए।

महा अग्नि और उसकी चिनगारियों की उपमा देते हुए मुंडक उपनिषद् कहता है कि **यथा सुदीप्तात्पावकात् क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे जीवाः कपूयचरणा रमणीयचरणाः** जैसे अत्यन्त प्रज्ज्वलित हुए अग्नि में से सूक्ष्म चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार आत्मा (परब्रह्म) में से सभी प्राण, सभी लोक, दुराचारी तथा सदाचारी ऐसे (आसुरी और दैवी) सभी जीवों का व्युच्चरण होता है।

परब्रह्म सत्, चित् और आनंद धर्मवाला है। उसके तीन धर्मों में से तीन तत्त्वों का व्युच्चरण हुआ। ब्रह्म के सद् अंश से जड़ पदार्थ (लोक) निकले। ब्रह्म के चिद् अंश से असंख्य जीव निकले और उसके आनंद अंश में से अन्तर्यामी निकले। जीव का स्वरूप चित् प्रधान है। चैतन्य यह जीव का स्वरूप और धर्म है। चैतन्य धर्म और जीव धर्मी है।

अंशो नानाव्यपदेशात् इस सूत्र के अनुसार जीव भगवान् का अंश है। ऐसा अनेकानेक प्रकार से कहा जाता है। इसलिए उसे अंश मानना उचित है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः यह प्रसिद्ध गीता-वाक्य तो निःसंदेह रूप से जीव को भगवान् के अंश रूप में स्वीकारता है। जैसे दही दूध का विकृत रूप है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का विकृत परिणाम नहीं है, किन्तु जैसे चिनगारी अग्नि का अंश रूप होने से अग्नि ही है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ने जीव का स्वरूप इस प्रकार समझाया है-

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पादहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥

जीव संकल्प और अहंकार से युक्त है। वह सूर्य के जैसा प्रकाशवाला है। अंगुष्ठ जितना है और अपने गुण से आराग्रमात्र है। ज्ञान चक्षुवाले पुरुषों ने जीव को देव से अलग भी देखा है।

श्रुति में जीव के स्वरूप (आकार) के लिए आराग्र मात्र याने धान/शालि की नोंक जितना याने अणु रूप सूक्ष्म है, ऐसा वर्णन किया है और **बालाग्र-शतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानंत्याय कल्पते।** बाल के १००वें भाग का भी १००वें भाग जैसा अति सूक्ष्म जीव है। जीव का स्वरूप जानने योग्य है और वह अनन्तपन के लिए समर्थ होता है।

जीव अणुरूप होते हुए भी, हृदयस्थ होते हुए भी, उसका प्रकाश उसका चैतन्य (जैसे सुगंध फैलती है उसी तरह) सारे शरीर में फैलता है। **व्यतिरेको गन्धवत्** पुष्प एक जगह रखा रहता है, किन्तु उसकी सुगंध तो आसपास फैलती है। इसी तरह जीव का प्रकाश या चैतन्य भी सारे शरीर में फैल जाता है। जीव का स्वरूप अणु है, किन्तु वह सर्वव्यापी नहीं है। वह बुद्धि से शरीर का आरोहण करके रहता है। उसका शरीर में प्रवेश करने का कारण भी बुद्धि ही है। कर्तापन भी बुद्धि में ही है। फिर भी आत्मा भ्रम से स्वयं को कर्ता मानता है। जैसे- गोल-गोल घूमने पर पृथ्वी भी घूमती हुई लगती है, उसी प्रकार चित्त के कर्त्ता होने से मनुष्य को अहं बुद्धि होती है। वह चित्त को आत्मा रूप मानता है और उससे आत्मा अपने को कर्ता मान लेती है।

बहुत्व

जीव एक नहीं है। उसका बहुत्व है। जीव असंख्य हैं। जीव का तथा अन्तर्यामी का बहुत्व है। हंसरूपी जीव और अन्तर्यामी परमात्मा ये दोनों एकसाथ हृदय में प्रवेश करते हैं। एक-एक जीव के साथ एक-एक अन्तर्यामी है। ये दोनों हृदयगृह में बसते हैं। जीव अनेक हैं। किसी को सुख, किसी को दुःख, किसी को बंधन, तो किसी को मुक्ति- इस प्रकार भेद स्पष्ट देखने को मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जीव अनेक हैं। जब एक जीवात्मा को मुक्ति मिलती है, तो सभी जीवात्माओं को मुक्ति नहीं मिलती।

तिरोहितानंद

जीव में भगवान् का सत् और चिद् अंश तो प्रकट है, किन्तु आनंद का तिरोभाव है। जीव प्रकट आनंद वाला नहीं है। यदि प्रकट आनंद होता तो उसे दुःख होने की संभावना ही नहीं रहती, किन्तु जीव को दुःख होने का कारण आनंद का तिरोभाव ही है। **पराभिध्यानात्तु तिरोहितं, ततो ह्यस्य बंधविपर्ययौ।** जीव का आनंदांश तिरोहित हो जाने से उसी समय भगवदिच्छा से जीव के ऐश्वर्य आदि छह धर्म भी गुप्त हो जाते हैं। परब्रह्म का अभिध्यान (इच्छा) मात्र से ही जीव के स्वरूप में भगवद् धर्मों का तिरोभाव हो जाता है और परिणाम......?

जीव के ऐश्वर्य धर्म के तिरोहित होते ही उसमें दीनता, पराधीनता आ जाती है। वीर्यधर्म का तिरोधान होते ही उसे अनेक दुःख भुगतने पड़ते हैं। यश का तिरोधान होते ही वह सर्वथा हीन बन

गया। श्रीधर्म तिरोहित होते ही उस पर जन्म आदि विपत्तियाँ आ जाती हैं। ज्ञान का तिरोधान होते ही देह, प्राण, अन्तःकरण में आत्मबुद्धि का आरोप हुआ। अनात्म में आत्मबुद्धि और आत्मा में अनात्म बुद्धि हो गई। ज्ञान का अभाव होते ही सब विपरीत ज्ञान हो गया. उसके वैराग्य का तिरोभाव होते ही विषयासक्ति प्राप्त हो गई। इस प्रकार ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य के तिरोधान से संसार का बंधन, 'बंध' हुआ और ज्ञान तथा वैराग्य के तिरोधान से जीव को 'विपर्यय' प्राप्त हुआ, विपरीतपना प्राप्त हुआ। ज्ञान, भक्ति जैसे साधन से यदि उपर्युक्त धर्म पुनः प्रकट हो जावें तो जीव ब्रह्मभाव अथवा सायुज्य को प्राप्त करते हैं और ऐसा होते ही उसमें भगवद्-धर्म प्रकट होते हैं। जीव में भगवद्-आवेश होने पर व्यापकत्व प्रकट होता है। बद्ध दशा में वह व्यापक नहीं, अपितु अणु है। भगवद्-धर्म के आवेश से जीव में व्यापकता आदि जो धर्म देखने में आते हैं, वह भगवद्-आवेश का परिणाम है, यह भूलना नहीं चाहिए। लोहे के गोले में जिस प्रकार तपाये जाने पर अग्नि का प्रवेश होता है, तब उसमें अग्नि के प्रकाश, दाहकता, जैसे गुण अनुभव में आते हैं। ये दाहकता प्रकाश आदि गुण अग्नि के हैं, लोहे के नहीं। ऐसे ही व्यापकता आदि गुण जीव के नहीं, किन्तु भगवान के हैं।

क्या जीव के स्वरूप का अनुभव कर सकते हैं? जीव का धर्म 'चैतन्य' है, जो कि प्रकाशक है। इस प्रकाशक गुण के कारण ही जीव ज्योतिस्वरूप कहलाता है, किन्तु हमारी इन्द्रियाँ जीव के स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकतीं। **योगेन भगवद्-दृष्टया दिव्यया वा प्रकाशते** उसे योग दृष्टि से देख सकते हैं। जिस दृष्टि से भगवान् को देख सकें, उस दृष्टि से देख सकते हैं या फिर दिव्य ज्ञानदृष्टि से देख सकते हैं। भगवान् के स्वरूप का दर्शन जिस प्रकार प्राकृत इन्द्रियों से नहीं हो सकता, उसी प्रकार भगवदंश होने से जीव के स्वरूप का दर्शन भी प्राकृत इन्द्रियों से नहीं हो सकता। लौकिक इन्द्रियाँ सद्-अंश हैं। सदंश से सदंश का ही ग्रहण हो सकता है। जड़ से जड़ का ही ज्ञान संभव है। चूँकि जीव चिद्-अंश है, इसलिए सदंश रूप नेत्रों से चिदंश रूपी जीव को ग्रहण नहीं किया जा सकता। साथ ही इन्द्रियाँ बाहर गमन करने वाली होने से बाहर के विषय को जान सकती हैं, किन्तु वे अन्तरात्मा को जान नहीं सकतीं। फिर भी यदि आँखें आनंदांश, आनंदरूप हो जावें तो जीव के स्वरूप को ग्रहण कर सकती हैं। भगवान् की इच्छा जब दर्शन देने की होती है तो दृष्टि में आनंदांश प्रकट होता है। अथवा भक्ति करने से दृष्टि में आनंदांश प्रकट होता है और तब दिव्य दृष्टि से भगवान के या जीव के स्वरूप के दर्शन कर सकते हैं। अर्जुन को भगवान् ने दिव्य चक्षु दिए, जिनसे उसे भगवान् के दिव्य स्वरूपों के दर्शन हुए थे।

जीव भेद

श्रीमद्भगवद्गीता में देव और असुर ऐसे दो प्रकार के जीवों का उल्लेख है। आसुरी जीव प्रवाही जीव भी कहलाते हैं, जबकि दैवी जीवों के मर्यादा जीव तथा पुष्टि जीव ये दो भेद हैं।

१. प्रवाही जीव- ये जीव हमेशा बद्ध दशा में ही रहते हैं। इनकी संसार के प्रति आसक्ति कभी जाती ही नहीं। स्थूल भोगों में ही इनकी आसक्ति होती है। संसार के आदि से अन्त तक ये जीव जन्म-मरण के प्रवाह में ही बहते रहते हैं। क्रम-अनुसार वे उच्च-नीच गति पाते हैं। इनकी मुक्ति की संभावना नहीं है। ये जीव भगवान् के मन से उत्पन्न होते हैं।

२. मर्यादा जीव- मर्यादा का परम फल मोक्ष है। मर्यादा जीव-सृष्टि को भगवान् ने अपनी वाणी के द्वारा उत्पन्न किया है, इसलिए इन जीवों के मार्ग को वेदमार्ग भी कहते हैं। भगवदिच्छा से उनको स्वभावतः वेदप्रणीत मार्ग में वैदिक साधन में और फल में रुचि होती है।

३. पुष्टि जीव- 'पुष्टि कायेन निश्चयः' पुष्टि सृष्टि को प्रभु ने अपने आनंदमात्र रसात्मक स्वरूप से, निज काया से रचा है। पुष्टिजीव भगवान के स्वरूप को ही अपना अवलम्बन और फल मानते हैं। ये जीव भगवान् की सेवा, भक्ति करने के लिए ही पैदा हुए हैं, अवतरित हुए हैं।

सबको आत्मतत्त्व सबसे ज्यादा प्रिय होता है। **तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्** प्रत्येक प्राणी की प्रियतम वस्तु आत्मा ही है। उसके लिए ही सारा संसार कर्म में जुटा है। पुष्टि जीव में भी चार भेद हैं- शुद्ध पुष्टि, पुष्टि पुष्टि, पुष्टि मर्यादा और पुष्टि प्रवाह। यहाँ इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि जीवों का यह स्वरूप-भेद नहीं है, अवस्था भेद है। भगवान के अनुग्रह के अनुसार पुष्टि जीव की भक्ति भी अलग-अलग रूप से विकसित होती है। भक्ति के प्रकार और अवस्था के भेद के कारण पुष्टि जीवों के चार भेदों का वर्णन किया जाता है-

१. शुद्ध पुष्टि जीव- सारस्वतकल्प के श्री कृष्णावतार में महारास प्रसंग को ध्यान में लें तो शुद्ध पुष्टि तत्त्व समझ में आ जाएगा। प्रमाणों में शिरोमणि श्रीमद् भागवतजी के हृदयरूप दशमस्कंध में पंचप्राण के समान महारास प्रसंग में भक्तों की शुद्ध पुष्टि अवस्था और प्रभु की शुद्ध-पुष्टि-लीला के निरूपण के कारण (रासलीलैकतात्पर्यः) रासलीला को ही तात्पर्य माना जाता है।

महारास प्रसंग तामसफल प्रकरण में है। अनन्य, उत्कट और सहज स्वरूप-संबंधी स्नेह को तामस भाव कहा जाता है। इसमें भी फल क्या है? साक्षात् रसब्रह्म जब शुद्ध करके और अनुग्रह करके भक्तों के लिए फलरूप हो जाते हैं, तब वे रसरूप, रसस्वरूप हैं और वह लीला शुद्ध पुष्टिरूप है। शुद्ध पुष्टि में भगवान् का स्वरूप 'निगूढ भावात्मक' होता है। यह स्वरूप भक्तों में स्नेह रूप से प्रवेश कर (सर्वत्र भाववत् हृदयदेशेषु तदेवास्यं प्रविष्टमस्ति) आसक्ति और व्यसन अवस्था पाकर शुद्ध दृढ़ स्वरूपाश्रित भाव रूप में विराजमान होता है। जब भक्तों के हृदय में भगवान् शुद्ध भावात्मक उत्तरदलात्मक विप्रयोगाग्नि के रूप में प्रवेश करते हैं और भक्त के स्वरूप को भी अग्निवत् अपने समान बनाते हैं, तब वे भक्त शुद्ध पुष्टि का अनुभव करते हैं। जैसे आग लोहे के गोले को अग्नि के समान, अपने ही समान बना देती है, वैसे ही भगवान शुद्ध पुष्टि भक्त को अपने समान शुद्ध पुष्टि का अनुभव कराते हैं।

२. पुष्टि पुष्टि- पुष्टि-पुष्टि भाव या पुष्टि-पुष्ट अवस्था शुद्ध पुष्टि अवस्था के लिए साधनरूपा है। यदि शुद्ध पुष्टि-पुष्टि-भावना अनुभवरूप है तो पुष्टि-पुष्टि-भाव भक्ति रूप है। पुष्टि-पुष्टि जीव फलरूप मानसी सेवा का अधिकारी होता है। स्थूल लोकवेदात्मक क्रिया (प्रवाह) और वेदशास्त्र का ज्ञान (मर्यादा) का इसमें अभाव होता है। क्या और कैसे करने से प्रभु को सुख होगा और क्या करने से प्रभु को श्रम होगा- पुष्टि-पुष्टि भक्त इसका ही विचार करता है। मानसी होने के फलरूप उसमें अलौकिक सामर्थ्य सिद्ध होने से उसे भगवान का अनुभव होता है। पुष्टि-पुष्टि का भाव व्यसन दशा में पहुँचा हुआ होता है। ऐसे जीव के लिए भगवान बाह्य स्थिति करके फलरूप हो जाते हैं। 'गोपांगनासु पुष्टिः' व्रज की गोपियाँ इस भाव अवस्था की प्रमाण रूप हैं। संसार के प्रति वैराग्य और भगवान् के प्रकट

स्वरूप में अति दृढ़ आसक्ति के लिए व्रजांगनाओं का ही उदारण उचित एवं उत्तम है। ऐसे भक्तों में श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा स्थायी, निरन्तर और उत्कट रहती है।

३. पुष्टि मर्यादा- भक्ति के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं- माहात्म्यज्ञान और स्नेह। इसमें स्नेह से माहात्म्यज्ञान का पहलू जब अधिक प्रबल होता है, तब भक्ति में पुष्टि से अधिक मर्यादा का तत्त्व बढ़ जाता है। 'मर्यादया गुणज्ञाः' जीव जब पुष्टि मर्यादा भक्ति की अवस्था में आता है, तब उसे भगवान के धर्म ऐश्वर्य, वीर्य आदि गुणों का ज्ञान होता है और वह जीव भगवान् की महत्ता के कारण भगवान् में आसक्त होता है। यह अवस्था 'आसक्ति' रूप है।

भक्त के हृदय में प्रकट होने वाला माहात्म्यज्ञान स्नेह का विरोधी नहीं है। यह तो स्नेह को सुदृढ़ तथा सर्वतोधिक बनाने में सहायक ही होता है। भगवान् भक्त को पुत्रभाव, सखाभाव, कांतभाव आदि जिस भाव का अनुभव कराते हैं, वे भाव तो उस भक्त में रहते ही हैं। साथ ही ये मेरे होते हुए भी परमात्मा हैं, मेरे साथ सखावत् लीला करते हुए भी ये परब्रह्म हैं- यह भाव भी रहता है। इस प्रकार उसमें ज्ञानयुक्त भाव अर्थात् ब्रह्मभाव भी रहता है। ब्रह्मभाव अर्थात् भगवान के ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान होते हुए उसे निज स्वरूप का ज्ञान भी होता है। वह अनुभव करता है कि 'हजारों वर्षों से मैं आनंदरूप ब्रह्म, पूर्णानंद श्री हरि से बिछुड़ा हुआ हूँ। मेरा आनंद अंश भी इससे तिरोहित हो गया है। अविद्या माया तथा संसार से संबंध होने के कारण मैं क्लेश पा रहा हूँ।' यह प्रतीति उसमें दीनता और भगवान् के लिए आतुरता उत्पन्न करती है।

४. पुष्टि प्रवाह- 'प्रवाहेण क्रियारतः' पुष्टि-प्रवाह अवस्था में भक्तजीव प्रभु-भक्ति-संबंधी विविध क्रियाओं में लगे रहते हैं। पुष्टिभाव इस जीव में बीज रूप में रहता है। यहाँ 'स्नेह' अवस्था है। आसक्ति, व्यसन जैसी भाव अवस्था का बीज 'स्नेह' है। इस स्नेह को दृढ़ करने के लिए त्यागरूप और साधन-संबंध-रूप उपाय आवश्यक है।

पुष्टि-प्रवाह-अवस्था में जीव शरीर और द्रव्य के संबंध वाले सभी साधनों से तनुजा-वित्तजा सेवा के अधिकारी तो होते ही हैं और वही सेवा उसके लिए पुष्टि की साधन है। भक्त अपने तन और अपने वित्त का विनियोग यदि भगवत्-सेवा में न करे तो उसकी बड़ी ही हानि है, क्योंकि इसके अभाव में उसके बीजभाव रूपी नींव में दृढ़ता नहीं आती है। यदि नींव में ही मजबूती न हो तो इमारत कैसी होगी, यह विचारणीय है। मानसी सेवा तो अनुग्रह से ही प्राप्त होती है। भक्तों को तो अपने को मिली तनुवित्तजा सेवा (केवल वित्तजा नहीं) में उत्साह और भावपूर्वक संलग्न हो जाना चाहिए। जिसके जीवन में सेवा और सत्संग नहीं है, वह जीव पुष्टि-प्रवाह कक्षा का, कोटि का भी नहीं है, यह समझ लेना चाहिए।

अविद्याबद्ध जीव की दुर्दशा कैसी होती है, इसका और अपने स्वरूप का ज्ञान तो भगवान् की कृपा के पश्चात् ही होता है।

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम, क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।।
महा मोह के नूपुर बाजत, निंदा शब्द रसाल।

भ्रमभोयो मन भयो पखावज, चलत असंगत चाल।।
तृस्ना नाद करत घट भीतर, नाना विधि दे ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो, लोभ तिलक दियो भाल।।
कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नहि काल।
'सूरदास' की सबै अविद्या, दूरि करौ नंदलाल।।

भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि 'हे गोपाल! मैं जन्ममरण के इस लख चौरासी के फेर में खूब नाचा। अब मैं थक गया हूँ। मुझे विश्राम दीजिए। मैंने काम-क्रोध का लम्बा चोगा पहना और गले में विषयों (आसक्ति) की माला धारण की, जिसमें से निंदा की प्रिय शब्द, ध्वनि निकलती है, ऐसे मायामोह के नुपूर पहने हैं। मेरे इस नृत्य के समय भ्रम से भरा मन ही मृदंग के समान बजता रहा। इस प्रेरक मन-मृदंग का ताल भी बेताल ही बजता रहा। इतना ही नहीं, चाल भी असंगत, बेमेल चलती रही। मेरे घट (शरीर) में विविध प्रकार की ताल देती हुई तृष्णा नई-नई माँगों से नई-नई रागिनियाँ छेड़ती रही हैं। कमर में माया का फेंटा बाँध कर, ललाट पर लोभ का तिलक लगा करके मैं नाचता ही रहा हूँ। अनेक जन्मों में, करोड़ों योनियों में जलचर, थलचर, नभचर आदि विविध शरीर धारण करके न जाने कितनी कलाबाजी दिखाता रहा हूँ। सूरदासजी कहते हैं- 'हे नन्दलाल! मेरा जन्म-जन्मान्तर का यह नाच-गान तरह-तरह के लटके-झटके-मटकन बहुरूपिये जैसे विभिन्न प्रकार के रूप धारण करने की प्रवृत्ति आदि का मूल कारण मेरी अविद्या है। मैं यदि इस अविद्या से मुक्त हो जाऊँ तो ही सुखी हो सकता हूँ। इसलिए हे प्रभु! हे नन्दलाल! मेरी इस अविद्या को आप दूर कीजिए। यद्यपि जीव स्वयं भगवान का अंश है, फिर भी भगवदिच्छा से, भगवान् की माया से बँधा हुआ है। भगवान् की शरण में जाते ही यह माया के बंधनों से और क्लेश से मुक्त हो जाता है।'

पुष्टिजीव का वरण भगवान् करते हैं। एक बार बादशाह अकबर ने बीरबल से पूछा- 'क्यों बीरबल! साहेब कौन रीति सौं मिलत हैं?' (प्रभु किस प्रकार मिलते हैं?) बीरबल ने अनेक प्रकार से समझाया किन्तु बादशाह को संतोष नहीं हुआ। बादशाह के गुस्से से चिन्तित बीरबल को उसकी पुत्री ने गोकुल जाकर श्री गुसांईजी से इसका उत्तर पूछने की सलाह दी। बीरबल ने गोकुल जाकर श्री गुसांईजी से निवेदन किया। श्री गुसांईजी ने बीरबल से कहा- 'बादशाह और हम जब आमने-सामने मिलेंगे, तब हम इस प्रश्न का उत्तर दे देंगे। परोक्ष रूप से उत्तर मिलने से बादशाह का संदेह दूर नहीं होगा। इसलिए यदि उन्हें उत्तर पाने की आतुरता हो तो वे मेरे पास आवें। उन्हें उत्तर मिल जाएगा। मेरा यह संदेश बादशाह तक पहुँचा दो।'

बीरबल ने सारी बात बादशाह से कही। बादशाह को लगा कि मुझे प्रत्यक्ष जाना चाहिए। दूसरे ही दिन किसी को बताए बिना बादशाह ने अकेले ही घोड़े पर सवार होकर गोकुल के लिए प्रस्थान किया। श्री गुसांईजी ठाकुरजी को राजभोग धरकर संध्यावन्दन करने के लिए यमुनाजी पधारे थे। वहीं बादशाह की आपसे मुलाकात हुई। बादशाह ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। श्री गुसांईजी ने उन्हें पहचान लिया। उनसे एकांत में मिलने की व्यवस्था की। बादशाह ने श्री गुसांईजी से वही प्रश्न किया- 'साहेब किस प्रकार मिलते हैं?'

श्री गुसांई ने सुंदर उत्तर दिया– 'जैसे हम तुम मिले' याने कि जैसे आप बादशाह हैं, लौकिक रूप में सबसे बड़े हैं। आपकी इच्छा बगैर आपसे मिलना कठिन है, किन्तु यदि आप स्वयं किसी से मिलना चाहें तो तुरंत मिल सकते हैं। इसी प्रकार चिन्तन-मनन और साधना करते हुए कई वर्ष बीत जावें तो भी प्रभु से मिलना कठिन है, किन्तु यदि प्रभु भक्त से मिलना चाहें तो मिलन में किंचित् भी विलंब नहीं होगा।'

यह सुनकर बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्हें अपने प्रश्न का समुचित उत्तर मिल गया था। इस प्रकार पुष्टि जीव के लिए भी भगवत्-प्राप्ति में साधनों की अपेक्षा भगवदिच्छा ही मुख्य है। प्रभु यदि निज भक्त से मिलना चाहें तो अनेक आवरणों को तत्काल हटाकर मिल जाते हैं।

जीव अल्प है। वह काल, कर्म और स्वभाव के अधीन है– यह बात सच है, किन्तु भगवान की कृपा होते ही इसके अंदर भी ऐश्वर्य प्रकट होता है और उस पर काल, कर्म और स्वभाव का जोर नहीं चल पाता। इस संदर्भ में श्री गुसांईजी की सेवक 'अष्टपदी' का उदाहरण पर्याप्त है। श्री गुसांईजी की एक वृद्धा सेविका राजनगर में रहती थी। वह बाल विधवा थी। बचपन से ही उसके यहाँ बालकृष्णजी की सेवा बिराजती थी। सेवामय जीवन बिताते हुए जब वह अत्यंत वृद्ध हो गई, तब एक दिन उसे साक्षात् काल के दर्शन हुए। काल ने कहा– 'मैं तुम्हें लेने आया हूँ चलो।' वृद्धा ने 'अन्नकूट का उत्सव आ रहा है', यह कहकर लौटा दिया।

थोड़े दिन बाद काल फिर आया, तब वृद्धा ने प्रबोधिनी उत्सव के कारण उसे वापिस कर दिया। उसके पश्चात् श्री गुसांईजी के जन्मदिन के कारण, फिर वसंत पंचमी उत्सव के कारण, उसके बाद डोल उत्सव के कारण, फिर श्री महाप्रभुजी के उत्सव के कारण इस प्रकार आठ बार काल को वापिस जाना पड़ा। आखिरकार उसने धर्मराज से शिकायत की। धर्मराज ने कहा– 'वह तो भगवदीया है। उस पर मेरा दण्ड नहीं चलेगा और मेरा शासन भी नहीं चलेगा।' यह कहकर उन्होंने अपनी असमर्थता बता दी। बेचारा काल भी परेशान हो गया।

श्री गुसांईजी राजनगर में श्री भाईला कोठारी के यहाँ पधारे, तब वह वृद्धा भी आपश्री के दर्शन करने आई। श्री गुसांईजी ने वृद्धा को 'आओ अष्टपदी' कहकर पुकारा। उपस्थित सभी वैष्णवों को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे अष्टपदी याने क्या? तब श्री गुसांईजी ने सबको समझाया– 'भीष्म पितामह ने एक बेर काल को फेर्यो और या डोकरी ने आठ बेर काल को पाछो फेर्यो।' फिर आपश्री ने वृद्धा को कहा– 'तुमने आठ बार काल को वापिस किया है। काल पर कुछ दया तो रखना थी। काल को भी मान तो देना चाहिए ना?' वृद्धा ने उत्तर दिया– 'महाराज! मैं तो आपके बस हौं काल के बास नाहीं।' इस प्रकार जीव के स्वरूप एवं सामर्थ्य पर विचार करें तो सोचना होगा कि यह कैसा जीव है? प्रभु के सम्मुख है, वैष्णव है या विमुख है? पुष्टिजीव है या प्रवाही जीव है? अहंकारी है कि दीनतावाला है? साधन में श्रद्धावाला है या स्वरूप में आसक्ति वाला है? ऐसी अनेक बातें विचारने योग्य हैं। तभी किसी जीव के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

●

स्वाध्याय-१४

जगत्

जगत्

'**जायते गच्छति च जगत्**' जो उत्पन्न होता है और गतिशील है, गति करता है, उसे जगत् कहते हैं।

जगत् कार्य है

परब्रह्म की जब अनेक रूप में प्रकट होने की इच्छा हुई तो उन्होंने क्रीड़ा करने, रमण करने के लिए जगत् का रूप धारण कर लिया। दार्शनिक शब्दावली में कहें तो परब्रह्म ही जगत् का उपादान-समवायी और निमित्त कारण है। अविकृत परब्रह्म सर्वकर्त्ता होते हुए भी अविकृत ही रहता है।

मायावादी मत यह है कि ब्रह्म सत्य है, किन्तु जगत् मिथ्या है, मायिक है, जबकि शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद ब्रह्म और जगत् के विषय में अविकृत परिणामवाद स्वीकारता है।

एकोऽहं बहुस्याम्-एकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। परब्रह्म ने विचार किया मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ। ब्रह्म क्रीड़ा करने के लिए जगत् की रचना करते हैं। अकेले क्रीड़ा नहीं होती इसलिए उन्होंने दूसरे की इच्छा की। सृष्टि के पहले तो वे अकेले ही थे।

'**आत्मा वा इदमेकं एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचनाभिषत्स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति स इमांल्लोकानसृजत**' सृष्टि के पूर्वकाल में यह आत्मा एक ही था। अन्य दूसरा कुछ था ही नहीं। उसने ' मैं प्राणियों का सृजन करूँ' ऐसी इच्छा की, तो उसने इन लोकों को उत्पन्न किया।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति॥

जिसमें से ये सब भूतमात्र, सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे वे जीते हैं; और जिसमें जाकर अन्त में प्रवेश करते हैं- वह ब्रह्म है, ऐसा तू जान।

ऐसे अनेकानेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि परमतत्त्व रूप परब्रह्म में से ही जगत् का आविर्भाव हुआ। परब्रह्म ही जगत् की स्थिति रखता है और उसी में जगत् का लय होता है। इस परब्रह्म के एक-एक रोम के छिद्र में से करोड़ों ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं। स्थावर पदार्थ, सब प्राणी श्री नारायण से ही उत्पन्न होते हैं। उसी में स्थित रहकर प्रवृत्त होते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। श्री नारायण से ही आकाश, वायु, तेज आदि उत्पन्न हुए। उसी में स्थित होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार-

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।

जैसे मकड़ी अपने तंतु से अपना जाला बनाती है, जैसे अग्नि में से सूक्ष्म चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही ब्रह्म में से तमाम जीव, लोक, प्राण, देव और भूत (पदार्थ) निकलते हैं। ब्रह्म में से निकले सभी पदार्थ सत्य हैं। प्राण सत्य है, जिसमें से ये पदार्थ निकले हैं, वह ब्रह्म सत्य है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता भी जगत् को सत्यरूप में तथा उसके कारण रूप में ब्रह्म को स्वीकारती है। अर्जुन से श्रीकृष्ण कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत् का प्रलय और उद्‌भव स्थान मैं ही हूँ। मैं ही सबका उत्पत्ति स्थान रूप हूँ और सब मेरे ही कारण प्रवृत्ति करते हैं। मैं सभी प्राणियों का आदि, मध्य और अंत हूँ। इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है कि जगत् का कारण ब्रह्म है और जगत् मिथ्या, असत्-मायारूप नहीं है।

कार्य-कारण को समझने के लिए छांदोग्य उपनिषद् एक नई ही दृष्टि देता है। जिस प्रकार मिट्टी के पिण्ड का ज्ञान होते ही मिट्टी से बनी सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है- घड़ा, दीपक आदि सब भेद तो नाममात्र ही हैं। वस्तुतः सब मिट्टी ही है। मिट्टी रूप से सत्य है। उसी प्रकार यह सारा विश्व भी ब्रह्मरूप है और इसी कारण वह भी सत्य है।

सेश्वर और निरीश्वर दोनों सांख्य मतवाले मानते हैं कि जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। न्याय, वैशेषिक आदि मतवाले जगत् का कारण परमाणु मानते हैं। मायावाद के अनुसार यह जगत्-प्रपंच अविद्या से, ब्रह्म में उसका आरोपण करने के कारण है और उसका अध्यारोप और अपवाद से निरास, निराकरण होता है, लेकिन ऐसा नहीं है।

जगत् के निमित्त कारण के रूप में सांख्यवादी स्वभाव को मानते हैं। मायावादी वासना को मानते हैं। कणाद अदृष्ट को मानते हैं, यह भी ठीक नहीं है। वास्तव में जगत् का निमित्त कारण भी एकमात्र परब्रह्म ही है।

जगत् मिथ्या नहीं-

मुंडक उपनिषद् कहता है कि

ब्रह्मैव वेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

ब्रह्म अमृत याने विनाश रहित, अविकारी है। आगे और पीछे, बाएँ या दाएँ भी ब्रह्म ही है। ऊपर और नीचे सर्वत्र वही फैला हुआ, सर्व में सर्वरूप होते हुए भी सबसे उत्तम, उत्तमोत्तम तत्त्व ब्रह्म ही है। ब्रह्म के सिवाय कहीं कुछ भी नहीं है, तो मिथ्या क्या है? मिथ्या कौन है? भगवान ने निज लीला करने के लिए जगत् को प्रकट किया। इस जगत् में जीव मेरा और तेरा की कल्पना कर ममत्व की भ्रांति में पड़कर अपने-अपने संसार बना लेते हैं। इसलिए '**भावो हि भवकारणम्**' मानव के द्वारा मन से प्रस्थापित किया गया भाव ही संसार का कारण है।

संसार-जगत् का भेद-

संसार का कारण जीव का मोह है। मिट्टी और मिट्टी के घड़े के बीच जिस प्रकार भेद नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् के बीच कोई भेद नहीं है। कारण और कार्य के बीच अभेद होने के कारण यदि कारण रूप ब्रह्म सत्य है तो कार्य रूप जगत् भी सत्य है, किन्तु संसार सत्य नहीं है, वह मिथ्या ही है। संसार तो भगवान् की माया की अविद्या शक्ति से ही जीव को प्राप्त हुआ है। अक्सर मनुष्य को जगत् और संसार के बीच का भेद ज्ञात नहीं है, इसलिए उसे मोह होता है। भगवान ने क्रीड़ा की इच्छा से इस जगत् का आविर्भाव किया, जबकि संसार का उद्भव जीव के अहंता ममतात्मक भाव के कारण होता है। यदि जीव अहंता ममता से मुक्त हो जाए तो उसका संसार नष्ट हो जाता है, किन्तु किसी को चाहे जितना ज्ञान हो जाए तो भी जगत् का लय होता नहीं। जगत् का तिरोभाव तो सर्वसमर्थ प्रभु की इच्छा हो, तभी होता है।

जगत् सत्य है क्योंकि उसका उपादान-निमित्त कारण ब्रह्म है, किन्तु संसार सत्य नहीं है, क्योंकि उसका कारण अविद्या है।

जीव की संसार-दशा की कारण रूपा अविद्या के पाँच पर्व हैं- (१) स्वरूप-विस्मृति (२) देहाध्यास (३) इन्द्रियाध्यास (४) प्राणाध्यास और (५) अन्तःकरणाध्यास। भगवान की माया की, अविद्या नाम की शक्ति जीव को बंधन करती है। उसी प्रकार उसकी विद्या नाम की शक्ति जीव को संसार से मुक्ति दिलाती है। भगवत्-कृपा से ही जीव को विद्या या ज्ञान प्राप्त होता है। उसके भी पाँच पर्व हैं- (१) वैराग्य (२) सांख्य (३) योग (४) ज्ञान और (५) भक्ति। इस पाँच पर्वों वाली विद्या से पंचपर्वा अविद्या का नाश होता है और जीव संसार के बंधन से मुक्त हो जाता है, संसार का नाश हो सकता है, यही बताता है कि संसार सत्य नहीं है। सत्य का कभी नाश नहीं हो सकता, संसार का नाश हो सकता है, इसीलिए संसार असत्य है। जगत् भगवान् का कार्यरूप है, इसलिए सत्य है। उसका नाश नहीं होता। भगवान् की इच्छा से ही उसका तिरोभाव होता है।

विषयभोग की वासना भी संसार की प्रतीति में कारण रूप दिखलाई देती है। '**विषयभोगवासनायां सत्यामविद्यमानोऽपि संसारो बाधते**' जिसका अस्तित्व नहीं है, ऐसा संसार भी विषयभोग की वासना के कारण बाधक होता है।

जैसे स्वप्न में दुःख आ पड़े तो वह मिथ्या ही है, माया ही है, किन्तु उसकी निवृत्ति तो जागने पर ही होती है। उसी प्रकार संसार के दुःखों से मुक्त होना है तो संसार की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

उत्पत्ति के प्रकार- विवर्त और विकार (परिणाम) ऐसी दो प्रकार की उत्पत्ति विचारणीय है।

(१) विवर्त- 'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रमा विवर्त इत्युदीरित' : एक वस्तु वस्तु के रूप में जैसी है, वैसी ही रहे फिर भी अन्यथा दिखाई दे, उसे विवर्त कहते हैं; जैसे- रज्जुसर्प। कभी रस्सी को देखते ही मानो ऐसा लगता है कि यह सर्प है। इस प्रकार रज्जु में सर्प का भ्रम होता है। रस्सी ही सत्य है, किन्तु जिसको भ्रम हो जाए, उसे रस्सी नहीं, सर्प है, ऐसा भ्रम हो जाता है। विवर्त का निवारण हो

सकता है। उजाला होते ही सर्प का भ्रम नष्ट हो जाता है और वह रस्सी रूप में, अपने सत्य रूप में, अनुभव में आने लगती है।

(२) विकार-परिणाम- 'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रमा विकार इत्युदीरितः' जब वस्तु में परिवर्तन हो जाए और इस कारण वह अन्यथा दिखाई दे, तब वह विकार अथवा परिणाम कहलाता है। जिस प्रकार दूध से दही बन जाए, वह विकार कहलाता है। रस्सी में सर्प का भ्रम हो तो वह प्रकाश से निवृत्त होता है, क्योंकि वास्तव में रस्सी तो रस्सी ही रहती है। उसके स्वरूप में तत्त्वतः परिवर्तन नहीं होता, किन्तु दूध तो दही बन जाता है और वह दही फिर से दूध नहीं बन सकता।

विकार या परिणाम भी तीन प्रकार का होता है- पूर्ण विकृत परिणाम, अर्ध विकृत परिणाम और अविकृत परिणाम।

(१) दूध दही बन जाए तो फिर कभी दूध नहीं बनता, यह पूर्ण विकृत परिणाम है।

(२) सोने के गहनों को बनाएँ और न पसंद आवें तो फिर से सोना बना सकते हैं। यह अर्ध विकृत परिणाम है। इसमें गहनों के नामों और रूपों का लय हो जाता है। नाम-रूप बदलकर गहने सोना ही बन जाते हैं। चाहे जितनी बार सोने से गहने और गहनों से सोना बनाया जा सकता है। यह परिवर्तन अर्ध विकृत परिणाम कहा जाता है।

(३) जिस प्रकार चिन्तामणि में से या कल्पवृक्ष में से कोई वस्तु उत्पन्न हो, तो चिंतामणि या कल्पवृक्ष में कुछ भी कमी नहीं होती। यदि वस्तु वापस उनमें मिल जाए तो भी उनमें कोई वृद्धि नहीं होती है। इसलिए चिंतामणि या कल्पवृक्ष से होने वाली उत्पत्ति को अविकृत परिणाम कहेंगे। ब्रह्म में से जगत् उत्पन्न होता है, यह उत्पत्ति अविकृत परिणाम का ही प्रकार है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

पूर्ण में से पूर्ण उत्पन्न होने पर भी पूर्ण तो पूर्ण ही रहता है। इस उदाहरण से अविकृत परिणाम समझ में आता है-

अखिल ब्रह्मांड मां एक तुं श्रीहरि, जूजवे रूपे अनंत भासे।
देहमां देव तुं, तेजमां तत्त्व तुं, शून्यमां शब्द थई वेद वासे॥
पवन तुं पाणी तुं, भूमि तुं भूधरा! वृक्ष थई फूली रह्यो आकासे।
विविध रचना करी, अनेक रस लेवाने, शिव थकी जीव थयो एज आशे।
वेद तो एम वदे, श्रुति स्मृति साख दे, कनक कुंडल विषे भेद न होये,
घाट घडिया पछी नाम रूप जूजवां, अंते तो हेमनुं हेम होये
वृक्षमां बीज तुं, बीजमां वृक्ष तुं, जोऊं पटंतरो ए न पासे।
भणे 'नरसैयो' ए मन तणी शोधना, प्रीत करूँ प्रेम थी प्रकट थाशे॥

जगत् मिथ्या नहीं है, किन्तु यह ब्रह्म का कार्य है। इस ब्रह्मवाद को नरसिंह मेहता ने सरल रीति से समझाया है। पंचतत्त्वों में परमेश्वर का वास है। जीवमात्र में जगदीश बसे हैं। जो भेद दिखाई देता

है, जो विविधता दिखाई देती है, वह मात्र नाम-रूप में ही है (कार्य में ही है), बाकी कारण ब्रह्म तो एक ही है।

श्री महाप्रभुजी के साथ घट सरस्वती की भेंट (चेदीपुर) चंदेरी में हुई। जगत् सत्य है या मिथ्या इसी विषय पर उससे शास्त्रार्थ हुआ था। यह प्रसंग बहुत रोचक और उपयोगी है। घट सरस्वती यति ने तर्क दिया था कि "सबका जन्म और नाश दिखाई देता है तो फिर इन सबको सत्य कैसे कह सकते हैं?"

श्री महाप्रभुजी ने उत्तर दिया था- "वस्तु का आविर्भाव-तिरोभाव होता है, उत्पत्ति और नाश नहीं। अतः वस्तु की सत्यता निश्चित है। इनकी उत्पत्ति वास्तव में उत्पत्ति नहीं है, किन्तु आविर्भाव है। विद्यमान वस्तु के दर्शन की योग्यता आविर्भाव है और उससे विपरीत अर्थात् उसका दिखलाई न देना तिरोभाव है। वास्तव में यह तिरोभाव वस्तु का नाश नहीं है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है इसलिए वस्तु के आविर्भाव-तिरोभाव में उसकी कार्य-कारणता की हानि नहीं होती है। श्रुति-स्मृति में जगत् को कहीं भी मिथ्या नहीं कहा है। पुराणों में जहाँ कहीं उसके मिथ्यापन का निरूपण है, वह जीव के वैराग्य के लिए है।

महाप्रभुजी के द्वारा इस सिद्धांत का विवेचन करने पर घट सरस्वती नामक उस यति का शिष्य सरस्वती के मंत्र से मंत्रित घड़ा ले आया।

यति ने घड़े में प्राणशक्ति का प्रवेश कराके सरस्वती से पूछा- "हे महेश्वरी! सत्य बोलो- जगत् सत्य है या असत्य?" तब घड़े में से धीरे से आवाज आई- "जगत् सत्य है।" फिर सरस्वती ने यति से कहा- "वाणी के पति श्री हरि हैं और उनके मुख रूप से श्री आचार्यजी हैं। उनके आगे मैं असत्य कैसे बोल सकती हूँ? श्रुति-स्मृति का मत भी यही है कि जगत् सत्य है। जो सत्य है, वही मैंने कहा है।"

यह प्रपञ्च (जगत्) न तो प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, न परमाणुओं से बना है, न अदृष्ट (स्वभाव, वासना आदि) ने इसकी सृष्टि की है और न असत् से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। यह जगत् विवर्तरूप अर्थात् ब्रह्म का अतात्त्विक अन्यथा भाव होकर मिथ्या भी नहीं है। यह तो परमतत्त्व भगवान् का कार्य है, उन्होंने ही इसे बनाया है। जगत् न केवल भगवान् का कार्य है अपितु यह भगवद्-रूप ही है। इतना ही वैदिक सिद्धान्त है। (शास्त्रार्थ प्रकरण २३ का प्रकाश)

सत्यसंकल्प भगवान् ने संकल्प किया कि मैं अनेक हो जाऊँ, विविध रूपों में प्रकट हो जाऊँ। इस संकल्प मात्र से ही ब्रह्म में से ब्रह्मात्मक चेतन और निरानन्द असंख्य उनके अंश रूप जीव निकले जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के सद् अंश से जड़ पदार्थ निकले तथा उनके आनन्दांश से सारे अन्तर्यामी भी निकले।

(शास्त्रार्थ प्रकरण २७-२८)

स्वाध्याय-१५

गुरु

गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः - स्नेह रूप पुष्टिमार्ग को प्रकट करने वाली होने से व्रज की गोपीजन पुष्टिमार्ग में गुरु स्थान पर हैं। गुरु ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप हैं। शिष्य को नया जन्म देते हैं, इसलिए गुरु ब्रह्मा हैं। शिष्य की गुणात्मक सम्पदा की रक्षा करते हैं, शिष्य का निर्वाह करते हैं, इसलिए गुरु विष्णु हैं। शिष्य के दोष, कमी और अपरिपक्वता का नाश करते हैं, इसलिए वे शंकर हैं। गुरु तो परमात्मा की ही कृपा के स्वरूप हैं, इसलिए वे साक्षात् परब्रह्म हैं। 'विश्वासः गुरुवाक्येषु' जिसे गुरु के वचनों में विश्वास हो, उसकी रक्षा-संभाल भी भगवान् करते हैं। गुरुवाक्य के विश्वास के लिए यदि विधि के लेख भी बदलना पड़े, तो भगवान् बदलते हैं। भगवान् यदि कभी अप्रसन्न हो जावें, तो सद्गुरु रक्षा करेंगे, किन्तु गुरु के विरोधी को तो भगवान् भी क्षमा नहीं करते। गुरु में दोष देखने वाले का तो कहीं ठिकाना नहीं है। गुरु में मनुष्यभाव नहीं रखना चाहिए। परमात्मा ही अपने पास सर्वप्रथम गुरु का रूप लेकर पधारते हैं। गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिलता और शायद मिले भी तो वह फलता नहीं है।

गुरु की आवश्यकता-

छांदोग्य उपनिषद् कहता है कि **आचार्यवान् पुरुषो वेद** याने आचार्यवान् (गुरु प्राप्त हों तो) मानव ज्ञान प्राप्त करता है। आत्मकल्याण की इच्छा वाले मनुष्य के लिए आचार्य, सद्गुरु को प्राप्त करना आवश्यक है।

निरालम्बो यथा लोके स्थानभ्रष्टो निगद्यते।
हरेः कृपाविशिष्टोऽपि, गुरुहीनस्तथैव च॥
यथा भक्तिः स्वतंत्रोक्ता गुरुसेवापि तादृशी॥

जिस प्रकार संसार में आश्रयरहित पुरुष स्थानभ्रष्ट हो जाता है, उसी प्रकार हरिकृपा मिलने पर भी पुरुष बिना गुरु-कृपा के भ्रष्ट होता है। जिस प्रकार भक्ति को स्वतंत्र कहा जाता है, उसी प्रकार गुरु-सेवा भी स्वतंत्र है। गुरु बिना ज्ञान नहीं है- यह बात शास्त्र बारम्बार कहते हैं। कठोपनिषद् ने गुरु की महिमा का वर्णन समझाते हुए कहा है- **नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येन सुज्ञानाय प्रेष्ठ** तर्क के द्वारा, युक्ति के द्वारा यह तत्त्व जान सकते हैं, ऐसा नहीं है। तत्त्वविद् सद्गुरु ज्ञान दें, समझावें तो ही इसे जान सकते हैं। जीव चाहे जितना बुद्धिमान हो, किन्तु अपनी बुद्धि से वह परमतत्त्व को जान नहीं सकता। सत् शास्त्रों के द्वारा भी इसे समझ सकते हैं, किन्तु शास्त्र का सच्चा अर्थ भी गुरु की कृपा बगैर नहीं समझ सकते। स्वतंत्र रूप से शास्त्र को समझने जावें तो भ्राँति होने की संभावना भी रहती है।

गुरु के लक्षण-

कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम्। श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात्॥

भगवत् -कृपापात्र अधिकारी को किस प्रकार का गुरु करना चाहिए, इसकी चर्चा श्री महाप्रभुजी करते हैं कि जो श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर हो, दंभ, काम, लोभ तथा अन्य कपट आदि दोषों से रहित हो, श्रीमद् भागवत के तत्त्व का जिसने ज्ञान प्राप्त किया हो, ऐसे नर को गुरु बनाना चाहिए। **यः कश्चित् स्वस्य पुरुषार्थ-साधकः स गुरुः स पूज्यः** जो हमें पुरुषार्थ प्राप्त करावे, वही गुरु, वही पूजनीय है।

ऐसे गुरु की अच्छी तरह परीक्षा करके, उनकी जैसी आज्ञा हो शरणागत शिष्य को स्नेहभाव से वैसा ही आचरण-व्यवहार करना चाहिए। गुरु स्वयं भक्तिमार्ग को सिद्ध करने वाले हों, इतना ही पर्याप्त नहीं है। वह अपने शरणागत शिष्यों को भी भक्तिमार्गीय पुरुषार्थ सिद्ध करा सके, ऐसा समर्थ भी होना चाहिए। निष्कामभाव से स्नेहपूर्वक श्रीकृष्ण की सेवा करने वाला गुरु ही शिष्य को वैसा उपदेश दे सकता है, जो स्वयं ही कृष्ण-सेवापरायण न हो, वह शिष्य को किस तरह प्रभु-सेवा का बोध, ज्ञान प्रदान कर सकता है? उपर्युक्त लक्षण वाले गुरु अगर न मिलें तो क्या करना चाहिए, उसकी स्पष्टता भी श्री महाप्रभु ने की है। यदि ऐसे गुरु न मिलें तो भी भक्त को सर्वथा निःसंदेह होकर भगवत्स्वरूप को स्वयं पधराकर उनकी सेवा में परायण होकर रहना चाहिए। पर किसी भी परिस्थिति में भक्त को भगवत्-सेवा किए बगैर नहीं रहना चाहिए।

श्रीमद् आचार्यजी के प्रति परमगुरुभाव, अनन्य आचार्यभाव तथा अनन्य भगवद्‌भाव रखना और स्वयं कृष्णसेवा सदा करके स्वयं के वैष्णव जन्म को सफल करना चाहिए। गुरु नर होना चाहिए अर्थात् जो स्वयं पुरुषार्थ सिद्ध करे और दूसरे को भी सिद्ध करावे, ऐसा होना चाहिए। यहाँ पुरुषार्थ का तात्पर्य भक्ति रूपी पुरुषार्थ समझना चाहिए। शिष्य को गुरु की अच्छी तरह परीक्षा कर लेना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो जैसे एक अंधा पुरुष दूसरे अंधे पुरुष को भी गड्ढे में गिराएगा वैसे ही यदि गुरु योग्य एवं समर्थ न हो तो गुरु की परीक्षा किये बगैर उनका पिछलग्गू, अनुसरण करने वाला शिष्य कुएँ में गिरता है। ऐसे गुरु और शिष्य दोनों का अधःपतन होगा। 'अन्धे अन्धा ठेलिया, दोन्यूं कूप पडन्त' वाली स्थिति होगी।

गुरु भक्ति-

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार मनुष्य की भगवान् में परम भक्ति होना चाहिए और जैसी भगवान में परमभक्ति हो, वैसी ही परमभक्ति गुरु में होना चाहिए। गुरु के प्रसन्न होते ही शिष्य के हृदय में प्रकाश फैल जाता है, व्याप्त हो जाता है। किसी भी प्रकार से जो उपदेश दे, वह गुरु है। आदर्श जीवन-प्रणाली द्वारा शाब्दिक उपदेश दिए बगैर भी सद्‌गुरु सद्धर्म की प्रेरणा दे सकते हैं। उसका सर्वोत्तम उदाहरण व्रज के श्री गोपीजन हैं। उन्होंने पुष्टिमार्ग का उपदेश शब्दों द्वारा नहीं दिया, किन्तु अपना तन, मन, धन और जीवन कृष्णप्रेममय बनाकर विश्व को पुष्टिमार्ग समझाया है। इसीलिए गोपीजनों को पुष्टिमार्ग में गुरु माना गया है। प्रभु के गुण-श्रवण के कारण उनसे मिलने की आर्ति से उत्पन्न विरह रूप व्याकुलता श्री कौंडिन्य ऋषि से वैष्णवों को सीखना चाहिए। यद्यपि कौंडिन्य ऋषि पुष्टिमार्गीय नहीं थे, फिर भी विरह (वेदना, छटपटाहट) आर्ति के विषय में उनको शिक्षागुरु मानना चाहिए।

मार्गनिष्ठा-

अपनेआप प्राप्त किए गये ज्ञान से पुष्टिमार्ग में निष्ठा सिद्ध नहीं होती। मार्गनिष्ठा तो गुरुदेव के वचनामृत से सिद्ध होती है। (वचनामृत के विषय में गुरु और शिष्य दोनों पक्षों में इतना विवेक तो आवश्यक है कि वचनामृत पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के अनुरूप ही हों और शिष्य भी वचनामृत का अर्थ स्वबुद्धि से अथवा स्वरुचि के अनुसार मनमाना न करे। परंपरा के अनुसार जो अर्थ स्वमार्गीय सिद्धांतों के अनुरूप हो, ऐसा ही अर्थ करना चाहिए।) गुरुदेव को अपना सर्वस्व जानकर, श्री महाप्रभुजी का आश्रय लेकर श्रीकृष्ण को भजना चाहिए

जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण ने भी गुरु किया था। श्रीराम ने भी गुरु किया था। केवल करने के लिए गुरु किए थे, ऐसा नहीं है, किन्तु उन्होंने श्री गुरुदेव की सेवासुश्रूषा भी की थी। श्रीकृष्ण ने स्वयं भगवान् होते हुए भी सांदीपनि ऋषि के यहाँ लकड़ी बीनने जैसी (तनुजा) सेवा भी की थी। उन्होंने इस आचरण द्वारा जगत् को संदेश दिया कि व्यक्ति महान् से महान् भी हो तो भी उसे गुरु के आशीर्वाद अवश्य लेना चाहिए। गुरु का ऋण शिष्य कभी उतार नहीं सकता। वह चाहे जितनी सेवा कर ले तो गुरु का ऋणी रहता है, क्योंकि गुरु की कृपा निरपेक्ष होती है, अकारण होती है। अतः उसका प्रतिदान नहीं होता।

साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेत् संतों, साधु पुरुषों, सद्गुरु के शिष्टाचरण भी वेद के समान प्रमाण हैं। शास्त्र के गहरे रहस्य को जो न समझ सके उसे सद्गुरु की आज्ञा के अनुसार जीवन जीना चाहिए। शास्त्र अनेक मतमतान्तर उपस्थित करता है। जब विद्वानों की मति भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय करने में असमर्थ हो जाती है, तब महानुभाव सद्गुरु की आज्ञा को वेदाज्ञा मानकर, उसे ही प्रमाण मानकर उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। गुरु की आज्ञा में संशय नहीं करना चाहिए। गुरु के मुख से भगवान् ही आज्ञा करते हैं, ऐसा मानना चाहिए। वे हमारा अनिष्ट कभी नहीं होने देंगे। ऐसा समझकर पूर्ण विश्वास रखकर गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए। शिष्य के कल्याण के लिए गुरु की प्रसन्नता आवश्यक है। **ब्रुयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत** स्नेहपात्र शिष्य को गुरु गुप्त रहस्य भी बता देते हैं। **गुरोः स्थाने धार्ष्ट्येन न गंतव्यम् नापि रिक्तहस्तादिना** गुरु के पास अविवेक से उद्दंडतापूर्वक नहीं जाना चाहिए तथा गुरु के पास खाली हाथ भी नहीं जाना चाहिए तथा गुरु का पूरा सम्मान करना चाहिए।

गुरु बिन ऐसी कौन करे?
माला तिलक मनोहर बाना लै सिर छत्र धरे॥
भव सागर में बूडत राखे, दीपक हाथ धरे।
'सूरश्याम' गुरु ऐसो समरथ छिन में ले उधरे॥

इस छोटे से पद में श्री सूरदासजी ने गुरु-महिमा का सुंदर प्रकार से गान किया है। श्री गुरुदेव के अलावा ऐसी कृपा कौन कर सकता है? तुलसी की माला (कंठी) और सुंदर तिलक यह गुरुदेव का स्वरूप-वैभव, यह उनकी शोभा, शृंगार है। इस प्रकार स्वयं वैराग्य की मूर्ति होते हुए भी वे अपने शिष्य को छत्रपति बना देते हैं। शिष्य के सिर पर गुरु की कृपा शिरत्राण बनकर उसे संसार के दुःखों और परेशानियों की वर्षा से बचा लेते हैं। वे अपने शिष्य को संसार-समुद्र में डूबने नहीं देते और

उसके जीवनपथ को आलोकित, प्रकाशयुक्त बना देते हैं। ऊपर छत्र बनकर, नीचे नौका बनकर और आगे-आगे दीपक बनकर सद्गुरु शिष्य की सभी प्रकार से रक्षा करते हैं। पलक झपकते ही उसका उद्धार कर देते हैं। ऐसे समर्थ हैं गुरुदेव।

व्रज-परिक्रमा के समय श्री महाप्रभुजी गहवर वन में पहुँचे। वहाँ एक अजगर को असंख्य चीटियाँ चिपटकर खा रही थीं। इस दृश्य को देखकर कृपानिधि श्री वल्लभ के हृदय में करुणा जागी। उन्होंने कृष्णदास के पास से कमंडल लेकर उसमें से भगवान् का चरणोदक उस अजगर और चीटियों पर छिड़का, परिणामस्वरूप उनकी सद्गति हुई। फिर श्री आचार्यजी गहरे विचार में डूब गए। अपने सेवकों से लम्बे समय तक बोले नहीं। वे गंभीर हो गए। अपने मुकाम पर वापिस आए। फिर भी महाप्रभुजी मौन रहे। तब दामोदरदासजी ने प्रश्न किया- ''आज आपश्री उदास क्यों दिखलाई दे रहे हैं?''

श्री महाप्रभुजी ने उत्तर दिया कि जंगल में उस अजगर को देखकर मेरा मन उदास हो गया था। यह अजगर पूर्व जन्म में वृंदावन का एक महंत था। उसने अनेक सेवक बनाए, उनसे बहुत-सा धन लिया और यह द्रव्य भगवत्-कार्य या परोपकार में व्यय न करते हुए भोग-विलास में व्यय किया था। गुरु जो करे, उसका प्रभाव शिष्यों पर पड़ता ही है। उन महंत के शिष्य भी मौज-शौक में पड़ गए। मरने के बाद इन गुरु और शिष्यों की यह दुर्गति हुई। महंत को अजगर का शरीर मिला और शिष्य चीटियाँ बने। इस जन्म में शिष्यों ने गुरु से बदला लिया। वे चीटियाँ बनकर अपने पूर्व जन्म के गुरु अजगर को खाने लगे तथा गुरु को प्रताड़ित कर रहे थे कि जब तुम में किसी का उद्धार करने की शक्ति नहीं थी तो फिर तुमने हमें शिष्य बनाकर बरबाद क्यों किया? हमारा धन हर लिया और हमें आत्मकल्याण का मार्ग क्यों नहीं बताया? श्री महाप्रभुजी ने अपने शिष्यों को यह दृष्टान्त देकर समझाया था। इस प्रकार समग्र पुष्टि-सृष्टि को ज्ञान दिया कि प्रत्येक गुरु, प्रत्येक आचार्य को यह समझाना चाहिए कि अगर उनमें शिष्य का कल्याण करने की शक्ति न हो और जो सही ढंग से भगवान् में लीन न हो, तो उसे अपना तथा अपने शिष्यों का भव, जीवन नहीं बिगाड़ना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को गुरु होने का मोह नहीं रखना चाहिए।

गुरु होने का अधिकार केवल उसी को है, जिसमें सत्पुरुष के लक्षण हों। जो कृपावान्, किसी भी प्राणी से द्रोह न करने वाला, क्षमावान्, सत्यरूपी बलवाला, ईर्ष्यादि से रहित, सुख-दुःख में समान, यथाशक्ति सब का उपकार करने वाला, विषयों से क्षोभित न होने वाला, जितेन्द्रिय, कोमल चित्तवाला, सदाचारी, धन में अनासक्त, मिताहारी, शान्त, धर्मनिष्ठ भगवान् का ही आश्रय करने वाला मननशील, सावधान, निर्विकार, कष्ट में भी धीरज रखने वाला, भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु से प्रभावित न होने वाला, मान की कामना न रखने वाला, दूसरों को मान देने वाला, दूसरों को ज्ञान देने में चतुर, सर्व का मित्र, करुणा के भाव से प्रत्येक कार्य करने वाला और ज्ञानी हो, ऐसे नर को सत्पुरुष कहते हैं। ये लक्षण गुरु में होने चाहिए।

स्वाध्याय-१६

ब्रह्मसंबंध

भगवत्संबंधो हि कोटिकल्पवृक्षादप्यधिकः। संप्राप्तः केन वा त्यक्तुं शक्यः?

भगवान् का संबंध करोड़ों कल्पवृक्षों से भी बढ़कर है। जिसे वह प्राप्त हो जाए, उसका त्याग कौन कर सकता है?

यथाकथंचित् भगवद्संबंधः सर्वथा मोचकः किसी भी प्रकार से भगवान् के साथ हुआ संबंध सर्वथा मुक्ति करने वाला होता है।

भगवान् के साथ का संबंध अथवा पुष्टिमार्गीय दीक्षा-संस्कार दो प्रकार से होता है। पहला-शरणमंत्र के उपदेश के रूप में और दूसरा आत्मनिवेदन के रूप में। शरणमंत्र के उपदेश से, "श्रीकृष्णः शरणं मम"- इस अष्टाक्षर महामंत्र के उपदेश से मनुष्य को वैष्णवता सिद्ध होती है और आत्मनिवेदन (ब्रह्मसंबंध) से वह वैष्णव भगवान् की सेवा करने का अधिकारी होता है।

ब्रह्म सत्-चित्-आनंद स्वरूप है और उसका अंश होने से जीव भी सत्-चित्-आनंद स्वरूप है, किन्तु (रमणार्थ) जीव का आनंद अंश तिरोहित हो गया है। इसके परिणामस्वरूप जीव "अपना जिसे मानता है, वह सब कुछ उसका अपना नहीं है, किन्तु भगवान् का है" इस बात को भूल जाता है और वह अपने विषय में अहंता तथा अन्य पदार्थों के संदर्भ में ममतारूपी दोष के अधीन हो जाता है। भगवदंश, भगवान का अंश होने पर भी जीव को इसी कारण क्लेश और दुःख भोगने पड़ते हैं। ब्रह्म-संबंध की प्रक्रिया में भक्तिमार्ग के मुख्य दोषरूप अहंता और ममता के निवारण का विचार किया गया है। दासभाव से प्रभु को सर्वस्व का निवेदन ही अहंता तथा ममता की निवृत्ति का सुनिश्चित एवं अचूक उपाय है। जीव भगवान का दास है, उसका प्रत्येक क्षण भगवद्-इच्छा के अधीन है। उसके जीवन में और समग्र विश्व में भगवदिच्छा ही चल रही है। उसी से सब कुछ हो रहा है। ऐसा विवेक जीव की अहंता का नाश करता है। उत्पत्ति, स्थिति और लय रूपी लीला तथा जीव का ब्रह्म से व्युच्चरण, वियोग-संयोग रूप लीला भगवद्-इच्छा से ही हो रही है। उसी के अनुसार जीव को भी व्यवहार करना है। **यो यदंशः स तं भजेत्** जो जिसका अंश है, वह उसे भजे, उसका आश्रय ले, यही योग्य है। अतः अंशरूप जीव को अंशी भगवान का ही आश्रय लेना चाहिए, उन्हीं को भजना चाहिए।

श्रावणमास की शुक्लपक्ष की एकादशी को मध्यरात्रि में साक्षात् भगवान ने प्रकट होकर ब्रह्मसंबंध करवाने की आज्ञा श्री वल्लभ प्रभु को की थी। जिस प्रकार श्री गोकुल में भगवान् ने (व्यूहात्मक रूप में नहीं किन्तु) साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम रूप में प्रकट होकर भक्तों के इच्छित कार्यों को किया था, उसी प्रकार श्री महाप्रभुजी को भी साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम ने ही ब्रह्मसंबंध करवाने का उपदेश दिया था।

यह आज्ञा स्वप्न द्वारा या आकाशवाणी के रूप में नहीं, किन्तु प्रभु ने स्वयं पूर्ण प्राकट्य के द्वारा दी है और वही अक्षर-अक्षर महाप्रभुजी द्वारा हमें कही गई है कि ब्रह्मसंबंध करने से (याने कि इस मार्ग के आचार्य द्वारा भगवान् को निवेदन करने से) सबकी देहों के तथा सभी जीवों के, भगवान् की सेवा में अन्तराय करने वाले, सभी दोषों का नाश होता है।

इस संस्कार में ईश्वर, पुरुषोत्तम या भगवान शब्द का प्रयोग करने के बदले 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग करने का कारण यह कि ब्रह्म में 'सबमें समान होने' का गुण है। वैसे ही यहाँ पर श्री आचार्यजी द्वारा निवेदन करने के बाद अंगीकार में सबकी समानता ही है। किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है।

भक्तिमार्ग में भगवदीयता से ही सर्वदोषों का नाश होता है और सेवा की योग्यता सिद्ध होती है। सम्पूर्ण निर्दोष के साथ संबंध होने से निर्दोषता मिलती है और सम्पूर्ण निर्दोष तो भगवान् ही हैं। इसलिए निर्दोष और सम ब्रह्म के साथ संबंध जीवों को समान रूप से निर्दोषता प्रदान करता है।

ब्रह्मसंबंध से जीव के सभी दोषों का अर्थात् पाँचों प्रकार के दोषों का नाश होता है। (१) सहज (२) देश से और (२) काल से (४) संयोग से और (५) स्पर्श से होने वाले ये पाँच प्रकार के दोष हैं।

१. सहज दोष- देह के साथ उत्पन्न होने वाले दोष सहज दोष हैं। देह पंचभूतों से बना है और पंचभूतों का भगवान् के आधिदैविक पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप के साथ सीधा संबंध नहीं है, इसलिए देह में दोष संभव है। पूजामार्ग में भूतशुद्धि जैसे तरीकों से इन दोषों का नाश किया जाता है।

२. देशोत्थ दोष- देश अर्थात् स्थान संबंधी दोष। जहाँ हम बैठते हैं, उस स्थान के गुण-दोषों का प्रभाव भी हमारे ऊपर पड़ता है। भूमि के दोष को दूर करना पूजामार्ग में भी आवश्यक माना है। **पवित्रं कुरु चासनम्** "मेरे आसन को पवित्र करो" ऐसा मंत्र है तथा **अप सर्पन्तु ते भूताः,** विघ्न डालने वाले भूत दूर हों, ऐसे मंत्रों से पूजामार्ग में देश की शुद्धि मानी जाती है। अशुद्ध भूमि के दोषों को देशोत्थ दोष कहते हैं।

३. कालोत्थ दोष- काल में अर्थात् समय की दृष्टि से भी दोष ससंभव है। प्रातःकालीन संध्यावन्दनादि कर्म प्रातःकाल न करते हुए सायंकाल में किए जावें तो उससे काल दोष लगता है। काल के भी शुद्ध-अशुद्ध, विहित-निषिद्ध जैसे भेद माने जाते हैं।

४. संयोगज दोष- जो पवित्र न किया हुआ ऐसे जल, पदार्थ आदि के संयोग से पवित्र किए पदार्थ दूषित हो जावें तो यह संयोगज दोष कहलाता है।

५. स्पर्शज दोष- स्पर्श से उत्पन्न होने वाले दोष। पवित्र किया हुआ जल, पुष्प आदि पदार्थों को अयोग्य व्यक्ति या प्राणी का यदि स्पर्श हो जाए तो वे पदार्थ पवित्र नहीं रहते। इसी प्रकार पवित्र व्यक्ति से यदि अपवित्र व्यक्ति स्पर्श करता है तो पवित्र व्यक्ति पवित्र नहीं रहता। इसलिए इन दोषों को स्पर्शज दोष कहते हैं।

उपर्युक्त पाँच प्रकार के दोष तथा दैवयोग से आकस्मिक रूप से होने वाले अन्य दोषों का ब्रह्मसंबंध से सम्पूर्ण नाश हो जाता है। पूजामार्ग के उपर्युक्त दोष तो भक्तिमार्ग में होते ही नहीं हैं। इसलिए ब्रह्मसंबंध संस्कार के बाद तो इन दोषों का अस्तित्व मानना ही नहीं चाहिए। अधोक्षज भगवान्

में होने वाला भक्तियोग तो अनर्थ को शान्त करने वाला है तथा भक्ति तो चंडाल को भी पवित्र कर देती है, ऐसे प्रमाण सुलभ हैं। एक तो स्वयं भक्तिमार्ग ही दोष हरने वाला है और इसमें सर्वदोषरहित पूर्ण पुरुषोत्तम के साथ संबंध हो जावे तो दोषों का टिकना किस प्रकार संभव है? अर्थात् निर्दोष भगवान् से संबंध रखने वाली भक्ति निर्दोष है और भगवान् से संबंध होने के बाद तो व्यक्ति और वस्तु में किसी भी प्रकार के दोष शेष नहीं रह सकते।

ब्रह्मसंबंध के अलावा अन्य किसी दूसरे प्रकार से सर्वदोषों का नाश संभव नहीं है। ब्रह्मसंबंध प्राप्त करने वाले व्यक्ति के जीवन में जीवनपर्यन्त दोषों का अभाव रहे- यह भी जरूरी है। इस कारण ब्रह्मसंबंध करने वाले जीव की भविष्य में भी निर्दोष स्थिति बनी रहे। उसके लिए ब्रह्मसंबंध के समान ही अन्य साधन ''ब्रह्म के संबंध से रहित वस्तुओं का त्याग'' बताया गया है। '**असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः॥**' पुष्टिमार्ग में भगवान् के साथ जिस वस्तु का संबंध न हुआ हो ऐसी वस्तु से संबंध होने पर दोष होता है। इसलिए जो वस्तु भगवान को समर्पित न हो, भक्त को ऐसी वस्तु का त्याग करना चाहिए, उससे संबंध नहीं रखना चाहिए। समर्पित वैष्णव ने अपने लौकिक और वैदिक सब का भगवान् को समर्पण कर दिया है। इसलिए उसे नित्य सब वस्तुओं के समर्पण का आग्रह रखना चाहिए। निवेदन का तात्पर्य है- समस्त आवश्यक पदार्थों को भगवद्-आज्ञानुसार भगवान् को समर्पण करना।

ब्रह्मसंबंध से कृतार्थता-

किसी भी निमित्त से, किसी भी कारण से प्रभु के साथ संबंध होते ही प्रभु उस जीव को यथा-अधिकार, भोग, मोक्ष या स्वरूपानंदरूपी फल का दान करते हैं। भगवान के साथ संबंध होना यह मुख्य बात है। यह संबंध विधिरूप या क्रियात्मक नहीं है, परन्तु सर्वथा भावात्मक है।

संबंध से भाव जागता है और भाव से संबंध बँधता है। इस प्रकार भाव और संबंध एक-दूसरे में ओत-प्रोत हैं। ब्रह्मसंबंध में तुलसी-प्रदान-विधि होती है। वह भी भाव-निष्पत्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है।

भावो विवाहतो नार्या यथा स्वपुरुषे भवेत्।
तथा मम पतिः कृष्ण इति संबंधतोऽत्र हि॥

जिस तरह विवाह हो जाने से नारी में 'यह पुरुष मेरा है' ऐसा भाव आ जाता है, उसी तरह ब्रह्मसंबंध से 'श्रीकृष्ण मेरे स्वामी हैं' ऐसा भाव जन्म लेता है।

भगवदीय अपने सर्वस्व का संबंध भगवान् के साथ चाहता है। भगवान् के साथ-साथ जिस-जिस इन्द्रिय, विषय, कर्म आदि का संबंध होता है, उससे उसकी कृतार्थता सिद्ध होती है।

वाक्श्रोत्रे च करौ चित्तं शिरश्चक्षुस्तथैव च
षडेते भगवत्-कार्ये यदि सक्ताः कृतार्थता॥
कीर्तने श्रवणे चैव गुणानां रूपदास्यकै
स्वरूपस्मरणे नत्वामवतीर्णस्य दर्शने॥

वाणी भगवान् का कीर्तन करने में, कान श्रवण करने में, हाथ उनकी सेवा में, चित्त उनके स्वरूप का स्मरण करने में, मस्तक नमन करने में और आँख अवतीर्ण हुए प्रभु के दर्शन करने में तत्पर हों। इस प्रकार ये छह यदि भगवान के संबंध में आसक्त हों, तो उनकी कृतार्थता होती है।

गृहवास का औचित्य भी भगवान् के साथ संबंध होने से ही माना है। **गृहस्थितेरुत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्व मात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या, भगवत्कार्यार्थं वा।** मात्र भगवदीय होने से स्वगृह में स्थिति उत्तम नहीं होती, किन्तु भगवान् के साथ घर में स्थिति हो अथवा भगवान् के लिए काम के लिए घर में स्थिति हो तो वह योग्य होती है। घर में विराज रहे सेव्य भगवत्-स्वरूप की सेवा करने के लिए वैष्णव घर में रहे तो उसका घर में रहना योग्य है। इस प्रकार गृह और गृहस्थाश्रम दोनों भगवत्-संबंध के कारण ही कृतार्थ होते हैं।

श्री गोकुल में गोविंदघाट पर एक चबूतरा था। वहाँ शमी वृक्ष के नीचे श्री महाप्रभुजी विश्राम करते थे। श्री महाप्रभुजी को एक दिन यह चिंता लगी कि जीव तो दोषयुक्त है और पूर्ण पुरुषोत्तम गुण-निधान हैं। फिर इन दोनों का संबंध किस प्रकार हो सकता है? मुझे प्रभु ने आज्ञा तो की है कि तुम दैवी जीवों का संबंध मेरे साथ कराओ, किन्तु यह कैसे संभव है? जीव के निर्दोष होने के साधन तो अत्यंत कठिन हैं और उनसे फल-प्राप्ति भी संदेहास्पद है। अतः क्या किया जाए? प्रभु की आज्ञा का पालन कैसे हो?

श्री महाप्रभुजी को दैवी जीव बहुत प्रिय हैं। दैवी जीवों की चिंता करते-करते उन्हें नींद भी नहीं आ रही थी। उस दिन श्रावण माह के शुक्ल पक्ष की एकादशी थी। मध्य रात्रि को प्रभु ने प्रकट होकर आचार्यश्री से पूछा- "आप चिंतातुर क्यों हैं?" तब श्री महाप्रभुजी ने कहा- 'प्रभु! आप जीव का स्वरूप तो जानते ही हैं। जीव दोषयुक्त है, अतः उसका आपके साथ संबंध किस प्रकार हो?' प्रभु बोले- 'आप जिस जीव को दीक्षा देंगे, उसके सब दोष दूर हो जाएँगे। इसलिए आप जीवों को अंगीकार करें। दीक्षा दें, ब्रह्मसंबंध करावें।' श्री महाप्रभु की चिंता में, जीवों का उद्धार करने की करुणामयी भावना तो थी ही, किन्तु भगवान के सुख का विचार भी था। स्नेह का यह लक्षण है प्रियतम को उत्तम वस्तु अंगीकार कराके सुख देना। प्रियतम को मध्यम वस्तु (दोष सहित जीव) कैसे अंगीकार करावें? यह चिंता थी कि अपने प्रियतम को उत्तम से उत्तम वस्तु (निर्दोष जीव) का अंगीकार कराना चाहिए।

श्री ठाकुरजी ने वचन भी दिया कि जिसका ब्रह्मसंबंध हो जाएगा, उसे मैं छोड़ूँगा नहीं। रामानंद पंडित की वार्ता इसमें प्रमाण रूप है। वैष्णवों के प्रति उनकी दोष-बुद्धि के कारण श्री महाप्रभुजी ने रामानंद पंडित का त्याग किया। रामानंद के त्याग के पीछे एक कारण भगवत्-वाक्य की जगत् को प्रतीति कराना भी थी। 'जाको ब्रह्मसंबंध करावोगे ताको मैं न छोडूंगो। सो परीक्षा देखन अर्थ श्री आचार्यजी अपराध को मिस पाई त्याग करें जो यह ठीक परेगी।' आगे जाकर ऐसा ही हुआ। प्रभु ने जब रामानंद की जलेबी आरोगी, तब श्री महाप्रभुजी ने कहा- 'मैंने इनका त्याग किया है, फिर इसके द्वारा समर्पित वस्तु आपश्री ने क्यों आरोगी?' तब प्रभु बोले- 'मैंने आपको वचन दियो है- 'जाको तुम ब्रह्मसंबंध कराओगे ताको मैं कबहू न छोड़ोंगो।' मैंने तुमको यह वचन दिया है कि तुम जिसका ब्रह्मसंबंध कराओगे,

उसे मैं कभी नहीं छोड़ूँगा। इसलिए यद्यपि तुमने इसका त्याग किया है, किन्तु पहले तुमने उसे मुझे सौंपा, ब्रह्मसंबंध कराया, इसलिए मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूँ।'

श्री महाप्रभुजी की कृपा से ब्रह्मसंबंध दीक्षा के द्वारा अज्ञानी जीव को भी स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है। सिंहनंद में रहने वाले प्रभुदास भाट महामूर्ख थे। पिता ने बहुत पढ़ाया, किन्तु वे पढ़ न सके। मथुरा में विश्रामघाट पर वे दुःखी होकर रो रहे थे। प्रभुदास को दैवी जीव मानकर महाप्रभुजी ने निवेदन कराया। तब प्रभुदास को अपने स्वरूप का और श्री आचार्यजी के स्वरूप का ज्ञान हो गया। इस समय दंडवत् करके उसने यह एक दोहा रचा– 'जब ते बिछुयों नाथ सों पर्यो जगत भवकूप। ता हित वल्लभ प्रकट ह्वै दरसायो निज रूप।' इस प्रकार ब्रह्मसंबंध होते ही प्रभुदास को अपने स्वरूप का तथा श्री आचार्यजी के स्वरूप का ज्ञान हुआ।

ब्रह्मसंबंध-दीक्षा के अधिकारी सभी नहीं हैं। ब्रह्मसंबंध के द्वारा लीला के दैवी जीवों को ही पुनः भगवान् के पास अंगीकार कराया जाता है। ऐसे उदाहरण भी हैं कि श्री महाप्रभुजी ने पति को ब्रह्मसंबंध की दीक्षा दी और पत्नी को नही दीं। बांसवाड़ा के गोपालदास को निवेदन कराया। फिर गोपालदास ने कहा– 'महाराज मेरे माता-पिता तो नहीं माने किन्तु मैं अपनी पत्नी को लाया हूँ, उसे निवेदन कराने की कृपा कीजिए।' तब श्री आचार्यजी ने कहा– 'तेरी पत्नी पुष्टि जीव नहीं है। उसका निवेदन मत करवा। इससे (पुष्टि) धर्म नहीं बनेगा।' श्री महाप्रभुजी ने उसे नाम दिया, किन्तु ब्रह्मसंबंध की दीक्षा नहीं दी।

श्रीकृष्ण कृष्ण मन में गति जानिये।
देह इन्द्रिय दारागारादि वित्त आत्मा सकल श्रीकृष्ण के मानिये।।
'कृष्ण मम स्वामी हौं दास' वचन कर्म कृष्ण कर्ता सकल विश्व के जानिये।।
कृष्ण दासनि नाथ लाल गिरिवरधरन, चरनरज वल्लभाधीश शिर सानिये।।

वैष्णव भगवान श्रीकृष्ण को ही अपना आधार, एकमात्र अवलम्बन जाने।। उसका दूसरा कोई आधार है ही नहीं। प्रभु को सर्वस्व निवेदन कर देने से सब प्रभु का हो जाता है और प्रभु ही उसकी सुरक्षा करते हैं। गद्य मंत्र में दैवी जीव दीनदयाल प्रभु से निवेदन करता है कि **कृष्ण से वियोग हुए मुझे (जीव को) आज अपरिमित काल, व्यतीत हो गया है। इस वियोग के कारण प्रभु से मिलने के लिए होने वाले ताप और क्लेश का आनंद भी तिरोहित हो गया है। ऐसा मैं (जीव) देह, इन्द्रिय, प्राण, अंतःकरण और उसके धर्म, स्त्री, घर, पुत्र, धन, यह लोक-परलोक आत्मा सहित सर्व भगवान् श्रीकृष्ण को समर्पित करता हूँ। मैं दास हूँ। हे कृष्ण मैं आपका हूँ।** सब प्रभु को समर्पित करते ही प्रभु के साथ इस जीव का दिव्य स्वामी-सेवक संबंध सिद्ध हो जाता है। ब्रह्मसंबंध के पश्चात् जीव को मन, वचन, कर्म से श्रीकृष्ण का दास बनकर रहना चाहिए। विश्व के अणु-अणु में भगवान् की स्थिति और प्रत्येक घटना में उनके कर्त्तव्य को उनके ही कर्ता होने को जानना चाहिए, यही स्वधर्म है।

वैष्णव

भगवदीयानामपि चरित्रं श्रोतव्यम्- भगवदीयों के चरित्र का भी श्रवण करना चाहिए। भगवदीय स्वयं तीर्थरूप होते हैं, क्योंकि उनके हृदय में भगवान का सर्वदा निवास होता है। वे तीर्थों में स्वयं पवित्र होने के लिए नहीं, किन्तु उन्हें पवित्र करने के लिए जाते हैं। तीर्थ और देव तो विलम्ब से पवित्र करते हैं, जबकि भगवदीय के दर्शन करते ही वे पवित्र कर देते हैं।

भगवदीय

तन, मन और धन से जो भगवान् का ही कार्य करते हैं, वे भगवदीय, भागवतजन हैं। जो सदा सर्वदा प्रभु के कार्य में ही संलग्न हैं, वे महाभागवत हैं। उत्तम भगवदीयों के लक्षणों का वर्णन श्री महाप्रभुजी ने इस प्रकार किया है-

यो दारागार-पुत्राप्तान्-प्राणान्वित्तमिमं परम्।
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमलुप्तः सदा॥

जो पत्नी (अथवा पति), घर, पुत्र, बंधु, प्राण, धन इस लोक और परलोक का (मोह) त्याग कर भगवान श्रीकृष्ण में परमभाव रखकर सदा प्रेमनिमग्न रहते हैं, ऐसे भगवदीय कोटि-कोटि जीवों में भी दुर्लभ हैं।

जो हर्ष-शोक से परे है, इस जगत् को सर्वव्यापी भगवान् के स्वरूप में देखता है, देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि आदि के धर्मों से मोहित नहीं होता, जो भगवान में ही निष्ठा रखने वाला है, जिसे अपने जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम, जाति आदि का अभिमान नहीं है, जो सब प्राणियों में समदृष्टि वाला और शान्त है, वह उत्तम भक्त है।

भगवदीयों की सहनशीलता अपार होती है। उनका तिरस्कार किया जाए, उन्हें ठग लिया जाए, गालियाँ दे दें, अपमान कर दें या मारपीट दें तो भी वे, समर्थ होते हुए भी, उसका प्रतिकार नहीं करते। भगवान् श्री उद्धवजी को कहते हैं कि 'मेरे अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा न रखने वाले, मेरा ही मनन करने वाले, शान्त और बैररहित और सब में समान दृष्टि रखने वाले अपने भक्त के पीछे-पीछे मैं घूमता हूँ, जिससे कि उस भक्त के चरणों की रज मेरे अंदर स्थित पूरे विश्व को पवित्र कर दे।

भगवदीय-महिमा

भगवन्तम् भक्त एव जानाति- भगवान् को भक्त ही जानता है। रासलीला के समय अन्तर्धान हो गए भगवान् को ढूँढने के लिए निकली ब्रजभक्त व्रजांगनाएँ विरह व्याकुल बनकर वृक्षों से भगवान् के स्थान के बारे में प्रश्न करती हैं- 'भगवान कहाँ गए?' यह प्रश्न वे मूढयोनि के वृक्षों से क्यों करती

हैं? इस विषय में संदेह नहीं करना चाहिए, क्योंकि वृक्ष वैष्णव हैं और **मूढा अपि वैष्णवा एव हि विष्णुगतिं जानन्ति, न त्वत्यन्तं निपुणा अप्यवैष्णवा:।** मूढ होते हुए भी वैष्णव ही विष्णुगति को, भगवान् के स्वरूप को, स्थान आदि को जानते हैं, किन्तु अत्यन्त निपुण होने पर भी अवैष्णव भगवान् के स्वरूप, गति, लीला आदि को नहीं जान सकते।

सच्चे भगवदीय मिल जावें तो उनकी सेवा करना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् की प्रसन्नता का साधन बन जाती है। प्रथम शिक्षा-पत्र में श्री हरिरायजी की आज्ञा है कि, जिस प्रकार धन और घर का विनियोग श्रीकृष्ण के लिए करना चाहिए, उसी प्रकार भक्तिमार्गीय भगवदीयों में भी धन, घर, तन का विनियोग करने से प्रभु प्रति निर्मल प्रेमभाव उत्पन्न होता है।

भगवान् और भगवदीय-

दुर्वासा ऋषि को निमित्त बनाकर भगवान् ने स्वमुख से अपने भक्तों के लिए अपना अभिप्राय व्यक्त किया है कि मैं भक्तों आधीन हूँ, इसलिए स्वतंत्र होते हुए भी अस्वतंत्र, परतंत्र हूँ। भगवदीयों ने मेरा हृदय वश में कर लिया है। वे मुझे प्रिय हैं। जो मुझे ही परम आश्रय रूप मानते हैं, ऐसे सज्जन भक्तों को छोड़कर मैं स्वयं अपनी और अपनी पत्नी लक्ष्मीजी की भी कामना नहीं करता। जो भक्त अपनी पत्नी, घर, पुत्र, स्वजन, प्राण, धन, इस लोक और परलोक सबको त्यागकर सिर्फ मेरी शरण में आते हैं, ऐसे भक्तों का त्याग करना मुझे कैसे अच्छा लग सकता है? जिस तरह पतिव्रता स्त्री अपने उत्तम पति को वश में कर लेती है, वैसे ही मुझे अपने हृदय में स्थापित करने वाले, समदृष्टि वाले, सत्पुरुष अपनी भक्ति से मुझे वश में कर लेते हैं। ये भक्त मेरी सेवा से प्राप्त होने वाले सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सारूप्य नाम के चारों पुरुषार्थों की, चारों प्रकार की मुक्ति की भी इच्छा नहीं रखते तो फिर काल से नष्ट हो जाने वाली दूसरी नाशवान वस्तुओं की इच्छा कैसे करेंगे? मेरे भक्त ही मेरे हृदय हैं और मैं ही अपने भक्तों का हृदय हूँ। वे मेरे सिवा कुछ जानते नहीं और मैं उनके अतिरिक्त कुछ जानता नहीं।

भगवदीय का स्वरूप

पुष्टि भक्त के स्वरूप, कृति और जीव सब नित्य और अलौकिक हैं। पुष्टि भक्तों का स्वरूप, देह भी साक्षात् पुरुषोत्तम संबंधी, फल के अनुभव करने योग्य होता है। यानी कि वे भी नित्य-अलौकिक हैं। प्रभु गोकुलवासियों को ब्रह्मह्रद तक ले जाकर मुक्ति का अनुभव कराते हैं और फिर इस देह के द्वारा सबको उनकी योग्यतानुसार भक्तिमार्गीय फल का अनुभव कराते हैं। यदि इन भक्तों के देह, स्वरूप नित्य नहीं होते तो मुक्ति का अनुभव करने के पश्चात् उनकी स्थिति नहीं रह सकती थी। इससे पुष्टि भक्तों के स्वरूप अर्थात् देह भी नित्य और अलौकिक हैं, यह स्पष्ट है।

इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरि:।
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चय:॥

'पुष्टि-प्रवाह मर्यादा' ग्रंथ में श्रीमद् आचार्यजी ने कहा है- 'पुष्टिमार्ग की सृष्टि सबसे उत्तम है'। श्री हरि ने मात्र इच्छा से, मन से प्रवाहीसृष्टि (संसारी जीव) रची, वाणी से वेदमार्ग, मर्यादासृष्टि रची और पुष्टि-सृष्टि को अपने स्वरूप से सिरजा है। परमात्मा का स्वरूप 'आनंदमात्रकरपादमुखोदरादि' है। भगवान् के हस्त, चरण, मुख, उदर आदि केवल आनंद के बने हैं। प्रभु ने इसी आनंदमयस्वरूप से पुष्टि-सृष्टि बनाई है और इसी कारण नित्य-अलौकिक स्वरूप से ही पुष्टि भक्त आनंदरूप प्रभु के अनुभव रूप दिव्य अलौकिक फल का अनुभव कर सकता है। 'कायेन तु फलं पुष्टौ', पुष्टिमार्ग में तो काया से फल होता है। याने कि भक्त भगवान् का अनुभव मानसिक अथवा आध्यात्मिक रूप से ही नहीं, किन्तु अपने स्वरूप से ही अनुभव करते हैं। वेणुगीत में 'अक्षण्वतां फलमिदम्'श्लोक द्वारा सभी इन्द्रियों द्वारा, जिसका रसास्वाद हो सके ऐसे स्वरूपानंद के अनुभव को फल कहा गया है। वैदिक ऋषि प्रार्थना करते हैं कि-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

हे देव! हमें आशीष दो कि हम हमारे दिव्य कान से कल्याणकारी भगवान् का नाम सुनकर, हमारे नेत्रों से हम भद्र, कल्याणमय भगवत्-रूप को निरखकर, हमारे सेवोपयोगी दैवी देह द्वारा, निर्मल इन्द्रियों द्वारा हमारे सम्पूर्ण जीवन को भगवत्-कार्य में लगावें।

भगवत्-सेवा के लिए ही भगवदीय का जन्म है। **भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्**- मर्यादा मार्ग में भगवान् की सेवा तो है, किन्तु वहाँ साधक अपने हृदय में अंगुष्ठमात्र भगवत्-स्वरूप की भावना करके उनकी सेवा करता है, जबकि पुष्टिमार्ग में तो आनंदमय साक्षात् श्री पुरुषोत्तम के प्रकट स्वरूप की सेवा मिलती है। इस साक्षात् पुरुषोत्तम स्वरूप की सेवा का अधिकार भगवदीयों को ही मिलता है, क्योंकि भगवदीयों का स्वरूप भी दिव्य है।

वैष्णव के कुछ लक्षण

वैष्णव का मन संसार से सदा उद्विग्न रहता है। चित्त श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए आतुर रहता है। लौकिक-वैदिक कार्य अनास्थापूर्वक करता है। अपनी वाणी का संयम रखता है। भगवान् की सभी लीलाओं की क्रमशः भावना करता रहता है। भगवत्-सेवा का अवसर न हो तब अनवसर में वह भगवान् के वियोग का अनुभव करने में समय व्यतीत करता है। श्रीकृष्ण के मुखारविंद रूप श्री वल्लभ प्रभु हैं, इसलिए वैष्णव को मन, वाणी और काया से उनका आश्रय सदा करना चाहिए। जैसा भाव श्री आचार्यजी के प्रति रखते हैं, वैसा ही भाव, बल्कि उससे भी अधिक भगवदीयों पर भी रखना चाहिए, क्योंकि भगवदीय प्रसन्न होंगे तो भगवान श्रीकृष्ण भी अवश्य प्रसन्न होंगे।

भगवदीयों का धर्म

यदि अन्य सृष्टि की तरह भगवदीयों की देह पांचभौतिक हों तो स्मृति में बताए हुए धर्म भी भक्तों को करना चाहिए, किन्तु भगवदीयों की देह तो भगवान् के चरणारविंद की रेणु से बनी है। इसलिए भगवान् के चरण-कमल के भजन, सेवा के सिवाय उसे अन्य धर्म करना आवश्यक रहता ही नहीं।

स्मृति की आज्ञानुसार स्मार्त धर्म, श्रुति (वेद की) की आज्ञा के अनुसार श्रौत धर्म और भगवान्-संबंधी भगवद्-धर्म इन तीनों में से यदि वैष्णव को भगवद्-धर्म के पालन के लिए अन्य धर्मों का त्याग करना पड़े तो उसमें जरा भी दोष नहीं है, क्योंकि भगवदीय वैष्णव के लिए तो भगवद्-धर्म का ही सबसे अधिक महत्त्व होता है। श्रौत्र-स्मार्त-धर्म देह के साथ संबंध रखने वाले धर्म हैं। भगवद्-धर्म आत्मधर्म है। इसलिए भगवदीय को आत्मधर्म का परिपालन अवश्य करना चाहिए। यही सर्वोपरि है।

तत्सम्बन्धिषु तद्भावस्तद्भिन्नेषु विरोधिता, उदासीनेषु समता... भगवान् के संबंधी-भगवदीयों के लिए वैष्णव को भगवद्-भाव रखना चाहिए, भगवान् से विमुख जीवों के लिए उसमें विरोध होता है और तटस्थ या उदासीन जीवों के प्रति वह तटस्थ (न स्नेह, न विरोध) भाव रहता है। भगवान् के पक्षपातियों, भगवद्-भक्तों को भगवान् के विमुख लोगों के साथ नहीं रहना चाहिए।

भगवदीय

सिंहनदवासी वासुदेवदास को ब्रह्मसंबंध कराकर श्री महाप्रभुजी ने कहा- 'तेरो नाम वासुदेवदास छकड़ा'। ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छह धर्म श्री ठाकुरजी में रहते हैं, सो तेरे में रहेंगे। ताते नाम छकड़ा।'

भगवदीय भगवान् का अतिप्रिय अंश होने से उसमें भगवद्-धर्मों का आवेश होता है। इसके बारंबार प्रमाण मिलते हैं।

ऐश्वर्यांश का सबसे सुंदर निरूपण श्री यशोदाजी में देखने को मिलता है। दामोदरलीला-प्रसंग में दधिमंथन करते समय श्री यशोदाजी के स्वरूप में भगवद्-धर्म के आवेश का सुंदर वर्णन श्री सुबोधिनीजी में मिलता है। भगवान् की लीला में स्थित भक्त अलौकिक हो जाते हैं। वे भगवद्-रूप हो जाते हैं। जिस भुजा से वे मंथन करती थीं, वह दाहिनी भुजा भक्तिमार्ग रूप और बायीं भुजा कर्मरूप थी। यशोदाजी ने कान में जो कुण्डल धारण किए थे,वे सांख्य और योगरूप के थे। हाथ में पहने कंगन भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग के नियम थे, मस्तक सत्य लोक का आधिवैदिक रूप और केशपाश मुक्त जीवों का स्वरूप था। उनके स्तन से टपकता दूध, मात्र दूध नहीं था, वह माता का स्नेह (वात्सल्य भक्तिरूप) था। उनकी दोनों भौहें मृत्यु और यमरूप थीं। भौहों सुंदरता यह सूचित करती थी कि भक्ति में क्लेश का अभाव है। याने कि भगवत्सेवा में भगवदीयों को क्लेश नहीं होता। उनके बालों के गुंथे पुष्प ब्रह्मविद्या स्वरूप थे। भगवदीय तल्लीन बनकर भगवद्-गुणगान और भगवद्-सेवा में मग्न हों तो, उनके अंग-अंग में भगवान् के धर्मों का आविर्भाव हो जाता है। वासुदेवदास छकड़ा की वार्ता में ही भगवदीयों में निहित असाधारण भगवद्-धर्म वीर्यांश का भी प्रमाण मिलता है। उन्होंने वहाँ के शासक के चालीस सिपाहियों को अकेले पराजित कर दिया था। उन्होंने छकड़े के धक्के से सिपाहियों के दल को भगा दिया, लेकिन वासुदेवदास ने क्रोध में आकर जब कृष्णदास मेघन को मारने के लिए हाथ उठाया तो दुर्बल दिखाई देने वाले कृष्णदास ने उनके दोनों हाथ पकड़ लिए। वासुदेव ने बहुत जोर लगाया, किन्तु वे अपने हाथ न छुड़ा सके। आखिरकार मन में अपनी हार

मानकर उन्होंने कृष्णदास का परिचय प्राप्त किया। कृष्णदास में यह असाधारण शक्ति भगवदीय के सामर्थ्य का सूचक है। भगवदीय इसे भगवद्-कृपा ही समझते हैं, अपना बल नहीं मानते।

पद्मनाभदास के यहाँ सदा एक क्षत्राणी आती थी। उसे कोई संतान नहीं थी। इन भगवदीय के आशीर्वाद से संतान होगी, इस श्रद्धा से वह आती। पद्मनाभदास ने जब यह जाना तो उन्होंने चरणोदक दिया और कहा- 'तुझे पुत्र होगा, उसका नाम मथुरादास रखना।' ऐसा ही हुआ, पुत्रादिक की तुच्छ कामना लेकर आई थी, इसलिए भगवान् का चरणामृत देने के बजाए उन्होंने अपना चरणोदक दिया था। इससे ज्ञात होता है कि भगवदीय प्रारब्ध भी बदल सकता है। भगवदीय का आश्रय करने से सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं, पुत्र-प्राप्ति की तो क्या बात है।

भगवान की तरह भगवदीयों का यश, निर्मल, उत्तम और सनातन है। सारे ब्रह्माण्ड में जो सुख किसी को नहीं मिलता, वह भक्त को मिलता है। यशोदाजी ने भगवान् को डोरी से बाँधा, तब श्री शुकदेवजी ने कहा कि- 'एक गोपी यशोदा ने मोक्षदाता भगवान् की जैसी कृपा प्राप्त की, वैसी कृपा तो भगवान् के श्रीअंग का आश्रय करके रहने वाली श्री लक्ष्मीजी, श्री ब्रह्माजी और श्री महादेवजी को भी कभी नहीं मिली। भगवदीयों को भक्तिमार्ग को समझने के लिए भगवदीयों के चरित्र सुनने चाहिए। भगवदीयों की कथा केवल कथा नहीं, वह तो कथा का फल है।

भगवत्-कथा का फल भगवदीयों की कथा है। श्री गोकुलनाथजी के वचनामृत हैं कि- 'वैष्णव की वार्ता में सगरो फल जानियो। यह पुष्टिमार्ग है, सो वैष्णव द्वारा फलित होयगो।'

पुष्टिजीव का प्राकट्य भगवान् के स्वरूप में से होने के कारण उसमें भगवान् का श्रीअंश भी है। काशी के सेठ पुरुषोत्तमदास मंदिर में बैठे थे। पुत्र के मन में विचार आया कि पिताजी अब वृद्ध हो गए हैं, इसलिए मैं सेवा में तत्पर हो जाऊँ। सेठ ने उसके मन की बात समझ ली और उसे पास बुलाया। पुत्र ने देखा कि पिताजी का शरीर बीस-पच्चीस वर्ष की आयु हो, ऐसा दिखलाई दे रहा है। अतः भगवदीयों का स्वरूप भी अलौकिक मानना चाहिए।

तादृशी भगवदीयों में 'दिव्य ज्ञान' होता है। खेरालू गाँव के निवासी नरहरि जोशी को अलीणागाँव में लगी हुई आग का ज्ञान हो गया था। भगवदीयों के घर जल जाएँगे तो उनकी श्रद्धा में कमी हो जाएगी- ऐसा विचार करके उन्होंने तुलसी का कुंडा जमीन पर रखकर झारी से उसमें पानी डाला और दूर अलीणा गाँव की, दूसरे स्थान की आग उन्होंने बुझा दी। श्री महाप्रभुजी के सेवक विष्णुदास छीपा निरक्षर थे। श्री आचार्यजी के मुख से 'सेवाफल' ग्रंथ श्रवण करने पर वे ज्ञानी हो गए। उन्होंने श्री गुसांईजी के साथ शास्त्र-चर्चा करने के लिए आने वाले पंडितों के साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित कर दिया।

भगवदीय 'वैराग्य' की मूर्ति है। नारायणदास ब्रह्मचारी विरक्त दशा में रहते थे। वे अयाचक व्रत से निर्वाह करते थे। वे पैर धोने के लिए जहाँ से मिट्टी लेते, वहाँ द्रव्य निकल आता। वे द्रव्य पर मिट्टी डाल देते। उसका स्पर्श नहीं करते थे। अकबर और मानसिंह जैसे राजा-महाराजा के प्रसन्न होने पर भी श्री सूरदास और कुंभनदास जैसे महानुभाव ऐसी ही विरक्ति के आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

// ८५ //

हरिजू के जन की अति ठकुराई।
देवराज, ऋषिराज, महामुनि, देखत रहे लजाई...॥
निर्भय राज ताहि को दीनों, लागति मननि उछाहू।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि भये चोर ते साहू॥
दृढ़ विश्वास कियो सिंहासन, तापै बैठ्यो भूप।
हरिजस विमल छत्र शोभित सिर, राजत परम अनूप॥
हरिपद पंकज प्रजा प्रेमबस, ताहि के रंग राते।
मंत्री ज्ञान न अवसर पावे, कहत न बने सकाते।
अर्थ, धर्म, दोऊ रहे ह्वै दुरि, काम मोक्ष, सिर नायो।
विनय, विवेक, विचित्र पौरिया, समय न काहू पायो॥
अष्ट महानिधि आगे ठाढी, कर जोरे उर लीने।
छड़ीदार वैराग्य विनोदी, झिड़कि बाहर कीनी॥
कायर काल कछू नहीं भावै, जो यह रीतै जाने।
'सूरदास' नर तौ जाने, जो गुरुप्रसाद पहिचाने...॥

एक सुंदर रूपक द्वारा श्री सूरदासजी ने हरिभक्त के महान् आध्यात्मिक, वैभवपूर्ण साम्राज्य का चित्रण किया है। भक्त के इस राजवैभव को देखकर महान् देव, ऋषिमुनि भी लज्जित हो जाते हैं। प्रभु ने निज भक्त को जो साम्राज्य दिया है, यह निर्भय पद है, क्योंकि वहाँ काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह जैसे चोर-डाकू भी सुधरकर सज्जन हो जाते हैं। भक्तराज सोने-चाँदी के नहीं, किन्तु दृढ़ विश्वासरूपी सिंहासन पर विराजमान होता है। उसके मस्तक पर श्रीहरि के निर्मल यश के छत्र की छाया रहती है। कैसी अद्भुत शोभा है? भगवद्चरणाविंद में अनुराग करने वाले भक्त ही उसके प्रजाजन हैं। यह राजा सदा प्रजा की सेवा में परायण रहता है। भक्तराजा प्रजा की सेवा में, सान्निध्य में इतना मग्न रहता है कि उसके ज्ञानरूपी मंत्री को अपने राजा के पास आकर मंत्रणा करने का, चर्चा करने का अवसर ही नहीं मिलता। धर्म और अर्थ रूपी साधन पुरुषार्थ उससे दूर-दूर रहते हैं, जबकि काम और मोक्ष रूपी फल, पुरुषार्थ भक्तराज का नतमस्तक होकर सम्मान करते हैं। इस राजा के दो द्वारपाल हैं। एक का नाम विनय और दूसरे का नाम विवेक। ये दोनों द्वारपाल विचित्र स्वभाव के हैं। ऐसे-वैसे को तो राजा के पास जाने ही नहीं देते। सम्राट के पास अष्ट सिद्धियाँ जैसे-तैसे जा पहुँचीं और अपने को अपनाने की विनती करने लगीं तो विनोदी वैराग्य नाम के चौकीदार ने सिद्धियों को धमकाया और झिड़क कर बाहर निकाल दिया। भगवदीय के ऐसे साम्राज्य को वही जानता है, जो भगवदीय के संग में रहे। उसे कायर काल नहीं छू सकता। जिस पर गुरुकृपा होती है, वही यह रहस्य समझ सकता है। उसका ही इस भक्ति के राजसिंहासन पर राज्याभिषेक होता है। **श्री हरि महान् हैं श्री हरि के भक्त भी महान् हैं॥**

स्वाध्याय-१८

कृपा (पुष्टि)

पोषणं तदनुग्रहः पुष्टि अर्थात् पोषण, अनुग्रह। **कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः** भगवान् श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। **प्रसादस्तु स्वधर्माविर्भावः अनुग्रहस्तु परदोषाणां स्वीकारः** अपने धर्म का आविर्भाव प्रसाद है और अन्य के दोषों का स्वीकार अनुग्रह है।

अनुग्रह (कृपा) भगवद्-धर्म है, **अनुग्रहरूपो भगवद्धर्मः। स च लौकिकालौकिकोत्तम-फलसाधकः** अनुग्रह भगवान् का धर्म है, जिसके द्वारा सब लौकिक तथा अलौकिक उत्तम फल सिद्ध होते हैं। अनुग्रह के दो रूप हैं- साधारण अनुग्रह और विशेष अनुग्रह। जिस पर भगवान का साधारण अनुग्रह होता है, उसकी इस लोक-संबंधी या भगवान्-संबंधी जो उत्तम फल की इच्छा हो, उसे भगवान् स्वयं पूर्ण कर देते हैं, जबकि **विशेषानुग्रहस्तु विरलजनविषयो भगवद्रूपात्मकफलसाधकः** विशेष अनुग्रह में तो भगवत्-स्वरूप ही फल है। यह विशेष अनुग्रह दुर्लभ है। यह सभी को फलित नहीं होता। पुष्टिमार्ग में तो विशेष अनुग्रह ही वास्तविक अनुग्रह रूप में मान्य है।

साधारण अनुग्रह

कृपा एक विशेष प्रकार का भगवद्-धर्म है, **कालदिबाधकोनुग्रहापरनामा (वीर्यविशेषरूपो) भगवद्धर्मः पुष्टिः** जीव के सुख में, कल्याण में काल, कर्म और स्वभाव बाधक हैं। ये तीनों ही महाबलवान हैं और सामान्यतः जीव का इनके सामने कुछ वश नहीं चलता, किन्तु भगवान् अपने असाधारण पक्षपात से, कृपा से, अपने विशेष वीर्य से, पराक्रम से, सामर्थ्य से इन बाधकों का निवारण कर देते हैं और भक्त का कल्याण करते हैं। इस कृपा-रूप भगवद्-धर्म को ही पुष्टि अथवा अनुग्रह कहते हैं।

भागवतजी के छठे स्कंध में साधारण अनुग्रह का वर्णन है। कृपापात्र जीवों के स्वकार्य सिद्धि में यदि काल, कर्म या स्वभाव बाधक हों तो भगवान उनका नाश करते हैं। अजामिल ने अनेक पाप किए थे, अतः उसके उद्धार में 'कर्म' बाधक थे, फिर भी प्रभु ने क्षणमात्र में ही उसे कर्म के बंधन से मुक्त कर दिया। वृत्रासुर आसुरी स्वभाव का था, अतः उसके उद्धार में उसका स्वभाव बाधक था। प्रभु ने उसका स्वभाव बदले बिना ही उसका उद्धार किया। दितिपुत्रों मरुतों के काल, कर्म और स्वभाव तीनों बाधक थे। फिर भी प्रभु ने उसकी रक्षा की। भगवान् अजामिल, वृत्रासुर और इन्द्र तथा दितिपुत्रों को कृपापात्र बनाते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि भगवान् की कृपा मनुष्य, देव और असुर सभी पर होती है। भगवद्-कृपा में किसी प्रकार का कोई भेद बाधक नहीं है।

कृपा की कोई सीमा नहीं

भगवता चेत् कामना पूर्यते, तदा मर्यादामुल्लंघ्यापि पूर्यते।

भगवान् कामनापूर्ण करें तो मर्यादा लांघ करके भी पूर्ण करते हैं। याने भागवत्-कृपा की कोई मर्यादा या सीमा नहीं होती क्योंकि, **कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो बलिष्ठा** भगवान की कृपा सभी धर्मों से और स्वयं धर्मी प्रभु से भी अधिक बलवान है।

श्री यमुनाष्टक में प्रभु को कृपासागर कहा गया है। प्रभु में कृपा सदा सर्वदा प्रकट होती है। प्रभु का कृपा गुण अन्य गुणों जैसा नहीं है। दूसरे गुण जो कि नित्य हैं, फिर भी गुणधर्म जो जिस लीला में उपयोगी है, वे उस लीला में ही प्रकट होते हैं, किन्तु कृपा तो सदा सर्वदा प्रकट रहती है।

असाधारण अनुग्रह

असाधारण अनुग्रह में जीव की कार्यसिद्धि में उसके धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष रूप पुरुषार्थ को सिद्ध करने में बाधक काल, कर्म या स्वभाव का बाध तो स्वयं भगवान् के द्वारा होता है, किन्तु वे जीव भी विशेष, उनके कार्य भी विशेष और उनके धर्मादि पुरुषार्थ भी विशेष होते हैं। ये जीव, उनके कार्य और उनके धर्मादि पुरुषार्थ ये सब पुष्टिमार्गीय अर्थात् भगवत्स्वरूप और भगवत्लीला संबंधी होते हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का प्राकट्य, गोलोक छोड़कर प्रभु का ब्रज में आगमन, ब्रजवासियों का अपने रसमय सौंदर्य की पराकाष्ठारूप स्वरूप तथा अपनी रसरूप मधुर लीलाओं द्वारा निरोध करना, उनको साधन-परिश्रम दिए बगैर उन्हें स्वरूप में आसक्त कराकर स्वरूपानंद का अनुभव कराना यह भगवान् के असाधारण अनुग्रह का स्वरूप है।

पूर्णकाम प्रभु का माता के पास स्तनपान की याचना करना, असीम परमात्मा को माता द्वारा डोरी से बाँधना, वेणु के नाद से सबके मन को हर लेना, अन्याश्रय छुड़ाकर, सब की भोग-सामग्री को आरोगना, श्री गोवर्धन धारण करना, स्वयं आत्माराम होते हुए भी ब्रजरमणियों के साथ रमण करना, यह सब प्रभु के असाधारण अनुग्रह का स्वरूप है।

आज भी, अकिंचन भक्त के घर बिराजकर उसके घर की रूखी-सूखी सामग्री आरोगकर प्रसन्न रहना, भगवदीय के यहाँ माँगकर आरोगना और अपने परिश्रम तथा प्रसन्नता का अनुभव कराना भगवान् श्रीकृष्ण के असाधारण अनुग्रह का स्वरूप है।

भक्तं दृष्ट्वा भगवदनुग्रहस्य तरंगा उद्गच्छन्ति भक्त को देखकर भगवान् की कृपा की तरंगें उछलती हैं और कृपालु प्रभु अपने भक्त को जो कुछ साधन से, स्वरूप से तथा स्वभाव से दुर्लभ हो, उसका भी दान कर देते हैं। अर्जुन ने भगवान से उनके विश्वरूप के दर्शन कराने की प्रार्थना की। तब प्रभु ने उसे दिव्य चक्षु का दानकर दर्शन तो कराए, किन्तु उसे समझाया कि मेरी कृपा से ही तेरे द्वारा ये दर्शन करना संभव हो सका है। तुझे जैसे मेरे दर्शन हुए, वैसे दर्शन, वेद, तप, दान तथा यज्ञ से भी होना संभव नहीं है, किन्तु हे अर्जुन! हे परंतप! केवल अनन्य भक्ति से इस प्रकार मुझे तत्त्व से जानना तथा देखना, मुझमें प्रवेश करना संभव है। यहाँ भगवान के वाक्यों में अनन्य भक्ति याने

कृपा से प्राप्त भक्ति की ही बात है। जो साधन सुलभ नहीं है, उसका भगवान की कृपा से ही सुलभ होना संभव है।

कृपालुता

कृपालुता भगवान् का प्रिय धर्म है। किसी जीव में भी भगवान् यदि कृपालु स्वभाव देखते हैं, तो अत्यंत प्रसन्न हो जाते हैं। **पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः** कृपा करने वाले स्वभाव वाले मनुष्य पर श्री हरि प्रसन्न हो जाते हैं। प्रभु को कठोरता-क्रूरता प्रिय नहीं है। **क्रोधः पारुष्यमेव च** क्रोध, कठोरता, निर्दयता आदि तो आसुरी स्वभाव के लक्षण हैं। भगवदंश भगवदीय तो कृपालु स्वभाव के होते हैं। जो परायी पीड़ा जानते हैं, वे वैष्णव हैं। प्रभु को यदि वास्तव में प्रसन्न करना हो तो प्रभु के इस अतिप्रिय कृपालुता गुण को, जितना शक्य हो, उतना धारण करना चाहिए।

कृपा की अनिवार्यता

'**भगवतो हि ज्ञानं गदितमपि कृपाव्यतिरेकेण न प्राप्यते**' कृपा न हो तो भगवान् के विषय का ज्ञान, उपदेश दिया जाए तो भी कुछ समझ में नहीं आता, भगवान् का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। भगवत्-कृपा की महिमा श्री हरिरायजी ने सुंदर ढंग से समझाई है। कृपा बिना सब सुलभ होते हुए भी दुर्लभ होता है। मानव के पास अपने उद्धार के उपाय होते हुए भी कृपा के बिना उन उपायों को नहीं कर सकता। 'अहो! प्रभु पृथ्वी पर प्रकट हुए हैं, श्री भागवतजी भी विद्यमान हैं, श्री सुबोधिनीजी भी विराजमान हैं, कहीं-कहीं सत्पुरुष भी सुलभ हैं, इतना ही नहीं किन्तु सब गूढ़ तत्त्वों को समझाने वाले अनेक सद्ग्रंथ भी हैं। ये सब होते हुए भी मनुष्य भक्तिमार्ग में प्रेरित नहीं होता, यह परम आश्चर्य की बात है। प्रायः '**कृपैव हरिणा कारणत्वेन रक्षिता**' अतः ऐसा लगता है कि इसमें प्रभु ने अपनी कृपा ही कारण रूप रखी है। जिस प्रकार प्राण के अभाव में इन्द्रियाँ अचेतन हो जाती हैं, वे कुछ भी नहीं कर पातीं, वैसे भगवत्-कृपा बगैर सब प्रकार के साधनों का उद्‌भव होता नहीं। सभी व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं।

कृपाफल

'**लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक्**' प्रभु जिस पर प्रसन्न होते हैं, उस मनुष्य की सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, उसके लिए इस लोक में तथा परलोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। पवित्र हृदयवाले अपने भक्तों की सभी इच्छाएँ भगवान् पूरी करते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जिसमें कभी क्षति या वृद्धि या क्षय नहीं होता ऐसे अपने आत्मस्वरूप का दर्शन भी कराते हैं।

भगवदीय के लिए तो '**अयं हि परमो लाभः उत्तमश्लोकदर्शनम्**' उत्तम यशवाले भगवान् के दर्शन होना यही परम लाभ है।

कृपा से बिंदु सिंधु बने

भाईला कोठारी के जमाई का नाम था गोपालदास। श्री गुसांईजी पहली बार जब उनके घर पधारे, तब परिवार के सब लोगों ने श्री गुसांईजी को दण्डवत् किया। जब गोपालदास ने दण्डवत् प्रणाम

किया, तब श्री गुसांईजी ने पूछा- 'यह कौन है?' कोठारी ने उत्तर दिया- 'महाराज! ये गोमती के पति हैं।' श्री गुसांईजी ने हँसकर कहा- 'गोमती का पति तो सागर होना चाहिए और यह बालक तो भोला और मूढ़ है, यह जोड़ी कैसी बनेगी?' इस पर भाईला कोठारी ने विनती की- 'महाराज! आपकी कृपा होगी तो यही सागर हो जाएगा।' इस समय गोपालदास नौ वर्ष के थे। उन्हें कोठारीजी के जंवाई समझकर श्री गुसांईजी ने अपनी गोद में बैठाया और अपनी चर्वित बीड़ी (ताम्बूल) उनके मुँह में दी। पान की चर्वित बीड़ी के मुँह में जाते ही गोपालदास की देह उज्ज्वल हो गई और उन्होंने तुरंत ही श्री गुसांईजी को दण्डवत् प्रणाम करके 'वल्लभाख्यान' का गान शुरू कर दिया। श्री गुसांईजी ने गोपालदास पर कृपा करके उन्हें सागर बना दिया।

परमानंद सोनी श्री गुसांईजी के सेवक महाकृपापात्र भगवदीय थे। उनकी पुष्टिमार्गीय ग्रंथों सुबोधिनीजी आदि पर बड़ी श्रद्धा थी, इसलिए श्री गुसांईजी उन्हें रोज कथा सुनाते, वे जो पूछते, उसका उत्तर देते, जो कुछ पूछा या कहा जाता था, उसे परमानंद हृदय में सहेज कर रखते थे। श्री गुसांईजी ने परमानंद पर कृपा करके उनके हृदय में भगवत्-लीला स्थापित की। इससे वे भगवद्-रस में मग्न रहने लगे। यदि किसी वैष्णव को कथा में कुछ समझ नहीं आता, तो वह श्री गुसांईजी से पूछता था, तब श्री गुसांईजी कहते- 'तुम्हें परमानंद सोनी समझाएँगे' और वास्तव में परमानंद सोनी उनके सभी संदेह दूर कर देते थे।

एक बार काशी और प्रयाग के पंडित श्री गुसांईजी के साथ शास्त्रचर्चा करने आए। श्री गुसांईजी उस समय सेवा में थे, इसलिए परमानंद सोनी ने उनका सम्मान किया और बैठाया। फिर उनसे पूछा- 'आपको श्री गुसांईजी से क्या पूछना है? मैं आपको उत्तर दूँगा।' पंडितों ने परमानंद सोनी से कहा- 'यह तुम्हारा काम नहीं है। तुम वेदशास्त्रों की बात क्या जानो? हमारे प्रश्नों का तुम्हारे गुरु भी उत्तर नहीं दे सकते तो तुम क्या उत्तर दोगे?'

परमानंद सोनी ने पंडितों को श्रीमद् भागवत रासपंचाध्यायी का एक श्लोक कहकर उसका अर्थ पूछा। पंडितों ने ठीक उत्तर नहीं दिया। तब परमानंद सोनी ने- 'ऐसा नहीं, इसका ऐसा अर्थ होगा, कहकर उन्होंने उस श्लोक का सही अर्थ समझाया। तब पंडित घबराए, जिसके शूद्र सेवक इतने ज्ञानी हैं, उनके गुरु तो न जाने कैसे होंगे? उन्होंने परमानंद सोनी के साथ वाद-विवाद किया और परमानंद सोनी ने उन्हें वेद, पुराण और शास्त्रों के प्रमाणपूर्वक उत्तर देकर निरुत्तर कर दिया। कृपा का ऐसा सामर्थ्य है। अतः अष्टछाप के महानुभाव कवि श्री परमानंददासजी ने कहा है-

जा पर कमलाकांत ढरे।
लकरी-घास को बेचनहारो, ता सिर छत्र धरे॥
विद्यानाथ अविद्या समरथ, जो कुछ चाहे सोई करे।
रीते भरे, भरे पुनि ढोरे, जो चाहे तो फेरि भरे॥
सिद्ध पुरुष अविनाशी समरथ काहू ते न डरे।
'परमानंददास' यह सम्पति , मनते कबहू न टरे॥

लक्ष्मीजी ने जिसका अपने स्वामी के रूप में वरण किया है, वे कमलापति प्रभु जिस पर रीझ जावें, उसके लिए क्या दुर्लभ रह जाता है? लकड़ी और घास बेचने वाले घसियारे पर कृपा हो जावे तो वह भी छत्रधारी राजा हो जाए। ये रंक को राजा, मूर्ख को पंडित और तुच्छ को पल भर में महान् बना सकते हैं। प्रभु की इच्छा का विरोध कोई नहीं कर सकता, वे जो चाहें सो कर सकते हैं। अद्‌भुत प्रभु की यह कौतुक-लीला है कि वे खाली को भर दें, तो भरे को खाली कर दें। फिर इच्छा हो तो उसे पुनः भर भी देते हैं। जिस पर भगवान् की कृपा हो जाती है, वह सहज सिद्ध हो जाता है। उसे जगत् में किसी का भय नहीं होता। भगवत्-कृपा राई के दाने को पर्वत के समान कर देती है। कृपामार्ग में अतिहीन को भी उत्कृष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है। प्रभु की कृपा अंधे को सर्वदृष्टा और बहरे को उत्तम श्रोता बना सकती है। भगवत्-कृपा के लिए कुछ भी असंभव नहीं है। पुष्टि भक्तों के लिए तो भगवत्-कृपा ही सर्वस्व है।

भगवान की कृपा सभी धर्मों से और स्वयं धर्मीरूप भगवान से भी बलवाली है

(सुबो. १०-९-१९)

भक्तों पर कृपा करने वाले भगवान को विनम्र भाव से नमन करने मात्र से उनकी कृपा प्राप्त हो जाती है।

(सुबो. १०-३५-३६)

शरणागत भक्त को भगवान दुःखी नहीं देख सकते। शरणागत यदि दुःखी होता है तो उस पर भगवान अवश्य कृपा करते हैं। भगवान ने अपनी कृपा शरणागतों को सौंप दी है। यह ध्यान रहना चाहिए कि प्रत्येक दीन पर भगवान की कृपा नहीं होती। किन्तु जो दीन प्रभु की शरण में आते हैं उन पर भगवान की कृपा बरसती है। (सुबो. ३-२९-३८)

शरणागत भक्तों को देखकर भगवान के अनुग्रह की तरंगें उमड़ने लगती हैं।

(सुबो. ३-४-१४)

जो व्यक्ति भगवान में दोष देखता रहता है, वह चाहे भगवदीय ही क्यों न हो वह भगवान की कृपा प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु जो भगवदीय अपने दोष देखता है, जिसमें दैन्य होता है उस पर ही प्रभु कृपा करते हैं। (सुबो. १०-९-१०)

किन्तु अपने दोषों का ज्ञान भी भगवद् कृपा से ही होता है। अपने आप नहीं हो पाता।

(सुबो. १०-२७-४१)

इसी प्रकार से भगवान संबंधी ज्ञान पढ़ने या सुनने से प्राप्त नहीं होता, भगवान का ज्ञान भी भगवद् कृपा से ही प्राप्त होता है, भगवद् कृपा के बिना प्राप्त नहीं होता।

(सुबो. २-९-३०)

स्वाध्याय-१९

पुष्टिमार्ग

'**पुष्टिजन्यभक्तिमार्ग इति पुष्टिमार्गः**' पुष्टि से, भगवत्-कृपा से उत्पन्न हुआ भक्तिमार्ग ही पुष्टिमार्ग कहलाता है।

पुष्टिमार्ग का अधिकार

जिस पर भगवत्-कृपा उतरी है अथवा जिसने भगवत्-कृपा को अवलम्बन माना है, वही इस मार्ग का अधिकारी है। प्रमाण (मार्ग) में निष्ठा रखने वाले जीव का पुष्टिमार्ग में अंगीकार नहीं है। जो संसारी दुष्ट संगवाले हैं और अन्नदोष से जो बहिर्मुख और उन्मत्त बने हैं, ऐसे लोगों की स्थिति पुष्टिमार्ग में कैसे हो सकती है?

पुष्टिमार्ग और वेदमार्ग

पुष्टिभक्तिमार्ग, वेदमार्ग से विरुद्ध नहीं है, किन्तु वैदिक मार्ग से विलक्षण मार्ग अवश्य है। जिस मार्ग में यज्ञादि साधनों का उपदेश करने में आता है, वह मर्यादा मार्ग है। ये साधन शुद्ध या अशुद्ध हो सकते हैं। काल, देश, द्रव्य, कर्त्ता, मंत्र, कर्म ये सभी छह अंग शुद्ध हों- यह इस कलिकाल में तो किंचित् भी संभव नहीं है। पुष्टिमार्ग में तो जहाँ भगवान ही साधन बन जाते हैं, वहाँ फल के विषय में संदेह ही कहाँ रह जाता है? पुष्टिमार्ग में तो '**फलं यत्र साधनतां व्रजेत्**' स्वयं भगवान् ही भक्त के श्रेय की चिंता करते हैं, इसलिए पुष्टिमार्ग मर्यादा मार्ग से सर्वथा पृथक् है।

वरण-योग्यता

यत्रांगीकरणे नैव योग्यतादि विचारणम्।
अविलम्बः प्रभुकृतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।।

जिस मार्ग में, जीव का अंगीकार करते समय प्रभु उसकी योग्यता-अयोग्यता आदि का विचार करते ही नहीं तथा उसका वरण करने में विलम्ब करते नहीं, वह मार्ग पुष्टिमार्ग कहा जाता है।

अन्य मार्ग में, जीव की योग्यता ही मुख्य है। वह जो कुछ पाता है, अपनी योग्यता से ही पाता है। यज्ञ, तप, धन आदि साधनों से प्राप्त की गई योग्यता का पुष्टिमार्ग में महत्त्व नहीं है। जीव का अंगीकार करने में प्रभु योग्यता लक्ष्य में लेते ही नहीं। प्रभु निज इच्छा से जिस जीव का वरण करते हैं और उसका वरण करने के बाद उसे निज लीला में इसे क्या सुख देना है, इसका विचार करके तद्नुसार उसे योग्यता का दान देते हैं। मर्यादा में पहले योग्यता, फिर वरण है, जबकि पुष्टिमार्ग में पहले वरण, फिर योग्यता है।

भगवन्मार्ग की उत्तमता

वैसे तो सभी देश और सभी काल में भगवन्मार्ग जैसा श्रेष्ठ मार्ग दूसरा कोई नहीं है, फिर भी वर्तमान में कलि काल होने कारण तो भागवत धर्म रूप पुष्टिमार्ग की अनिवार्यता सिद्ध हो ही जाती है। कलि काल में प्रायः सभी जीव धर्म के विपरीत आचरण करने में प्रवृत्त दिखलाई देते हैं। वेद-अध्ययन, स्वाध्याय, ब्रह्मयज्ञादि। नित्यकर्म भी देखने में नहीं आते। प्रायः सभी ओर आचार-हीनता दिखलाई देती है।

'**आचारप्रभवो धर्मः** धर्म आचार से उद्‌भूत होता है। '**शौचाचारविहीनानां समस्ता निष्फलाः क्रियाः।**' आचार-पवित्रता से रहित व्यक्तियों की सभी क्रियाएँ-धर्मकार्य निष्फल हो जाते हैं। इस सिद्धांत के कारण इस समय धर्म/वैदिक धर्म का पालन और अनुकूल फल-प्राप्ति असंभव हो गई है।

साधकों के मन में विक्षेप है। किस धर्म का पालन करना- इस विषय में भी उनके मन में अनेक आशंकाएँ हैं। जीवों में स्वभावतः दुष्टता भी है। वैदिक धर्म का पूर्णतः पालन तथा फल-प्राप्ति तब तक नहीं होती, जब तक कि देश, काल, द्रव्य, कर्म, मंत्र और कर्त्ता इन छह पदार्थों की शुद्धि न हो। इस कलि काल में इन छह पदार्थों का शुद्ध होना संभव नहीं है। अतः वैदिक धर्म का पूर्णतः पालन और अपेक्षित फल की प्राप्ति नहीं हो पाती है। काल आदि दोषों के कारण भी जीवों की शक्ति का ह्रास हो गया है। श्री भागवतजी के एकादश स्कंध में भगवान् श्रीकृष्ण, उद्धवजी को उपदेश देते हुए कहते हैं कि- 'यदि तू ब्रह्मस्वरूप में मन की निश्चल धारणा करने में अशक्त हो, तो निरपेक्ष होकर त अपने सब कर्म मुझे समर्पित कर, मेरी लोक पावनी-कल्याणकारी कथा का श्रद्धालु बनकर बार-बार श्रवणकर तथा गानकर, मेरी लीला के प्रसंगों का अनुस्मरण कर, अपने धर्म, अर्थ और काम का मेरे लिए पालन कर, इस प्रकार मेरी शरण में रहने वाला जीव, मेरी निश्चल भक्ति को प्राप्त करता है।'

इतना ही नहीं, किन्तु अनन्य भगवद् भक्ति से (यद्यपि भक्त से पापाचरण होता ही नहीं, फिर भी यदि कभी उससे) किसी भी प्रकार भी पापकर्म हो जाए तो भक्त के ऐसे यादृच्छिक-अनसोचे पाप का भगवान् स्वयं निवारण कर देते हैं। भगवान् कालकर्म के नियंता होने से ऐसा करने में समर्थ हैं ही।

'**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार-सागरात्**'- प्रभु जिस पर कृपा करने के लिए ठान लें, उसके उद्धारक वे स्वयं बनते हैं। ऐसी प्रभु की प्रतिज्ञा भी उनके कृपालुत्व और कृपासामर्थ्य को स्पष्ट करती है।

'**मार्गोऽयं सर्वमार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः**' सभी मार्गों से यह मार्ग उत्तम कहा गया है। इस मार्ग में प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल इन चार अंगों की एकरूपता है। इस कारण से यह मार्ग सर्वोत्तम मार्ग है। इस भगवन्मार्ग में भगवद्-वाक्य ही प्रमाणरूप हैं। विशिष्टरूप वेदार्थस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण इस मार्ग में प्रमेय रूप हैं। इसलिए प्रमाण और प्रमेय की दृष्टि से यह मार्ग उत्तम है। प्रेमतत्त्व साधन रूप होने से भी यह उत्तम है। भक्त चतुर्विध मुक्ति भी स्वीकारने के स्थान पर भक्ति की अपेक्षा रखते हैं। यही सिद्ध करता है कि प्रेम ही महान् साधन है। इस मार्ग का फल भी सर्वोत्तम है। जो फल ज्ञान, कर्म आदि साधनों से मिलता है, उन सबसे इसका फल उत्तम है, क्योंकि भक्तों को भगवान ही फल के रूप में मिलते हैं। इससे बढ़कर फल क्या हो सकता है?

पुष्टिमार्ग में प्रमाण से फल तक के चारों अंग भगवद्-रूप हैं। इसलिए यह उत्तम मार्ग है। इतना ही नहीं, किन्तु इस मार्गस्थ जीव की जब पुष्टिमार्गीय प्रमाण में प्रवृत्ति आरंभ होती है तब से लेकर उसे पुष्टि फल प्राप्त होने तक स्वयं भगवान् उसकी ही रक्षा करते हैं। **'यस्मिन्पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः'** इस मार्ग में जीव को पतन का भय नहीं है। भगवद्-आज्ञा को प्रमाण मानकर जो जीव इसमें प्रवृत्त होता है, उससे यदि साधन न बन सके तो प्रभु उसे कृतार्थ करते हैं। भगवान् स्वभाव से ही मोचक, मुक्तिदाता हैं, वे जीव को कृतार्थ करेंगे ही। **'पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः'** **'अनुग्रह पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः'** पुष्टिमार्ग भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही साध्य है, भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टिमार्ग में नियामक है।

'सर्वमार्गाणां भगवन्मार्गः उत्तमः' प्रभु-प्राप्ति के सब मार्गों से यह भगवन्मार्ग उत्तम है। इस मार्ग में सभी साधन सदा सफल होते हैं। भक्त का किया गया साधन सर्वथा सफल होता है, क्योंकि पुष्टि भक्त के हृदय में कामना उत्पन्न होने के पहले ही भगवान उसे पूर्ण कर देते हैं। वही कामना उत्पन्न होती है, जिसे प्रभु पहले ही पूर्ण करने का निश्चय कर लेते हैं। उसके मन में इस प्रकार यहाँ पहले फल सिद्ध होता है और उसके बाद साधन होता है। ऐसे इस भगवन्मार्ग में भक्त के द्वारा की गई सभी साधना सफल होना स्वाभाविक ही है।

इस भगवन्मार्ग की यह विशेषता है कि भगवदिच्छा तथा भगवत्-कृपा से बाधक तत्त्व भी बाधक नहीं रहते। प्रायः भोग और मोक्ष को एक-दूसरे का विरोधी माना जाता है, किन्तु भगवत्-कृपा होते ही इनका परस्पर विरोध भी नष्ट हो जाता है। भगवदीयों के मन में कभी यह इच्छा हो कि उन्हें विषयों का अनुभव नहीं हुआ, समान्य रूप से ऐसे प्रसंगों के अलावा स्वाभाविक रूप से मिले विषयों से तो भक्त का अनिष्ट ही होगा, इसलिए भक्त को स्वयं भगवान् ही विषय, संसार-संबंधी सुख देते हैं। इस कारण से भक्त को विषय-भोग भी सिद्ध प्राप्त होते हैं और उसे प्रमाद भी होता नहीं। यह प्रभु की कृपा है। इस प्रकार यह भगवन्मार्ग ही ऐसा है, जहाँ भोग और मोक्ष में विरोध नहीं है।

अनुग्रह नियामक

इस अनुग्रह मार्ग में प्रभु का अनुग्रह ही नियामक है। इसका स्पष्ट दर्शन प्रभु की दामोदर-लीला-प्रसंग में होता है। केवल प्रमेय बल से ही भक्तों के कार्य और इच्छा का निर्वाह होता है। प्रभु प्रमाण-विरुद्ध पदार्थ भी प्रमेय बल से सिद्ध कर देते हैं।

माता यशोदा ने भगवान् को बाँधा, तब श्री शुकदेवजी ने कहा- 'ब्रह्माजी, महादेवजी और लक्ष्मीजी इन तीनों को जो अनुग्रह नहीं मिलता है, वह अनुग्रह श्रीकृष्ण प्रभु से गोपी (यशोदा) को मिला है। प्रभु सबसे अधिक कृपा भक्तों पर करते हैं। ब्रह्माजी, महादेवजी और लक्ष्मीजी ये तीनों महान् भक्त हैं। भगवान के पुत्र, प्रवृत्ति धर्म के प्रवर्तक ब्रह्माजी, गुणावतार प्रलयकर्त्ता, निवृत्तिधर्म के प्रवर्तक शिवजी तथा भगवान् की अर्द्धांगिनी लक्ष्मीजी ये तीनों ही महान् भक्त भी उस कृपा को प्राप्त नहीं कर सके, जो श्री यशोदाजी को प्राप्त हुई।

सबको मुक्ति देने वाले भगवान् यशोदा के द्वारा ऊखल से बँधे। मुक्तिदाता प्रभु को कैसे बाँधा जा सकता है? किन्तु प्रभु की यही पुष्टि लीला है कि वे भक्त की इच्छा से बँध भी जाते हैं। इस मार्ग

में जीव के सभी कार्य भगवान् के प्रमेय बल से ही होते हैं। **'पुष्टिमार्गस्यानुग्रहैक नियाम्यत्वात् प्रमाणविरुद्धमपि प्रमेयबलेन भवति'**- पुष्टिमार्ग में अनुग्रह ही नियामक होने से प्रमाण-विरुद्ध पदार्थ भी प्रमेय बल से सिद्ध हो जाता है।

गुणहीन, कर्महीन और जातिहीन राक्षसी पूतना कपट करके भगवान् को मारने के लिए आई। प्रभु ने उसके प्राण हर लिए और तत्काल उसे मोक्षगति दे दी, जबकि मुचुकुन्द राजा तो भक्त था। उसने भगवत्स्वरूप का भावपूर्वक दर्शन किया, स्तुति की थी, फिर भी उसका उद्धार दूसरे जन्म में किया। इस फलभेद में भगवत्कृपा ही एकमात्र कारण हो सकती है, अन्य कुछ भी नहीं।

'दमला! यह मार्ग तेरे लिए प्रकट कियो है'- जो जीव निःसाधन हैं, निर्मल हैं, जो लीलासृष्टि के जीव हैं, उनके उद्धार के लिए यह मार्ग है। भगवदीयों के उद्धार के लिए इस मार्ग का प्राकट्य है। इसलिए इस मार्ग की स्थापना वैष्णवों हृदय में की गई है। वैष्णवों के हृदय में इस मार्ग की स्थापना होने से इस मार्ग को पुष्टि भक्तिमार्ग भी कहते हैं।

'जहाँ भक्ति, तहाँ भगवान्, जहाँ भक्ति नांहि तहाँ भक्तिमार्ग की रीति सों भगवान् न रहे।' भगवान् दो प्रकार से हृदय में विराजते हैं। भक्तिमार्ग की रीति से और साधारण रीति से। जब भगवान् साधारण रीति से हृदय में विराजते हैं, तब वह स्वरूप 'अन्तर्यामीस्वरूप' कहलाता है। अन्तर्यामी स्वरूप तटस्थरूप है, साक्षी रूप है। उसमें रसात्मकता नहीं है। जब कृपामार्ग में भक्तिमार्ग की रीति से भगवान भक्त के हृदय में विराजते हैं तो वह उनका भावात्मक स्वरूप होता है, तब भगवान् भक्त के हृदय के सब भावों का पोषण करते हैं।

अन्तर्यामी अकर्ता है, लेकिन हृदयरूपी शेष पर विराजमान स्वरूप तो सहस्रविध लक्ष्मियों, भावात्मा शक्तियों के साथ सहस्रविध लीलाएँ करते हैं। इस प्रकार भक्त के हृदय को भावात्मा प्रभु लीलानिकुंज बना देते हैं।

'भक्तन को उत्कर्ष जामे होई, सो भक्तिमार्ग कहावे।' भक्तिमार्ग भक्त के उत्कर्ष के लिए है। भगवदीय जीव का परम उत्कर्ष कैसे होता है, इसके लिए अलीखान पठान की पुत्री का प्रसंग मननीय है। श्रीनाथजी की कृपा से अलीखान पठान को व्रज के वृक्ष, व्रज की लताओं तथा व्रज के स्वरूप का ज्ञान हुआ। उन्होंने गाँव-गांव यह ढिंढोरा पिटवाया कि 'जो भी व्यक्ति व्रज के वृक्ष, वृक्षों की डालियाँ-पत्तियाँ तोड़ेगा, उसके हाथ-पाँव की अंगुलियाँ मैं तोड़ दूँगा।'

अलीखान की एक सुंदर पुत्री थी। अलीखान को उससे बड़ा प्रेम था। पुत्री को खेलने के लिए उसने अलग मकान बनवा दिया था। उस मकान की नींव खोदते समय श्री ठाकुरजी का एक अतिसुंदर स्वरूप प्राप्त हुआ। अलीखान ने यह स्वरूप अपनी पुत्री को लाकर दिया। पुत्री उसके साथ 'सेवा' प्रकार से खेलने लगी। खेल-खेल में 'यथा देहे तथा देवे' के अनुसार अपने लिए जो कुछ करती, वह सब भगवान् के स्वरूप के साथ करने लगी, प्रभु को स्नान कराना, वस्त्र, आभूषण धारण कराना आदि। प्रभु के साथ खेलते-खेलते उसे उस स्वरूप में दृढ़ आसक्ति हो गई।

प्रभु भी उसे साक्षात् दर्शन देने लगे। उसके साथ प्रभु रास करते थे। प्रभु ने ही उसे और उसके पिता को श्री गुसांईजी के पास भेजा और पुष्टिमार्ग में दीक्षित करवाया। इस प्रकार प्रभु भक्त का स्वयं

वरण करते हैं और उनका उत्कर्ष तथा उद्धार करते हैं।

पुष्टि मार्ग के दस मर्म/धर्म

> ***आसरो एक दृढ़ श्री वल्लभाधीश को***
> ***मानसी रीत की मुख्य सेवा व्यसन, लोक-वैदिक त्याग शरण गोपीश को।***
> ***दीनता भाव उद्‌बोध गुणगान सो, घोषत्रिय भावना उभय जाने।***
> ***श्रीकृष्णा नाम स्फुरे, पल न आज्ञा न टरे, कृति वचन विश्वास दृढ़ चित्त आने।***
> ***भगवदीय जान सतसंग को अनुसरे, ना देखे दोष अरु सत्य भाखे।***
> ***पुष्टिपथ मर्म दश धर्म यह विधि कहे सदा चित्त में 'द्वारकेश' राखे।***

पुष्टिमार्ग के मर्म रूप दस धर्म हैं, जो कि प्रत्येक भगवदीय को अपने जीवन में उतारना चाहिए। ये दस धर्म ही हमें सच्चा वैष्णव बनाते हैं।

भगवदीयों का प्रथम धर्म है **श्री महाप्रभुजी का दृढ़ आश्रय करना।** श्री वल्लभ के चरणों के नखचंद्र की छटा बिना सम्पूर्ण जगत् में, चारों युगों में अंधकार ही अंधकार है। ऐसा समझकर उनके चरणों का दृढ़ता से आश्रय करना चाहिए।

दूसरा धर्म है, भगवान् की **मानसी सेवा को मुख्य मानकर भगवत्सेवाव्यसनी होना।** जिस प्रकार व्यसनी को अपने व्यसन के बगैर चैन नहीं पड़ता; ठीक उसी प्रकार भगवदीय के चित्त में भगवत् प्रवणतारूप (मानसी) सेवा के बगैर चैन न पड़े, ऐसी भगवद्-आसक्ति रखना।

तीसरा धर्म यह कि वैष्णव **लोकवेद के धर्मो को (भगवत्सेवा में बाधक समझकर) त्यागकर, श्री गोपीजनवल्लभ प्रभु की अनन्यभाव से शरण** स्वीकार करें।

सदा दीनताभाव रखकर प्रभु के गुणगान करना यह वैष्णवों का चौथा धर्म है। रास के प्रसंग में भगवान् के अन्तर्धान होने के समय ब्रजवासियों ने जिस दीनतापूर्वक 'गोपी-गीत' का गान किया था, उसके भावों के अनुसार पुष्टिमार्गीय भगवदीय को प्रेरणा लेना चाहिए। संयोग और वियोग दोनों में सेवा की रीति और भगवान् की प्रीति में **ब्रजस्त्रीभाव, गोपीभाव को मुख्य समझना** यह पाँचवाँ धर्म है। छठा भगवद्-धर्म यह है कि भगवदीय के **हृदय में सतत कृष्ण नाम का गुंजार होता है।**

सातवाँ धर्म है, **भगवदाज्ञा और गुरु आज्ञा के अनुसार चलना।** आठवाँ धर्म यह है कि वैष्णव को **मन, वचन और कर्म से भगवान् में दृढ़ विश्वास** रखना चाहिए चातक का दृष्टांत विचारकर चातक के समान पूर्ण विश्वासी होना चाहिए। नवाँ धर्म यह है कि **भगवदीय, वल्लभीयजन का संग करे,** उनके साथ सत्संग करें।

दसवाँ धर्म यह है कि भगवदीय की वाणी विशुद्ध हो। वह **किसी के दोषों को न देखे और सदा सत्य बोले।** इस प्रकार वाणी को पवित्र रखे।

ऐसे धर्मयुक्त वैष्णव प्रभु को प्राणों से भी प्यारे होते हैं।

स्वाध्याय-२०

पुष्टि-पुरुषार्थ

'**विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्।**' श्रीकृष्ण ही प्रमेय रूप हैं। भक्तिमार्ग में प्रमाण से प्रमेय ही जीव को अधिक अनुकूल है। प्रमेय विशिष्ट रूप है, यानी कि प्राकृत धर्म का आश्रय नहीं है, किन्तु यह स्वयं अप्राकृत निखिल धर्म और रूप वाला है। वेद पूर्वकांड में क्रिया रूप में और उत्तरकांड में ज्ञान रूप में इस प्रकार दोनों रूपों में ब्रह्म का निरूपण करते हैं। क्रिया और ज्ञान उभय धर्म से युक्त श्रीकृष्ण ही पुष्टिमार्ग के फलरूप हैं। प्रमाणशास्त्र, उसमें भी मुख्य रूप से श्री गीताजी तथा श्री भागवतजी ज्ञान और क्रिया इन उभयधर्म से विशिष्ट धर्मरूपी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का प्रतिपादन करते हैं।

धर्म

स्वरूपमात्रपरता, तात्पर्यज्ञानपूर्वकम्।
धर्मनिष्ठा यत्र नैव पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥

पुष्टिमार्ग में श्रुति, स्मृति और पुराणादि में प्रतिपादित धर्मों का तात्पर्य भगवान् ही हैं और भगवत्-प्राप्ति में अन्तराय करने वाले धर्मों का त्याग किया जाता है। पुष्टिमार्ग में भगवत्स्वरूप परायणता ही धर्म है।

सब धर्मों का तात्पर्य भगवान् हैं। धर्म की व्याख्या ही यह है कि '**येनैव कृष्णसंबंधो धर्मः सोऽत्र निरूप्यते**' जिसके द्वारा कृष्ण से संबंध हो, वही धर्म है।

बाधक धर्म को त्याग करने की आज्ञा है ही- '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' सब धर्मों का जो कि बाधक हो, त्याग करना चाहिए। '**धर्मो धर्मीमूलः तदविरोधेन कर्त्तव्यः**' धर्म का मूल धर्मी अर्थात् भगवान हैं। भगवद्-अविरोधी धर्म का आचरण करना चाहिए, यदि वह धर्म धर्मी भगवान् के विरुद्ध न हो। पुष्टि धर्म सिद्ध करने के लिए अर्थात् पुष्टि फल की कामना हो, उसके लिए नीचे लिखे धर्म के चार अंगों का परिपालन करना आवश्यक है-

गुणगानं तथा दुःखभावनं दैन्यमेव च।
तथा त्यागः सिद्धदृशः कृत्यमेतच्चतुष्टयम्॥

मुझे पुष्टिमार्ग सिद्ध हो, ऐसी जिसकी इच्छा हो, उसे भगवान् का गुणगान, भगवान् के विप्रयोग की, आर्ति की वेदना का अनुभव, दीनता तथा (असमर्पित, अन्याश्रय, अहंकार आदि) बाधक तत्त्वों का त्याग करना चाहिए। ये चार पुष्टिमार्गीय धर्म के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जैसे- सत्य, तप, दया और पवित्रता ये मर्यादा धर्म के चार चरण हैं। वैसे ही पुष्टि धर्म के ऊपर लिखे चार चरण हैं। इनके

आचरण करने से प्रभु प्रसन्न होते हैं। मर्यादा धर्म का फल मुक्ति है, जबकि पुष्टि धर्म का फल सिर्फ भगवान की प्रसन्नता है और '**सर्वस्य मूलं सत्संगः**' इन सबका मूल सत्संग है। सत्संग बगैर कुछ भी सिद्ध नहीं होता। श्रीकृष्ण का भजन, सेवा ही धर्म है। '**स्वस्यायमेव धर्मो हि**' पुष्टि जीव का यही धर्म है। सभी तरह से इसका पालन करना चाहिए।

'**पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मः**' श्रीहरि के दास बनकर रहना, उनके सेवक बनकर सेवा करना, यही वैष्णव का धर्म है।

अर्थ

'प्रभुः सर्वसमर्थो हि' भक्त की सच्ची सम्पत्ति, निधि भगवान हैं। सांसारिक सम्पत्ति तो पानी के बुलबुले जैसी, चंचल और अल्प सुख देने वाली है। धन-सम्पत्ति जितना सुख देती है, उससे ज्यादा दुःख देती है। द्रव्य घर और स्वजन रूपी सम्पत्ति मनुष्य को परिणाम में भय, शोक, स्पृहा, परिभव और विपुल लोभ देने वाली है। अतः सांसारिक सम्पत्ति दुःखी करती है। धन होता है, तब उसके नाश होने का भय होता है। जब धन नष्ट हो जाता है तो उसके जाने का शोक जागता है। शोकातुर मनुष्य फिर से अधिक धन प्राप्त करने की इच्छा में डूब जाता है। यदि यह इच्छा पूरी नहीं हो तो बार-बार वह शोकग्रस्त होता है। यदि धन मिल गया, तो भी उसे संतोष नहीं होता और अधिक लोभ होता जाता है तथा अधिक और अधिक धन पाना चाहता है।

भगवदीय के लिए प्रभु 'सम् अर्थ' सुयोग्य सम्पत्ति रूप है। यानी कि भक्त का सच्चा धन भगवान् ही हैं।

भगवद्-भक्ति भगवदीय की सच्ची सम्पदा है। प्रभु अच्छी तरह जानते हैं कि भक्त की इस आधिदैविक सम्पदा, सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए, इसलिए वे स्वयं भक्ति-सम्पदा की रक्षा करते हैं। सम्पत्ति हमेशा सुरक्षित रखना चाहिए, यदि इसे अच्छी तरह रख सकें तो निश्चिन्त हो सकते हैं। कृपामार्ग में भक्त की इन दैवी सम्पत्ति की रक्षा तो प्रभु करते ही रहते हैं।

भक्त की भक्तिरूपी सम्पत्ति को सबसे बड़ा डर बहिर्मुख लोगों से रहता है। भगवद्-विमुखों का संग दुःसंग है और वह दुःसंग अपने भगवद्-भाव का नाश करता है। जिस प्रकार चोर से धन की सुरक्षा करना आवश्यक है, उसी प्रकार वैष्णवों को विमुखजीवों से इस भक्ति, भगवद्भाव रूपी धन को बचाना चाहिए।

सारांश यह है कि भगवदीय की सम्पत्ति भगवान् और भगवान् की भक्ति ही है। यदि भक्त के पास ये दो हैं, तो वह समृद्ध है। यदि ये दो नहीं हैं, तो वह निर्धन है।

'**अर्थो हरिरेव हि**' लौकिक-वैदिक सर्व पदार्थों का त्याग करके एक श्रीकृष्ण को ही अपना सर्वस्व, एकमात्र सम्पत्ति समझें। जिस प्रकार वृत्रासुर ने कहा था कि- 'मुझे इन्द्रपद की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि कालान्तर में इसका नाश होता है, ब्रह्म का लोक भी मुझे नहीं चाहिए, क्योंकि उसमें ब्रह्मा के साथ ही मुक्ति संभव है। इसलिए यह पराधीनता है। मुझे चक्रवर्ती राजा भी नहीं होना, क्योंकि राज्य-सुख में भी घट-बढ़ होती रहती है तथा लालसा,द्वेष आदि रहते हैं। देह के अन्त के साथ उस

राजापने का भी अन्त आ जाता है। मुझे रसातल का वैभव भी नहीं चाहिए, क्योंकि लक्ष्मी से मिलने वाला सुख अनित्य है, आपस में विरोध उत्पन्न कराने वाला है। मुझे योगसिद्धियाँ भी नहीं चाहिए, क्योंकि योगमार्ग में योगभ्रष्ट होने का भय होता है, मुझे मुक्ति की प्राप्ति में भी रस नहीं है, क्योंकि ज्ञानसाध्य मुक्ति में गणितानंद है, सीमित आनंद है, पूर्णानंद नहीं है। भक्त जब मोक्ष की भी उपेक्षा कर देता है, तो अन्य भौतिक सांसारिक तथा स्वर्ग-ब्रह्मादि लोकों की सुख-सम्पदा की तो बात ही कहाँ है? भक्त के लिए तो भगवान् ही परिपूर्ण समस्त अर्थरूप हैं।

काम

'**कामो हरिदिदृक्षैव**' पुष्टिमार्ग में जीवों के हृदय में सर्वदा भगवत्स्वरूप के सौंदर्य का दर्शन करने की कामना रहती है। भक्त के मनरूपी मधुकर को भगवान् के मुख-कमल का रसपान करने की लालसा सतत रहती है। जिसके पंख फूटे नहीं, ऐसे पक्षी-शावक, पक्षियों के बच्चे, जिस तरह माता के आने की प्रतीक्षा करते हैं कि हमारी माता कब आएगी और हमें दाना खिलाएगी, ऐसी आतुरता भक्त में भी रहती है कि भगवान कब दर्शन देंगे और हमें सुखी करेंगे। जो अभी घास खाना नहीं सीखे हैं, ऐसे गाय के अबोध बच्चे, भूख से व्याकुल होकर जिस तरह दूध की कामना रखते हैं कि हमारी माँ आएगी और हम दूध पीएँगे, इसी तरह भक्त के मन में भगवान की उत्कट इच्छा रहती है कि मुझे कब भगवान के दर्शन होंगे। परदेश गए अपने प्राणप्रिय पति के वियोग में दुःखी, पतिप्रिया स्त्री, जिस तरह अपने प्रिय पति के दर्शन की तीव्र अभिलाषा रखती है, उसी प्रकार भक्त का मन भगवान के दर्शन की उत्कट कामना करता है। यह कामना ही काम पुरुषार्थ है। यह अलौकिक मनोरथ ही काम पुरुषार्थ है। लौकिक कामना तो बंधन रूप है।

मोक्ष

'**जीवानां कृष्ण-संबंधो भक्तिमार्गे विमोचनम्**'- जीवों का श्रीकृष्ण के साथ संबंध होना ही पुष्टि भक्तिमार्ग का मोक्ष है। भक्तिमार्ग के जीव की मुक्तस्थिति के दो प्रकार हैं- (१) भक्त की भगवान् में स्थिति और (२) भगवान् की भक्त हृदय में स्थिति। भक्त की भगवान् में स्थिति होना सायुज्य मुक्ति है। पुष्टिमार्ग में यह परमफल नहीं है। पुष्टिमार्ग में फलरूप संबंध तो भक्त के हृदय में भगवान् की स्थिति होना है। यह मुक्त दशा वास्तव में भक्ति की फलात्मक दशा ही है। 'फलभक्तिस्ततो भिन्ना प्रभोर्भक्त-हृदि स्थितिः' भगवान् भक्त के हृदय में विराजते हैं और वहीं सब प्रकार की लीलाएँ करते हैं। इस प्रकार जीव मुक्तावस्था के आनंद का उपभोग करता है।

'**मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्**'- सदा श्रीकृष्ण के दास होकर रहना ही भक्त के लिए मोक्ष है। भगवदीयों को सायुज्य आदि अन्यमोक्ष की अभिलाषा होती ही नहीं। सायुज्य में भगवान् का अनुभव नहीं होता। भक्त को तो माहात्म्यज्ञानपूर्वक श्री हरि के गुणों, श्री हरि का नाम, श्री हरि की लीला और श्री हरि के स्वरूप के श्रवण-कीर्तन और स्मरण में ही मुक्ति पुरुषार्थ सिद्ध होता है।

ज्ञानी को असंग में मुक्ति का आनंद मिलता है। भक्त को भगवदीयों के संग में आनंद मिलता है। उनके लिए तो भगवदीयों के संग में रहकर भगवत्-प्रेम के आवेश में निमग्न रहने में ही मोक्षसुख है।

साधारण जीव के लिए त्रिगुणात्मक देह, गेह, धन, स्वजन आदि में अहंता-ममता-रूपी बंधन का टूट जाना मुक्ति है। पुष्टिजीव की मुक्ति तो कुछ अलग ही है। भगवदीयों की मुक्ति तो मर्यादा मुक्ति से, स्वरूप, साधन और फल सभी दृष्टि से विलक्षण है। पुष्टिमार्ग में तो प्रभु निःसाधन जीवों को ही अंगीकार करते हैं। प्रभु की सेवा घर में ही हो सकती है, इसलिए घर में रहकर भगवत्सेवा का आनंद भगवत्-स्वरूप का संग या संबंध याने कि भजनानंद का अनुभव ही फल है। इसलिए फलस्वरूपा भगवत्सेवा तथा भगवत्-स्मरण का कभी त्याग नहीं करना ही वैष्णवों का परम-पुरुषार्थ है।

अनेक जन्मों के पापों के कारण संसार के दुःख से तप्त जीवात्मा को भक्तिरस में नित्य त्रिकाल स्नान कराने वाले सत्संगी भगवदीय अपनी सत्संगरूपी कृपा बरसाते हैं। यदि श्री शुकदेव आदि गुरुजनों ने परीक्षित जैसे जिज्ञासुओं को भगवत्-लीला के रस में निमग्न न किया होता तो उनके संसार-ताप की निवृत्ति किसी प्रकार से नहीं हो सकती थी। श्री शुकदेवजी, सनकादि मुनियों जैसे सत्संगी महानुभाव तो आत्यन्तिक अपवर्ग अर्थात् परमपुरुषार्थ रूपी मोक्ष या स्वयंसिद्ध मोक्ष का किंचित् भी आदर नहीं करते। ऐसा क्या कारण है कि वे महापुरुष परमपुरुषार्थ रूप मोक्ष का भी अनादर करते हैं? इसका कारण यह है कि 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' पराभक्ति से संप्राप्त भगवदीय भाव ही भगवदीयों के लिए सबसे महान् पुरुषार्थ है। भगवदीय भाव में ही उनके सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

एक दिन श्री महाप्रभुजी श्री गोवर्धननाथजी का शृंगार कर रहे थे। उस समय ऐसा भाव जागा कि दही मिले तो प्रभु को समर्पित करें। अतः उन्होंने प्रभुदास जलोटा को आज्ञा की- 'कहीं अगर दही मिले तो ले आवो।' प्रभुदासजी दही लेने चले, रास्ते में एक ग्वालन मिली। उससे उसने पूछा- 'तेरे पास दही है?' उसने उत्तर दिया- 'दही तो बहुत मीठा है, क्या भाव दोगे?' प्रभुदास जानते थे कि इस दही से प्रभु को सुख मिलेगा। इसलिए उन्होंने कहा- 'तू जो माँगेगी वह दाम दूँगा, किन्तु मुझे दही दे दे।' ग्वालन ने कहा- 'एक टका दे और तू कहा मोहे मुक्ति देगा।' (एक टका दे, तू और क्या देगा, मुक्ति तो दे नहीं देगा।)

प्रभुदास ने उसे दही के बदले टका भी दिया और मुक्ति भी दी। घर आने के कुछ देर बाद ग्वालन का अन्तकाल आ गया। 'श्री आचार्यजी के सेवक प्रभुदास ने इसे दही के बदले में मुक्ति दे दी है'- ऐसा कहकर विष्णुदूतों ने उसे यमदूतों से छुड़ा लिया।

श्रीनाथजी को भोग में वह दही धरा तो प्रभु ने उसे बहुत सराहा। तब श्री महाप्रभुजी ने पूछा- 'दही बहुत सुंदर था, अति मधुर था, तुम क्या न्यौछावर देकर लाए?'

श्री प्रभुदास ने उत्तर दिया- 'महाराज! महा मोंघो आयो है। दही के पलटे मुक्ति दीनी है।' (बहुत महंगा आया है दही। इसके बदले मुक्ति देनी पड़ी।) तब श्री महाप्रभुजी ने बहुत सुंदर बात कही- 'भक्ति क्यों न दीनी? श्री ठाकुरजी प्रीतीसों आरोगे, तुच्छ मुक्ति कहा दीनी?' (दही उत्तम था, प्रभु ने कितनी प्रसन्नता से आरोगा। उसे बदले में भक्ति देना थी। तुच्छ मुक्ति क्यों दी?) प्रभुदास ने उत्तर दिया- 'उसने मुक्ति माँगी थी। यदि वह भक्ति माँगती तो भक्ति जरूर देता।' भक्ति ही भक्तों का परमपुरुषार्थ है- इसका कितना सुंदर उदाहरण है यह प्रसंग।

श्री नरसिंह मेहता कहते हैं- 'हे हरि, आपके भक्तों को अलग-अलग उपायों से सिद्ध होने वाली चतुर्विध मुक्ति की लालसा रहती ही नहीं। भगवदीय तो जन्म-जन्मान्तर तक आपकी भक्ति की ही याचना करते रहते हैं, क्योंकि **भक्ति ही पुरुषार्थ है- भक्ति ही परम पुरुषार्थ है।'**

चतुरधा भक्ति छे जूजवी जुक्तिजी, ताहरा नेहजे नव राये।
बेउ कर जोडीने 'नरसैयो' विनवे, जन्मो जन्म तारी भक्ति जाये।।

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। (सुबो. २-१०-४)

जिस प्रकार गाय बछड़े को देखकर स्नेह से व्याकुल हो जाती है, उसी प्रकार भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तों को देखकर व्याकुल हो जाते हैं और अपनी कृपा दृष्टि उन पर बरसाने लगते हैं। (सु. १-११-१०)

'भगवान् मेरे हैं', ऐसा अभिमान जब भक्त के मन में होता है, तब भगवान् उस पर अभूतपूर्व कृपा करते हैं। (सु. १०-९-१९)

कर्म से और ज्ञान से भी भगवत्-प्राप्ति रूपी फल प्राप्त होता है। किन्तु इन साधनों से फल उन्हीं को प्राप्त हो सकता है, जिन पर भगवान् की कृपा होती है। इससे यह सिद्ध है कि फल-प्राप्ति का मुख्य साधन भगवान् की कृपा ही है। (भागवतार्थ प्रकरण स्कन्ध-१)

उत्तम पुरुष द्वारा भगवान् का निष्कपट भाव से भजन करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं और उनकी कृपा प्राप्त होती है। (भा.प्र. स्कन्ध-३-अ.२१)

भगवान् जब प्रसन्न होते हैं तो अपना सर्वस्व अथवा जो उत्तम होता है वह भक्त को प्रदान करते हैं। जो भक्त स्वधर्म अर्थात् भगवद् धर्म का परिपालन करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें सर्वस्व या उत्तमोत्तम फल रूप भगवान् कृपा स्वरूप प्राप्त होते हैं। (सुबो. ३-२३-७)

राग सोरठ

जा पर कमलाकांत ढ़रे।
लकरी-घास को बेचन हारो ता सिर छत्र धरे।।
विद्यानाथ अविद्या समरथ जो कछु चाहे सोई करे।
रीते भरे, भरे पुन ढोरे, जो चाहे सो फेर भरे।।
सिद्ध पुरुष अविनाशी समरथ कालते न डरे।
'परमानंददास' यह संपति मनतें कबहु न टरें।।

स्वाध्याय-२१

भक्ति

महाप्रभु श्री वल्लाभाचार्य भक्ति का अर्थ करते हैं- प्रेमपूर्वक सेवा। '**भक्तिः प्रेमपूर्विका सेवा**'। भक्त भगवान् की स्नेहपूर्वक सेवा करे, यही भक्ति है।

'**स्नेहो माहात्म्यं च मिलितं भक्तिभर्वति**'- भगवान् के प्रति स्नेह और उनके माहात्म्य का ज्ञान जब एकत्र होते हैं, तब भक्ति होती है। कपिल भगवान् व्याख्या करते हैं-

देवानां गुणलिंगानामानुश्रविक कर्मणाम्।
सत्त्व एवैके मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्यासु या कोशं निगीर्णमनसो यथा॥

जिनकी शुद्ध सत्त्वरूप भगवान् में एकनिष्ठा है, जिनकी इन्द्रियाँ दैवी स्वभाववाली हैं, जिनके कर्म वेदधर्म के अनुकूल हैं, ऐसे महानुभाव की भगवान् के प्रति स्वाभाविकी मनोवृत्ति को 'भक्ति'कहते हैं। यह मनोवृत्ति स्वाभाविकी (सहज) हो, अनिमित्त (स्वतंत्र) हो और भागवती (भगवान की ओर बहने वाली) हो, उसका नाम भक्ति है।

ऐसी भक्ति सायुज्यमुक्ति से भी उत्तम है। खाए हुए अन्न को जिस प्रकार जठराग्नि पचा जाती है, उसी प्रकार यह भक्ति मनुष्य के लिंग शरीर को तुरंत जीर्ण कर देती है। यह उत्तम भक्ति अहैतुकी होती है। उसमें फल की आकांक्षा नहीं होती। काल और कर्म का व्यवधान भी नहीं होता। स्नेहपूर्वक की जाने वाली सेवा ही इसका मुख्य लक्षण है। भक्तों को सालोक्य (वैकुंठवास), सार्ष्टि (प्रभु के समान ऐश्वर्य), सामीप्य (भगवत्-समीप स्थिति), सारूप्य (भगवान् के समान चतुर्भुजत्वादि रूप) तथा एकत्व (सायुज्य) इन मुक्तियों का दान किया जावे तो भी भगवत्-भक्त उसे स्वीकार, ग्रहण नहीं करते। वे तो केवल भगवत्-सेवा को ही स्वीकारते हैं। यह आत्यंतिक भक्तियोग है। यही निर्गुण भक्ति कहलाती है। नारद पांचरात्र में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार है-

माहाम्त्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

प्रभु का माहात्म्य जानकर अच्छी तरह दृढ़ और सबसे अधिक जो स्नेह है, उसे भक्ति कहा जाता है।

निर्गुण भक्तियोग का लक्षण मन की गति से जाना जाता है। पर्वत आदि अवरोधों को भेदकर भी जिस प्रकार गंगा का जल सागर में जाता है, उसी प्रकार जब लौकिक-वैदिक प्रतिबंधों को दूर कर मन भगवान् में ही गति करता है, तो वह निर्गुण भक्तियोग कहलाता है।

यह भक्ति कारण या फल की कामना से रहित याने कि अहैतुकी होनी चाहिए तथा ऐसी भक्ति में काल अथवा कर्म से किसी प्रकार का अन्तराय भी नहीं होता। इस प्रकार यह भक्ति अप्रतिहता होती है।

भक्ति परम साधन

भक्तिमार्ग की एक विशेषता यह भी है कि भक्तितत्त्व भगवान् और भक्त दोनों के लिए सुखकारी है। यज्ञ, तप, योग जैसे साधनों में कर्त्ता को बहुत परिश्रम होता है, किन्तु इन स्नेहरहित केवल क्रियात्मक साधनों के द्वारा भगवान भी कर्त्ता के आग्रह के वश में होकर उदासीन भाव में प्रकट होते हैं। भगवान वहाँ केवल शास्त्रमर्यादा को ध्यान में रखकर प्रकट होते हैं, इसलिए वे कुछ मर्यादा भी रखते हैं। भक्तिरूप साधन में, भक्तिमार्ग में ऐसा नहीं होता। इसमें तो भगवान् स्नेहवश होकर स्वेच्छा से कृपा करके मर्यादा छोड़ कर प्रकट होते हैं। साधनों के वश में होने में प्रभु को श्रम होता है। स्नेहवश होने में उन्हें सुख मिलता है। यज्ञ, तप आदि साधन में प्रभु निश्चित किए हुए फल का ही दान करते हैं। जबकि भक्तिमार्ग में कृपानिधान प्रभु स्नेहवश होकर स्वेच्छा से ही किसी भी मर्यादा के बंधन के बगैर चाहे जिस भक्त (उच्च वर्ग का हो या निम्न वर्ग का) के घर कृपा करके भावपूर्वक प्रकट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु भक्त पर कृपा करके स्वयं का भी दान कर देते हैं। भगवान भक्त को उत्तमोत्तम फल, स्वरूपानंद रूपी अलौकिक सुख का दान करते हैं। इसलिए '**भक्तिमार्गान्मार्गान्तरं साधनतः फलतश्च न समीचीनम्**' भक्तिमार्ग के सिवाय कोई भी मार्ग साधन की दृष्टि से या फल की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है।

भक्तिमार्ग की महत्ता

मानव की तीन प्रमुख एवं प्रबल इच्छाएँ होती हैं- (१) दुःख की निवृत्ति (२) सुख की प्राप्ति (३) सभी काल में स्थिति (अस्तित्व) बनी रहना। सभी इन तीनों की कामना करते हैं, किन्तु इन तीनों की प्राप्ति कैसे हो, इसका उपाय मानव जानता नहीं है। इन तीनों इच्छाओं की पूर्ति जिसमें हो उसे ही 'कल्याण' कहते हैं और शास्त्र में कहते हैं कि मानव को 'कल्याण' तीन उपायों से ही मिल सकता है। ये तीन उपाय ही कल्याण के तीन मार्ग हैं- कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। इन तीनों मार्गों में से किसी भी मार्ग पर सम्यक् रीति से जो चलता है, उसका कल्याण होता है।

अधिकार की दृष्टि से इन तीन मार्गों के अधिकार में भी भेद है। जिस मनुष्य का चित्त अनेक कामनाओं से भरा हुआ है एवं संसार-सुख से तथा विविध कर्मकांड से जिसकी विरक्ति नहीं हुई है, उसके लिए कर्मकांड श्रेयस्कर है। किन्तु दृढ़ वैराग्यवान् अनासक्त मुमुक्षु के लिए ज्ञानमार्ग ही उत्तम है, क्योंकि ज्ञानमार्ग का फल ऐहिक या पारलौकिक सुख नहीं, किन्तु मोक्ष है। भक्तिमार्ग की विशेषता यह है कि जिसमें कर्म और कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले ऐहिक-पारलौकिक फल में अति आसक्ति भी नहीं है और जिसमें दृढ़ वैराग्य भी नहीं है, ऐसे अधिकारी को प्रभुकृपा से प्रभु के श्रवण, कीर्तन आदि में श्रद्धा होती है। उसे भक्तिमार्ग या भक्तियोग का परमेश्वर दान करते हैं। इस दृष्टि से वर्तमान समय में भक्तिमार्ग के अधिकारी ही अधिक हैं।

किसी को भी ऐसी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि सतयुग, त्रेतायुग जैसे युगों से कलियुग हीन है और इसी कारण कलियुग में अधिकारी भी हीन ही उत्पन्न होंगे, संभवतः इसलिए इनको ध्यान में रखकर भक्ति जैसे हीन साधनों का उपदेश किया गया होगा। भक्तिरूपी साधन हीन नहीं है। इसके विपरीत स्थिति यह है कि कर्म, ज्ञान, योग जैसे साधन अपनी फलसिद्धि के लिए भक्ति की अपेक्षा रखते हैं, जबकि भक्तिमार्ग सर्वस्वतंत्र मार्ग है। भक्ति के बगैर अन्य साधन साधक के लिए सुखरूप नहीं होते। भक्ति के बिना कर्ममार्ग थका देने वाली नीरस बेगार बन जाता है। भक्ति के बिना ज्ञान शुष्क और तर्कबाजी मात्र बन जाता है और भक्ति के बगैर योग भी श्रम और क्लेश बन जाता है। भक्ति के अभाव में अन्य सर्वसाधन फलदायी नहीं होते।

भक्ति ही महान् साधन है। कर्मयोग में, कर्म में ज्ञानी का चित्त भी कभी चलायमान होकर मोहग्रस्त हो जाता है। योगमार्ग में अनेक जीव योगभ्रष्ट-तपोभ्रष्ट हो जाते हैं, किन्तु भक्तिमार्ग में तो स्वयं भगवान ही भक्त का अवलम्बन, सहारा बन जाते हैं। इसलिए भक्त को पूर्ण सुरक्षा और पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। भगवान् स्वयं कहते हैं- **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।

भक्ति रस

भक्ति रसरूपा है। रस रूप परमात्मा के प्रति भक्त के भाव भी रसरूप होते हैं। नीरस, निष्काम और निःस्पृह मुनियों को भी भक्तिरस, आर्द्र, भावुक और भगवान् के दर्शन की कामना के लिए व्याकुल बना देता है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथा अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

आत्मा में ही रमने वाले, क्रोध और अहंकार रूपी गाँठ से मुक्त मुनि भी भगवान् की निष्काम भक्ति करते हैं। श्री हरि हैं ही ऐसे, अलौकिक आकर्षण से युक्त।

श्रीकृष्ण की भक्ति करना अर्थात् आनंद-समुद्र में रमण करना। जो मनुष्य मोक्ष के अधिष्ठाता भगवान् मुकुन्द की भक्ति करते हैं, वे सच्चिदानंद अमृत-समुद्र में क्रीड़ा करते हैं, क्षुद्र गड्ढे के जल के समान स्वर्गादि सुख से उन्हें क्या प्रयोजन?

साधन से भक्ति

भगवद्-भक्ति सरलता से प्राप्त नहीं होती। उसे पाने के लिए कई साधन करने पड़ते हैं।

दान-व्रत-तपो-होम-जप- स्वाध्याय-संयमैः।
श्रेयोभिर्विविधेश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥

दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयम और ऐसे ही दूसरे कई कल्याणकारी साधनों से भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति सिद्ध होती है। इस प्रकार साधन करने पर भक्तिमार्ग में हजारों जन्मों बाद प्रेम जागृत होता है।

कृपा से भक्ति

जीव का भक्तिमार्ग में प्रवेश तभी संभव है, जब उस पर भगवत्कृपा हो। भक्तिमार्ग सभी मार्गों से सरल है, फिर भी उसमें सभी जीवों की प्रवृत्ति नहीं होती। इसका कारण यह है कि भक्तिमार्ग में अभिरुचि भगवत्-कृपा से ही होती है।

यदि किसी को ऐसा लगे कि मुझ पर भगवत्-कृपा नहीं है, तो उसे निराश न होते हुए दीनतापूर्वक निर्दोष जीवन जीते हुए सतत् शरणभाव बनाए रखना चाहिए, इससे उस पर प्रभु की कृपा की दृष्टि होती है।

सर्वथा चेत् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि।
तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि॥

श्रीहरि की कृपा बिना भक्तिमार्ग में कुछ भी संभव नहीं है। भगवत्कृपा के बिना भक्ति का फल भी असंभव है। भक्ति के लिए शास्त्र में जो साधन बताए गए हैं, उनका फल भी भगवान् की कृपा से ही मिलता है। भक्तिमार्गीय वेश, वचन और आचार ये भी भगवान् की कृपा से ही संभव होते हैं।

भक्ति परम साधन

पूर्ण अवतार भगवान श्रीकृष्ण निर्गुण-साकार ब्रह्म हैं। उनके भक्त को भोग और मोक्ष अनायास सुलभ हो जाते हैं। कृष्णभक्ति से तो अहीर स्त्रियाँ (गोपियाँ), गायें आदि सभी मुक्ति से अधिक उत्तम उच्चगति को प्राप्त हुए हैं। यह भगवत्संबंध के बल से ही संभव हुआ।

शास्त्रों में ज्ञान आदि जो साधन फलदायी बताए गए हैं, वे सभी भगवान् की कृपा रूपी सामर्थ्य से फलीभूत होते हैं। साधनों में जो सामर्थ्य है, वह सामर्थ्य साधन का नहीं, किन्तु भगवत्कृपा का है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए या भगवत्-प्राप्ति के लिए प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। अन्य साधनों से संभव है, कभी मुक्ति तो मिल जाए, किन्तु भगवान् की प्राप्ति तो प्रेम से ही संभव है।

भगवान ने उद्धवजी को उपदेश देते हुए कहा है कि जो फल, योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, स्वाध्याय, व्याख्यान तथा संन्यास जैसे उपायों से नहीं मिलता, उस सर्वोत्तम फल की प्राप्ति सर्वधर्म-परित्याग करके सबकी आत्मा मुझ (श्रीकृष्ण की) शरण में आने मात्र से ही हो जाती है।

सर्वात्मभाव रूपी स्वतंत्र भक्तिपूर्वक श्रीकृष्ण की शरण में जाने से जीव सभी ओर से निर्भय हो जाता है। दैवी, आसुरी, पशु, पक्षी, मनुष्य, राक्षस, स्त्री या पुरुष, ब्राह्मण या शूद्र आदि कोई भी जीव हो, यदि वह श्रीकृष्ण को भजता है, तो वह मुक्त हो जाता है। भक्तिरूप इस परम साधन का उपदेश स्वयं भगवान् ने किया है।

भजनीय

भजनीय अर्थात् भक्ति करने योग्य वही है, जिसमें निम्नलिखित सात गुण हों-

(१) जो स्वयं सभी प्रकार से अभय हो। (२) जो एक बार शरण में आने वाले को सभी ओर से भयमुक्त करे। (३) जो भक्त को इस लोक और परलोक की समृद्धि तथा मोक्ष दे सके। (४)

भजन का संदेह हो तो भी अनुषंग से मुक्ति दे सके। (५) जो स्वयं सर्वदोषों से रहित हो और सर्वगुणसम्पन्न हो। (६) जो ऐसे जीव को भी मुक्ति दे सके, जिसमें उसकी योग्यता, पात्रता या अधिकार न हो। (७) जो दूसरों के लिए स्वयं के द्वारा बनाए गए नियम की भी चिन्ता न करे, इस प्रकार जो इन सात गुणोंवाला हो, वही भजन करने योग्य है। भगवान् श्रीकृष्ण इन सातों ही गुणों से सम्पन्न हैं, इसलिए वे ही भजनीय हैं। यह सुनिश्चित और असंदिग्ध बात है।

भक्तिफल

भक्ति से मिलने वाला फल तो उत्तम है ही, वैकुंठ भी यदि भक्ति से प्राप्त हुआ हो तो वह उत्तम है, किन्तु अपने योगबल से पाया गया वैकुंठ हितकारी नहीं है। जय-विजय के स्वभाव में भगवदीयत्व नहीं था, फलस्वरूप उन्होंने भक्त का अपराध किया और वैकुंठ से भ्रष्ट हुए। भक्ति से मिलने वाले फल में जीव का पतन होने की संभावना ही नहीं है।

गीता, भागवत आदि भगवत्-शास्त्रों से फलित होने वाले इस भक्तिमार्ग में साक्षात् भगवान् के मुख से प्रकट हुए वाक्य, अलौकिक शब्द ही प्रमाण हैं। साक्षात् वेदार्थ रूप भगवान स्वयं प्रमेय हैं। इस प्रमेय रूप की, भगवत्-तत्त्व की उत्तमता ही ऐसी है कि उसका ज्ञान भी फल का अनुभव कराता है।

भक्तिमार्ग में साधन प्रेम है। प्रेमरूपी साधन तो फल से भी उत्तम है। भक्तिमार्ग का फल भी ऐसा उत्तम है कि उसकी प्राप्ति ज्ञान, कर्म आदि साधनों से नहीं हो सकती। भक्तिमार्ग में दो प्रतिबंधक बाधकतत्त्व हैं- (१) वेदनिंदा (२) अधर्म का आचरण। यदि भक्तिमार्गीय जीव वेद आदि की निंदा करे तो उसे हीन योनि में जन्म लेना पड़ता है। यदि अभक्त वेद-निंदा करे तो उसे नरकवास होता है। इस कलिकाल के सभी जीवों के लिए अन्य मार्गों की अपेक्षा भगवान द्वारा कहे गए भक्तिशक्ति और ज्ञानशक्ति विशिष्ट (युक्त) वेदार्थ रूप भगवान् श्रीकृष्ण ही फलरूप हैं। इस फल का साधन प्रेम है और प्रेम का साधन नवधा भक्ति है।

भक्तिमार्ग भगवान् का साक्षात् मुखारविंद है। सांख्य और योग ये दोनों भगवान के कुंडल रूप हैं। भक्तिमार्ग में ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि भगवान् मूढ़ों को भी कृतार्थ कर देते हैं। भक्तिमार्ग में अन्य किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं है। वह स्वतंत्र एवं स्वयं परिपूर्ण है।

संन्यास बड़ा या भक्ति

श्री नरहरि संन्यासी को वृंदावन में श्री महाप्रभुजी मिले। उन्होंने वेणी कोठारी के साथ श्री महाप्रभुजी की तेजस्वी प्रतिभा को देखकर कुछ उनके साथ में रहने का विचार किया। श्री महाप्रभुजी के साथ-साथ वे द्वारिका की यात्रा पर भी गए। रास्ते में नरहरि संन्यासी ने श्री आचार्यजी से प्रश्न किया कि मेरे मन में यह संदेह है कि संन्यास धर्म बड़ा है या वैष्णव धर्म बड़ा है? श्री महाप्रभुजी ने उत्तर दिया- 'कलियुग में संन्यास धर्म सिद्ध होना कठिन है। मानव यदि संन्यास ले तो उसके बाद जब तक जीवित रहे, तब तक उसे नारायण-परायण होकर रहना चाहिए। यदि उसका मन अन्यत्र कहीं जाता है, तो उसका सभी जन्मों का संन्यास नष्ट हो जाता है। भक्तिमार्ग में तो दुःसंग हो, तो मानव भ्रष्ट हो जाता है, फिर भी उसमें स्थित भक्ति का बीज नष्ट नहीं होता। भविष्य में कहीं भी सत्संग मिले तो उसकी भक्ति में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि उसका भक्तिबीज नष्ट नहीं हुआ है।'

संन्यास और भक्ति की तुलना करते समय जड भरत और चित्रकेतु का उदाहरण देते हुए महाप्रभुजी ने समझाया कि भरत ऋषि की मृग में आसक्ति होने से उनकी मृत्यु बिगड़ी और उन्हें मुक्ति पाने में तीन जन्म का अंतर हो गया। किन्तु चित्रकेतु का उदाहरण देखें तो पार्वती का शाप लगने से वह वृत्रासुर बन गया। आसुरी योनि में जन्म होते हुए भी उसकी भक्ति का बीज नष्ट नहीं हुआ। उलटे उसकी भक्ति में वृद्धि ही हुई। संन्यास और भक्ति के बीच यही फर्क है। कलिकाल में तो संन्यास धर्म बहुत कठिन है, किन्तु कलियुग में भगवान् का नाम लेने से चांडाल आदि भी पवित्र हो जाते हैं।

उद्धव! ऐसो भक्त मोहि भावे
सब तज आस निरंतर मेरे, जन्म कर्म गुण गावे....
कथनी कथन निरंतर मेरी, सेवा में चित लावे।
मृदु हास नैन जलधारा, करतल ताल बजावे....
जहँ जहँ भक्त मेरो चरन धरत है, तहँ तीरथ चलि आवे
वे रज ले मैं अंग लगाऊँ, कोटि ब्रह्मांड सुख पावे....
मेरी मूरत उनके हृदै में, वे मेरे उर आवे।
बल बल जाऊँ श्री मुखवाणी 'सूरदास' जस गावे

जो भक्ति करते हैं, वे ही भगवान को प्रिय लगते हैं। भक्ति के जो गुण भगवान को प्रिय लगते हैं, श्री सूरदासजी ने श्रीमद् भागवत के एकादश स्कंध में भगवान् और उद्धव के संवाद में से सारांश लेकर, उनका वर्णन किया है। इस पद में भगवान् कहते हैं कि हे उद्धव! मुझे वह भक्त प्रिय लगता है, जो सब वस्तुओं की आशा का त्याग करके निरंतर मेरे अलौकिक प्राकट्य का, मेरी अलौकिक लीलाओं का तथा मेरे दिव्य अलौकिक गुणों का गान करता रहता है, जिसे लोकचर्चा में रस न आता हो, किन्तु जो मेरी मंगलमयी अमृतरूपा कथाओं का वर्णन करने में, सुनने में दृढ़ आसक्तिवाला हो। हे उद्धव! जिसे मेरी सेवा में आसक्ति है, वही सच्ची भक्ति करता है। मेरा स्मरण करते, कीर्तन करते समय ताली बजाते हुए जिसके नेत्रों में आँसू निकल आते हैं, जिसका चित्त मेरा स्मरण करते हुए आर्द्र हो जाता हो, उसे मैं अपना भक्त मानता हूँ।

भक्त चाहे जिस स्थिति में हो, पर मेरे भक्त के मुख पर सदा मृदु हास्य झलकता दिखाई देता है। मेरी भक्ति करने वाले को तीर्थ के लिए भटकने की आवश्यकता नहीं है। मेरा भक्त जहाँ-जहाँ अपने चरण रखता है, वहाँ-वहाँ सभी तीर्थ चले आते हैं। मेरे भक्त की चरणरज मुझे अपने अंग-अंग पर लगाने की इच्छा होती है, क्योंकि इससे मेरे रोम-रोम में बसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों को सुख मिलता है।

मेरी भक्ति करने वाले के हृदय में मेरा स्वरूप रमता है और मेरा भक्त तो मेरे हृदय में बसता है। प्रभु की इस अमृतवाणी पर न्यौछावर होने का मन किसका नहीं होगा?

स्वाध्याय-२२

पुष्टि भक्ति

पुष्टि भक्ति

गोस्वामी श्री वल्लभजी ने पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रंथ की टीका में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है- **माहात्म्यज्ञानाद्युपाधिरहितः साक्षाद्धर्मिस्वरूपपर्यवसायी, सुदृढ ज्ञानादिसर्वानपनोद्यः सर्वतोधिकः अगणितानंदरूपः, अतुल्यातिशयः, एतादृशः स्नेह एव भक्तिपदवाच्यः।।**' अर्थात् माहात्म्य ज्ञान आदि उपाधि से रहित, साक्षात् धर्मी के स्वरूप में परिणत होने वाला, सुदृढ स्नेह जो कि ज्ञान आदि से भी दूर न हो, जो सर्वाधिक हो तथा अगणित आनंदरूप हो, जिसके बराबर या जिससे ज्यादा कुछ भी संभव नहीं हो, ऐसे स्नेह को भक्ति कहते हैं। 'वस्तुतः यह पुष्टि भक्ति की व्याख्या है।'

'**पुष्टिजन्यभक्तिः पुष्टिभक्तिः**' पुष्टि अर्थात् भगवान् की कृपा से उत्पन्न हुई भक्ति को पुष्टि भक्ति कहते हैं। '**तदनुग्रहैकलभ्या**' भगवान् के अनुग्रह के सिवाय इस भक्ति की प्राप्ति का कोई साधन ही नहीं है।

भगवत्-कृपासुलभ भक्ति भी भक्ति तो है ही, इसलिए उसमें भक्ति के तत्त्व माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और सबसे अधिक स्नेह का समावेश तो होता ही है। भक्ति में भज् धातु (क्रियापद) माहात्म्य ज्ञान का बोध कराती है।

'**माहात्म्यज्ञापनं चापि सृष्टिकर्तृत्वबोधनैः**' माहात्म्य ज्ञान का तात्पर्य यह है कि भगवान सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने में अत्यंत सामर्थ्यवान् हैं, इसका बोध होना। **जन्माद्यस्य यतः**, जिनसे ही जगत् की उपत्ति, स्थिति और लय होती है। (ब्रह्मसूत्र) उस महिमावान् भगवान् को भजना, उनकी सेवा करना यह 'भज्' धातु का अर्थ है।

किन्तु स्नेहरहित भजन किस काम का? इसलिए सेवा में, भजन में स्नेह भी होना ही चाहिए। इसीलिए '**आत्मवत् प्रियता तत्र बोध्यतेऽ भेदबोधनात्**' वेद शास्त्रों ने आत्मा और परमात्मा की एकता, अभेद का निरूपण किया है। सृष्टि में सभी को अपनी आत्मा (अपना आत्मस्वरूप) स्वाभाविक रूप से प्रिय होता है और आत्मा तथा परमात्मा एक रूप होने से जिस प्रकार आत्मा के प्रति सबको सहज स्नेह होता है, उसी प्रकार परमात्मा के प्रति भी सहज स्नेह का होना स्वाभाविक है।

भजन में स्नेह आवश्यक है। इसलिए स्त्री वाचक स्नेहसूचक 'तिङ्' प्रत्यय भज् धातु में लगाकर भक्ति शब्द सिद्ध किया गया है। पुष्टि भक्ति में भी प्रसंगोपात्त लीला रस के अनुरूप प्रभु-माहात्म्यज्ञान

तो रहेगा ही। यह आवश्यक है। व्रजवनिताओं को भी प्रभु का माहात्म्यज्ञान था, ऐसा प्रमाण मिलता है। **'न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'** हे प्रभु आप किसी गोपी के पुत्र ही नहीं हैं, आप तो समस्त प्राणियों के अंदर बसे अन्तर्यामी भगवान् हैं। यह कथन भगवान के माहात्म्यज्ञान का सूचक है। ब्रजांगनाओं के सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह के तो अनेक प्रमाण हैं। यहाँ तक कि **'प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः'** श्री गोपीजन तो स्नेह की पराकाष्ठा के परिणामस्वरूप भगवत्-रूप ही बन गई थीं।

पुष्टिभक्ति सेवाप्रधान भक्ति है। पुष्टिमार्गीय भक्ति अर्थात् निरपेक्ष स्वतंत्र, शुद्ध आनंदरूप, स्नेहात्मक, भगवान की सेवारूप भक्ति। यह सेवा या भक्ति विधिप्रधान नहीं, भावप्रधान है इसी कारण पुष्टिमार्गीय सेवा का उत्कृष्ट रूप, प्रकार क्रियात्मक न होते हुए भावात्मक रहता है। तद्नुसार **'मानसी सा परा मता'** चित्त प्रभु में संलग्न हो या पिरो दिया जाए और अनायास, सहज ही बिना किसी प्रयास के सदा भगवन्मय स्थिति में रहे, यह मानसी है और यही परम सेवा मानी जाती है।

भावभेद

भाव की दृष्टि से पुष्टिभक्ति में कुछ आन्तरिक भेद हैं- भक्ति में भगवान् के साथ संबंध रहता है, किन्तु इस संबंध की कई भूमिकाएँ हैं। जैसे कि-

'अहं भगवतः सर्वं' इति सर्वात्मभावनम्।
'प्रभुर्ममेति' भावो हि कामभावो यतो मतः।।

जिसके हृदय में स्वामी की प्रधानता और उच्चकोटि का शरण-समर्पण भाव सिद्ध हो जाता है, वह अनुभव करेगा कि मैं समग्र प्रभु का हूँ, यह सर्वात्मभाव है। जिसमें अभी समर्पण भाव परिपक्व नहीं हुआ है, उसमें भगवान् पर अपना अधिकार सिद्ध करने की वृत्ति रहेगी। वह स्वसुख का विचार करने वाला सकाम भक्त 'प्रभु मेरे हैं' इस भाव का अनुभव करेगा।

प्रिय पर अधिकार स्थापित करने वाली वृत्ति विशुद्ध प्रेम नहीं है। सम्पूर्ण रूप से प्रिय का हो जाना ही सच्चा प्रेम है। प्रिय पर अपना अधिकार जरा-सा भी नहीं, किन्तु उनका अपने पर पूर्ण अधिकार होता है, विशुद्ध प्रेम में।

साधन से प्राप्त होने वाली भक्ति पुष्टिभक्ति नहीं है। **'शास्त्रतः साधनैश्च जायमाना भक्तिः ज्ञानकर्मणोरल्पत्वाज्जीवेषु न परमा भवति'**- जीव की ज्ञानशक्ति तथा कर्मशक्ति अल्प है। इस कारण उनके द्वारा शास्त्र या अन्य साधनों से होने वाली भक्ति परमभक्ति या पुष्टिमार्गीय भक्ति नहीं हो सकती।

अनुग्रहरूपा भक्ति जिसे प्राप्त होती है, वह परम भाग्यवान् है। **'भक्तिमार्गे अंगीकार एव भाग्यरूपः'**- जीव का भक्तिमार्ग में अंगीकार होना ही उसका सौभाग्य है और उसमें भी पुष्ट-पुष्टि में अंगीकार तो विशेष महत्त्व का है।

मुक्ति-निरपेक्ष

पुष्टिभक्ति उसी को कहते हैं, जिसमें केवल भगवान् की ही अपेक्षा हो। **'भगवत्स्वरूपातिरिक्त फलाकांक्षारहिता भक्तिः पुष्टिभक्तिः'** जिस भक्ति में भगवान् के स्वरूप के सिवाय अन्य किसी पदार्थ की इच्छा न रहे, ऐसी भक्ति ही पुष्टिभक्ति है। निष्काम मर्यादा भक्ति और पुष्टिभक्ति में भी भेद है। निष्काम मर्यादा भक्ति में मुक्ति की कामना तो रहती ही है, अतः यह पुष्टिभक्ति नहीं है।

वृत्रासुर ने कहा है , **'न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा'** मैं योग की सिद्धियाँ या मोक्ष भी नहीं चाहता। भक्त मुक्ति को भी अस्वीकार करता है। वह कहता है कि मोक्ष में अतिशय सुख तो होगा, किन्तु मोक्ष भगवत्-स्वरूप नहीं है और इसी कारण पुष्टिभक्त मोक्ष की कामना नहीं करता।

माहात्म्यज्ञान का तिरोभाव

मर्यादा भक्ति और पुष्टिभक्ति में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि पुष्टिभक्ति में स्नेह की दृढ़ता सिद्ध होने के बाद कभी किसी स्थिति में लीलारस के अनुरूप माहात्म्यज्ञान का तिरोधान भी हो जाता है। सेवा आदि धर्म में अपराध न हो जाए, इसलिए माहात्म्यज्ञान आवश्यक है। फिर भी स्नेह की प्रबल धारा में कभी-कभार माहात्म्यज्ञान तिरोहित भी हो जाता है।

श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को देखने, समझने और वर्णन के बाद भी माता श्री देवकीजी माहात्म्यज्ञान भूल गईं और बोल उठीं- **'समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः'** अधीर बुद्धिवाली मैं आपके लिए कंस से बहुत उद्वेग पाती हूँ, डर रही हूँ।

भगवान् श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य को युधिष्ठिर, व्यास, भीष्मादि अच्छी तरह से जान गए थे, फिर भी **'अजातशत्रुः पृतनां गोपाय मधुद्विषः परेभ्यः शंकितः स्नेहात्प्रायुङ्क्त चतुरंगिणीम्'** शत्रुओं से शंकित अजातशत्रु युधिष्ठिर ने प्रभु की रक्षा के लिए स्नेह से चतुरंगिणी सेना साथ में भेजी। यह प्रसंग सूचित करता है कि युधिष्ठिर में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति प्रबल थी

व्रजभक्तों ने भगवान् के माहात्म्य को अनेक बार देखा, इन्द्रमान-भंग के प्रसंग में, गोवर्धन-धारण-लीला में सभी को उनके सामर्थ्य का स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभव हुआ, फिर भी उन्होंने श्रीकृष्ण की स्तुति या पूजादि माहात्म्यसूचक उपचार नहीं किये। इसके विपरीत उनकी नजर उतारना, स्नेह से व्याकुल होकर उन्हें आशीष देना, आदि स्नेह-सूचक कार्य ही किए थे। आश्चर्यचकित होकर माता पूछती है-

गिरिवर कैसे लियो उठाई?
कोमल कर चापति महतारी, यह कहि लेत बलाई॥

श्रीकृष्ण के कोमल श्रीहस्त को दबाते हुए माता यशोदा प्रश्न करती हैं कि कन्हैया, तूने इतना बड़ा भारी पर्वत किस प्रकार उठाया? तेरी भुजाएँ दुःखती नहीं हैं? पूरी तरह सुदृढ़ सर्वाधिक स्नेह के ऐसे अनेक प्रमाण हैं। पुष्टि भक्ति सरल भी नहीं है और न सबको सुलभ ही होती है। पुष्टि भक्ति भगवान् की कृपा के बगैर सिद्ध नहीं होती। यहाँ तक कि यह श्रीवल्लभ के अनुग्रह बिना समझ में भी नहीं आती।

श्री महाप्रभुजी ने जब प्रथम पृथ्वी-परिक्रमा की, तब बद्रीनारायण की यात्रा में एक बड़ी शिला गिर रही थी। उसे कृष्णदास मेघन ने हाथों से थाम लिया। तब श्री महाप्रभुजी ने उन्हें वर माँगने के लिए कहा। तब श्रीकृष्णदास ने तीन वर माँगे, जिसमें सर्वप्रथम वर यह माँगा कि- मुझे पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त हृदयारूढ़ हो, फिर मुखरता दोष की निवृत्ति और तीसरा उनके गुरु के यहाँ पधारने की विनती की। प्रथम वरदान के रूप में पुष्टि सिद्धान्त हृदयस्थित हो, ऐसा माँगने का अर्थ यह कि इस मार्ग के सिद्धान्त श्रीवल्लभ की कृपा के बिना समझ में नहीं आते हैं।

पुष्टिभक्ति में माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह सर्वोपरि है। प्रभु को यही प्रिय है। माहात्म्यज्ञान की आवश्यकता भक्ति की प्रथम दशा में ही है। यदि माहात्म्यज्ञान न रहे तो जीवों से अपराध हो जाए। स्नेह की वृद्धि के साथ-साथ माहात्म्यज्ञान का तिरोभाव होता जाता है। स्नेह माहात्म्यज्ञान को ढँक देता है। भगवान् के सानुभव की स्थिति में माहात्म्यज्ञान आए तो उससे स्नेह में तथा भगवद्-अनुभव में हानि होती है।

श्री गुसांईजी की एक सेविका वृद्धमाता को प्रभु का उत्तम अनुभव होता था। श्री ठाकुरजी के साथ वह बातें करती थी। रात को उन्हें अपने साथ ही लेकर सोती थी। एक बार रात में बिल्लियाँ लड़ने लगीं, तब ठाकुरजी डरने लगे। वृद्धा ने बिल्लियों को शान्त करने के लिए बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वे शान्त नहीं हुईं। श्री ठाकुरजी बहुत डर गए। तब उसने कहा- 'लाला! तुमने पूतना को मारा और कंस के दैत्यों को मारा, तब तो नहीं डरे और आज इन बिल्लियों से डर रहे हो?'

तब श्री ठाकुरजी ने कहा- 'आज तक मैं तेरे साथ बोला, किन्तु अब नहीं बोलूँगा।' तब से वास्तव में प्रभु ने बोलना, लीला करना बंद कर दिया। माहात्म्य आया कि प्रभु ईश्वर हो गए, भक्तवत्सलता या भक्तवश्यता समाप्त हो गई। इसलिए वैष्णव को सावधान रहना चाहिए।

श्री विट्ठलनाथ बसत जिय जाके, ताकी रीति प्रीति छबि न्यारी
प्रफुल्लित वदन कांति करुणामय नयनन में झलकें गिरिधारी
उग्रस्वभाव परमपरमारथ स्वारथ लेश नहीं संसारी
आनंदरूप करत एक छिन में, हरि जू की कथा कहत विस्तारी।
मन क्रम वचन ताही को संग करिये, पैयत ब्रजयुवतनि सुखकारी
'कृष्णदास' प्रभु रसिक मुकुटमणि, गुणनिधान श्री गोवर्धनधारी

जिसे पुष्टिमार्गीय प्रकार से पुष्टिभक्ति सिद्ध हुई है, ऐसे भक्त का परिचय कराने वाला यह पद श्रीकृष्णदास ने रचा है। श्री वल्लभ और श्री विट्ठलप्रभु जिसके अन्तःकरण में विराजते हैं, ऐसे भगवदीय की तो बात ही निराली है। पुष्टिभक्ति सिद्ध होने के बाद भक्त की रीति, समग्र जीवनशैली ही बदल जाती है। उस 'प्रीत' का प्रकार भी बदल जाता है। लौकिक विषयों के बदले भक्त को भगवान, भगवत्कथा, सेवा आदि में तथा हरि-गुरु-वैष्णव के स्वरूप में ही सुख मिलता है।

हृदय में पुष्टिभाव सिद्ध होते ही भक्त के वदन-कमल में भी अद्‌भुत गरिमामय कांति आ जाती है। भगवदीय का मुख फीका-मलीन और मुरझाया हुआ नहीं, किन्तु प्रफुल्लित रहता है। उसके नेत्रों में (भगवान् के नेत्रों जैसी) करुणा झलकने लगती है। भगवदीय कभी किसी को धिक्कारता नहीं,

कोई उसके नेत्रों से नेत्र मिलाए, तो उसे उन नेत्रों में भगवान के दर्शन होते हैं, क्योंकि उसने अपने नेत्रों में प्रभु को धारण कर लिया है- **प्रिय तोहे नयनन में ही राखूँ।** भगवदीय के हृदय में भक्ति शीतल भाव में विराजमान नहीं होती। उसके भाव में उग्रता यानी उत्कटता रहती है। अन्य को सुख देना ही उसका सुख है। परमार्थ ही उसका स्वार्थ है। संसार में उसकी लेशमात्र भी आसक्ति नहीं होती। पुष्टि भक्त के पास हमारे समस्त क्लेशों को क्षण मात्र में दूर करने की शक्ति होती है। उसका संग तत्क्षण आनंदमय बना देता है। पुष्टि भक्त को सांसारिक चर्चा करनी पड़े तो संक्षेप में करेगा, किन्तु भगवद्वार्ता, हरिकथा अधिक विस्तार से करेगा। जो मानव ऐसे पुष्टिभक्त का मन, वचन और कर्म से संग करेगा, उसे श्री गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण मिलेंगे, गुणनिधान श्री गोवर्धननाथजी मिलेंगे। पुष्टिभक्ति रस रूप भक्ति है, इसलिए जिसके हृदय में पुष्टिभक्ति प्रकट होगी, वह संयोग-विप्रयोग रस का रसिक बनकर भक्ति करेगा।

भक्ति अंक है अन्य साधन शून्य हैं-

श्रीकृष्णनी भक्ति अंक छे, बीजा साधन सर्व शून्य;
अंक विना सर्व अफल छे, सहशून्य शून्य दशशून्य;
दस गुणा बिन्दु आद्य अंक एक, अंक बिना शूं शून्य अनेक
भक्ति करी तेणे सर्व कांई कीधु, भक्ति विना बीजु कांई न सीधुं
सेवो श्रीकृष्ण कृपाल......

जिसने भक्ति की, उसने सब कुछ कर लिया। भक्तिमार्ग की सर्वोपरिता यहाँ सुंदर प्रकार से समझाई गई है। भक्ति अंक है और कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, योग, वैराग्य जैसे अन्य सभी साधन शून्य हैं। सब जानते हैं कि अंक के पीछे जितने शून्य रखते जावें, उतना अंक का मूल्य दस गुना बढ़ता जाता है। शून्य का इतना अधिक मूल्य है, किन्तु शून्य का यह मूल्य अंक के कारण है। यदि अंक ही न हो तो सिर्फ शून्य हजार भी लिखें तो उनका कोई महत्त्व नहीं होगा। उसी प्रकार भक्तियुक्त हृदय से जो कोई साधन करे तो उसका महत्त्व है। भगवान् में स्नेह न हो तो कर्म, जप, तप, व्रत आदि केवल परिश्रम ही हैं। इनसे इनके कर्त्ता को क्लेश होगा और प्रभु को प्रसन्नता भी नहीं होगी। इसलिए भक्ति से ही जीव की कृतार्थता है। संसार में भी किसी का स्नेहरहित शुष्क व्यवहार हमें सुखदायी नहीं होता, फिर प्रभु तो प्रेमस्वरूप हैं, इसलिए प्रेमरहित प्रवृत्ति प्रभु को पसंद कैसे होगी? ●

राग केदारो

श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण मनमें गति जानिये।
देह इन्द्रिय प्राण दारागारादि वित्त आत्मा सकल श्रीकृष्ण के मानिये।।
कृष्ण मम स्वामी हौं दास मन वचन कर्म कृष्ण करता सकल विश्व के जानिये।।
कृष्णदासनि नाथ लाल गिरिवरधरन चरन रज,
वल्लभाधीश शिर सानिये ।।श्रीकृष्ण।।

सेवा-१

सेव्य-सुख ही सेवा

भगवत्-सेवा मुख्य रूप से पुष्टि धर्म है। श्री ठाकुरजी के स्वरूप को घर में पधराकर मार्ग की रीति के अनुसार तथा ब्रजभक्तों की प्रीति के अनुरूप सेवा करनी चाहिए। श्री महाप्रभुजी द्वारा अपने सेवकों को प्रायः भगवत्-सेवा पधराने की ही आज्ञा हुई है। जिसे आरंभ में ही फलस्वरूप मानसी सेवा सिद्ध हो गई है, ऐसे तथा जिससे उत्तम आचार बनता नहीं है, जिसके कारण प्रभु को श्रम हो ऐसे साधारण कोटि के भगवदीयों को छोड़कर सभी भगवदीयों को श्री महाप्रभुजी ने भगवद्स्वरूप पधराकर सेवा करने की आज्ञा की है।

जिसमें प्रभु के सुख का विचार हो, ऐसे उत्तम पदार्थ जो प्रभु को प्रिय हो, धरावे। भोग, राग श्रृंगार से प्रभु को लाड़ लड़ावें, उसे पुष्टिमार्गीय सेवा कहते हैं। इसलिए श्री महाप्रभुजी ने सेवा का अर्थ इस प्रकार समझाया है- **'शुश्रूषणं यत्तदेव, येन सेव्यस्य सुखं भवति परितुष्यति च।'** सेवा दो प्रकार की है- (१) साधन सेवा (२) फलरूप सेवा। तनुजा-वित्तजा ये साधन रूप सेवा कहलाती है। स्वयं के शरीर से सारी सेवा करना यह तनुजा सेवा है। स्वयं के द्रव्य से सेवा करनी यह वित्तजा सेवा है। वित्तजा (केवल द्रव्य से सेवा करना अथवा किसी को द्रव्य देकर सेवा करवाना) सेवा की अपेक्षा तनुजा सेवा, स्वयं के शरीर से सेवा करना उत्तम सेवा है। मानसी सेवा के साक्षात् साधन रूप में तनुजा सेवा है, जबकि वित्तजा सेवा मानसी के साक्षात् साधन रूप नहीं हो सकती।

(२) मानसी सेवा फलरूप है। **'मानसी सा परा मता'** जिसकी व्याख्या **'चेतस्तत्प्रवणं सेवा'**। है भगवान् श्रीकृष्ण में ही चित्त सतत लगा रहे, तन्मय रहे, उसका नाम मानसी सेवा है। ब्रजभक्त गोपीजनों की बुद्धि भगवान् में ही आसक्त थी, उन्हें उनके स्वयं के देह, गेह आदि किसी का भी ध्यान नहीं रहता था, यह स्थिति मानसी रूप है।

मानसी आभ्यन्तर सेवा एवं तनुवित्तजा बाह्य सेवा कही जाती है।

सेवा का हेतु

माम् आज्ञापय! 'मुझे आज्ञा दीजिए' इस तरह निष्कपट हृदय से आत्मा के साथ अपना सर्वस्व प्रभु को निवेदन करना, यही सेवा है। इसी का नाम ही आत्मसमर्पण है। स्वयं को कृतार्थ करने के लिए वैष्णव सेवापरायण होता है, अन्य उद्देश्य से की गई सेवा सच्ची सेवा नहीं है। इसी बात को विचार कर श्री गुसांईजी ने सेवा के तीन प्रकार बताए हैं। एक लौकिक महत्त्व के लिए है- संसार के सामने स्वयं का यश फैले, वाहवाही हो, इसके लिए सेवा, उत्सव या मनोरथ करावें। दूसरा प्रकार-

स्वयं के बाप-दादा की परंपरा का विचार करके सेवा, उत्सव आदि कराना। बड़ों की परंपरा, प्रतिष्ठा तथा आज्ञा का आदर करके सेवा करना। तीसरे प्रकार की सेवा गुप्त है। वाहवाही के लिए नहीं, स्वधर्म समझकर सेवा करें। परोक्ष रीति से सेवा करें। किसी को पता न चले, इस प्रकार सेवा करें। प्रभु को सेवा का यह तीसरा प्रकार ही पसंद है।

भगवत्स्वरूप

वैष्णव को सद्गुरु मिल जाएँ तो उनके द्वारा या न मिले तो स्वयं ही भगवत्स्वरूप को पधराकर सेवा करनी चाहिए। भगवत्-स्वरूप आठ प्रकार के हैं-

'शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाऽष्टविधा स्मृता॥

भगवान की मूर्ति शिला (पत्थर) में बिराजती, काष्ठरूपी, लोहे की, लेप्या, रेती की, चित्र रूप में बिराजती, मनोमयी अथवा मणिमयी इस प्रकार आठ तरह की होती हैं।

श्रीहरि की मूर्ति की सेवा करने से श्रीहरि की ही सेवा होती है। **'परिचर्यां सदा कुर्यात्तद्रूपं तत्र च स्थितम्।'** जैसा व्यवहार भगवान के स्वरूप के साथ किया जाता है, वही भगवान के साथ होता है। मूर्ति अर्थात् भगवत्-स्वरूप का अपराध भी भगवान का अपराध ही होता है। सेवक को मूर्ति भगवान ही है, ऐसा समझना चाहिए।

'साकार व्यापकत्वाच्च मन्त्रस्यापि विधानतः।'

ज्ञान, भक्ति तथा उपासना की दृष्टि से विचार करते हैं, तो मूर्ति भगवान का ही स्वरूप है, ऐसा सिद्ध होता है। ज्ञानदृष्टि से विचार करें तो **'तद्रूपं तत्र च स्थितम्'** इस विश्व में सब कुछ भगवत् रूप ही है। अतः मूर्ति भी भगवान् का रूप ही है। जिस प्रकार भक्त प्रहलाद का उद्धार करने के लिए भगवान नृसिंह स्तम्भ में से प्रकट हुए, उसी प्रकार अपने भक्त का उद्धार करने के लिए भगवान सेव्य प्रतिमा-मूर्ति रूप में भी प्रकट होते हैं। इन्द्रद्युम्न नामक भक्त के उद्धार के लिए भगवान् जगन्नाथ प्रभु काष्ठ (लकड़ी) रूप से प्रकट हुए, उसी तरह भगवान् भक्तोद्धार की अपनी इच्छा से जिस रूप में प्रकट होना चाहते हैं, उस रूप में प्रकट हो जाते हैं। भक्ति की दृष्टि से विचार करें तो, 'तत्र च स्थितम्' जहाँ जैसी मूर्ति है, भगवान् वहाँ वैसे रहते हैं, जहाँ मूर्ति का श्रीहस्त है, वहाँ भगवान् का श्रीहस्त है, उसी प्रकार मूर्ति के जो अवयव जैसे हैं भगवान के भी वैसे हैं। ब्रह्म साकार है, व्यापक है, सर्वत्र हस्तचरण वाला है और सर्वतः अन्तर्यामी है, इस कारण मूर्ति में भी भगवान् हैं। यद्यपि मूर्ति में भगवान का प्रादुर्भाव सबके उद्धार के लिए नहीं है, अपितु भक्त के, सेवक के उद्धार के लिए हुआ है। भगवान व्यापक हैं, फिर भी यशोदा की डोर से बंध गए, यह उनका विरुद्धधर्माश्रयत्व स्वरूप है, उसी प्रकार व्यापक ब्रह्म होते हुए भी मूर्ति के सीमित स्वरूप में वे भक्त के उद्धार के लिए विराजते हैं।

उपासना दृष्टि से भी मूर्ति में भगवान का स्वरूप विराजता है। मूर्ति में मंत्र का अनुष्ठान किया होने से, मंत्राधीन देव, प्रभु उसमें पधारते हैं तथा भक्त की सेवा को स्वीकारते हैं।

भगवत्-स्वरूप में (मूर्ति में) में भगवान् की स्थिति 'आवेश रूप' होती है। जिस प्रकार लोहे में अग्नि का आवेश होता है, उसी प्रकार मूर्ति में भगवान् का आवेश होता है। गरम लोहे में जैसे अग्नि के लक्षण दिखाई देते हैं, उसी प्रकार भगवत्-स्वरूप में भगवान का अनुभव होता है। लोहे में अग्नि की उष्णता, प्रकाश आदि लक्षण, अग्नि के आवेश के कारण दिखाई देते हैं, उसी प्रकार भगवान् की मूर्ति में भी भगवान् के गुणों का अनुभव भक्त को होता है।

पूजा-प्रकार और सेवा-प्रकार में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह भी है कि भगवान के सेव्य स्वरूप में भगवान की नित्य स्थिति है, वे वहाँ सदा विराजमान हैं।

भगवदीय वैष्णव ने स्वयं के द्वारा अर्जित धन से अपनी शक्ति के अनुसार प्रभु-सेवा में वस्त्र-आभूषण, श्रृंगार आदि श्रीकृष्ण के स्वरूप को धराना चाहिए और उनकी सेवा करनी चाहिए

भगवान श्रीकृष्ण मेरे स्वामी हैं, श्रीठाकुरजी मेरे मस्तक पर विराजते हैं, ऐसा मानकर, प्रभु को जो सुंदर लगे, प्यारा लगे ऐसा श्रृंगार धराना चाहिए। वैसे ही भोग-सामग्री आदि समर्पित करना चाहिए। वैष्णव ने स्वयं जो द्रव्य योग्य तरीके से प्राप्त किया हो, उसमें से अपनी शक्ति के अनुसार सेवा करनी चाहिए।

निज सेव्य स्वरूप का जिस प्रकार सुंदर दर्शन हो, उस प्रकार उनको वस्त्र, अलंकार, मुकुट इत्यादि का श्रृंगार प्रेमपूर्वक करें। चित्त को उद्वेग रहित करके, शीतकाल, उष्णकाल जैसी ऋतु हो, उसके अनुसार सेव्य स्वरूप की सेवा करने से ठाकुरजी को सुख मिलता है, इसलिए जल, वस्त्र इत्यादि के समर्पण द्वारा स्नेहपूर्वक भगवत्-सेवा करनी चाहिए।

प्रकट स्वरूप

भगवान् के प्रकट स्वरूप की सेवा करें। काष्ठ में अग्नि है, यह समझकर कोई ठंड भगाने के लिए काष्ठ का सहारा लेता नहीं है। उसी प्रकार **'अप्रकट स्वरूपाः सर्वथैव न सेव्याः'** जिसमें भगवान का स्वरूप प्रकट न हो, वह सेवा करने योग्य नहीं है।

कुछ अपवादों को छोड़कर भगवदीयों को साक्षात् स्वरूप को पधराकर उसकी साक्षात् सेवा करने की ही आज्ञा की है। जिसे भगवत्-स्वरूप पधराया है, उसे यह हमारा सर्वस्व है, यह कहकर पधराया है। इसलिए भगवदीयों ने स्वरूप-सेवा को उत्तम मानकर स्वरूप-सेवा करनी चाहिए। हृदय में स्वरूप की धारणा करके सेवा करने का प्रकार, सर्वसामान्य नहीं है। किसी विशिष्ट भगवदीय के लिए यह विशिष्ट प्रकार है। शेष सबको सेवा के लिए स्वरूप पधराने का प्रकार है। पुष्टिमार्ग में सेवा-धर्म की महत्ता इतनी अधिक है कि श्री महाप्रभुजी निबंध में **'तदभावे स्वयं वाऽपि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्'** आज्ञा करते हैं कि इस कलिकाल में उत्तम लक्षण वाला गुरु दुर्लभ हो तो भगवदीय स्वयं किसी पवित्र स्थान में भगवान के स्वरूप को पधराकर निरंतर सेवा करे।

वैष्णव को आजीविका के लिए साधन करना पड़े, वह सर्वथा निवृत्त न हो तो उसे **'एकं यामं हरौ नयेत्'** दिन के एक प्रहर (लगभग तीन घंटे) का समय तो भगवत् पूजन, सेवा-स्मरण में लगाना

ही चाहिए। शेष समय में आजीविका करे। वह भी धर्म-विरुद्ध नहीं होनी चाहिए। बाप-दादा से परंपरागत रूप में प्राप्त हुई हो तो भी यदि आजीविका निषिद्ध हो तो उसका परित्याग कर देना चाहिए।

पूजा और सेवा में भेद

वेदशास्त्र आदि में जिसे पूजा कहते हैं और पुष्टिमार्ग में जिसे सेवा कहते हैं, उन दोनों में बड़ा मौलिक भेद है। पुष्टिसेवा में भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम सेव्य हैं, जबकि पूजा-पद्धतियों में अन्य देवी-देवताओं की पूजा होती है। पूजा में मंत्र के अधीन देवता है, जबकि भगवत्-सेवा में भगवान् भक्ति भाव के अधीन होते हैं। पूजा का फल ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति होती है, जबकि सेवा का फल स्वयं भगवान ही है। पूजा स्वयं साधन रूप है और केवल साधन रूप ही है, जबकि सेवा साधनरूपा भी है और फलरूपा भी है।

पूजा से जो फल सुलभ होता है, वह भक्ति द्वारा भी सुलभ होता है, परन्तु भक्ति से जो सर्वोत्तम फल प्राप्त होता है, वह पूजा से कभी नहीं मिल सकता है।

पूजा में विधि निश्चित है, वही नियामक है, जबकि सेवा में स्नेह नियामक है। पूजा में समय का नियम है, जबकि सेवा में समय का कोई नियम नहीं है। जब भक्त का मनोरथ हो, तब सेवा हो सकती है। पूजामार्ग में प्रभु को जो नैवेद्य व दक्षिणा अर्पण करते हैं, उससे प्रारब्ध की उत्पत्ति होती है तथा वह प्रारब्ध के फलीभूत होने के समय में ही फलता है। सेवाक्रम में तो साक्षात् प्रभु भक्त-द्वारा समर्पित पदार्थ तथा उपचारों का साक्षात् उपभोग करते हैं। प्रसन्न होकर भगवान् दुर्लभ से दुर्लभ फल की प्राप्ति भी कराते हैं।

यस्मादस्मिन् स्थितो यत् किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुमिच्छत्यद्धा तद् गोपिकेशः
स्ववदनकमले चारु हासे करोति।

श्रीमद् वल्लभ प्रभु ने इस पृथ्वी पर प्रकट होकर भगवान् की सेवा का ऐसा उत्तम प्रकार प्रकट किया है, जिसमें श्री गोपीनाथ प्रभु स्वयं के भक्तों के द्वारा कोई भी वस्तु, जिस किसी प्रकार से तथा किसी भी स्थान पर अंगीकार करवाने का मनोरथ करने पर, प्रभु उसका साक्षात् उपभोग करते हैं, प्रसन्नतापूर्वक आरोगते हैं।

प्रकारभेद से, विधिभेद से तथा फलभेद से सब प्रकार से पूजामार्ग से सेवामार्ग विलक्षण, विशिष्ट तथा उत्तम है।

भाव-साधन

साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदम्भतः।।

आदरपूर्वक श्रीमद् भागवतजी का निरंतर पाठ करना ही मुख्य साधन है। श्री भागवतजी के नित्य पाठ से दीनता की भावना, अहंकार जैसे दोषों की निवृत्ति, भगवत्-सेवा में निष्ठा, भगवान का भक्त के हृदय में प्रवेश तथा सप्रेम भगवद् भाव जैसे फल सिद्ध होते हैं।

श्री महाप्रभुजी के प्रति निष्ठा, ब्रह्मसंबंध, स्वरूपसेवा, समर्पित ही लेने का आग्रह, विरह-अनुभव, शरण, कृपा, दैन्य जैसे भाव भी भावसिद्धि के लिए साधन बनते हैं।

'भावो भावनया सिद्धः' श्री गोपीजनों की भक्ति का चिन्तन करते हुए अपने हृदय में जो भावना उत्पन्न हों, वे ही भाव के साधन हैं। इसमें दान, व्रत जैसे अन्य साधन, साधन के रूप में व्यर्थ हैं।

भगवान की भाववश्यता

भगवान सर्वशक्तिमान हैं, वे शक्ति से नहीं, अपितु भक्ति से वश में होते हैं।

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥

भगवान् न तप से, न वेद से, न कर्म से और ज्ञान से वश में होते हैं, वे तो भक्ति से ही वश में होते हैं। इसके लिए ब्रजगोपिकाएँ इस जगत् में प्रमाण हैं। जिसके हृदय में केवल एकमात्र हरि की भक्ति ही है, ऐसे भक्त निर्धन हों, तो भी धन्य हैं, क्योंकि भक्तिसूत्रोपनद्ध अर्थात् भक्ति रूपी डोर से बँधे हुए श्रीहरि स्वयं अपने धाम का त्याग करके भक्त के हृदय में आ विराजते हैं।

स्वतनु से सेवा

भगवत्-सेवा अन्य से कराने के बदले स्वयं ही करनी चाहिए। श्री ठाकुरजी की छोटी से छोटी सेवा भी स्वयं करें, इसमें लौकिक प्रतिष्ठा का विचार न करें। दामोदरदास संभलवाला धनी व्यक्ति थे, फिर भी ठाकुरजी की सेवा के लिए जल स्वयं लाते थे। एक दिन उनके श्वसुर ने आकर कहा- 'आप रोज जल भरकर लाते हो, इससे हमारे सगे-संबंधियों के सामने हमें लज्जा आती है, इसलिए आप जल भरकर न लावें। नौकरों से भरवा लें।' **'सूर भजन कलि केवल कीजे, लज्जा कानि निवारि'**- सूरदास ने गाया है कि इस कलिकाल में मुख्य धर्म एक ही है कि लाज-शरम को छोड़कर केवल भगवद्-भजन करें। श्री दामोदरदासजी ने यही किया। उन्होंने अपनी पत्नी को भी सेवा में साथ लेकर, एक घड़ा स्वयं ने लिया और दूसरा घड़ा पत्नी को दिया। दोनों ही घड़े सिर पर रखकर बाजार में से निकले। बाद में श्वसुरजी दामोदरदासजी के पैरों में पड़कर कहने लगे- 'मेरी बड़ी भूल हुई कि मैंने आपको इस तरह कहा। आप स्वयं जल भरो, लेकिन मेरी पुत्री को इस तरह जल भरकर गाँव के बीच से मत ले जाओ।' स्वयं तनुजा सेवा में तत्पर रहने का यह उत्तम उदाहरण है। जिसके पास करोड़ों रुपयों का वैभव था, ऐसे काशी के सेठ श्री पुरुषोत्तमदासजी स्वयं मंदिर-वस्त्र करते। राजा अम्बरीष भी भगवान की सेवा स्वयं करते थे। दामोदरदासजी संभलवाला की सेवा, विशेष रूप से स्नेहपूर्ण स्वतनु-सेवा को देखकर श्री महाप्रभुजी कहते थे- 'जिन्होंने राजा अम्बरीष को न देखा हो, वे दामोदरदास को देखें। राजा अम्बरीष मर्यादामार्गीय थे और ये पुष्टिमार्गीय हैं। इनकी इतनी अधिकता है।'

स्ववित्त से सेवा

स्ववित्त को ही भगवत्-सेवा में लगाना चाहिए। सिंहनद की क्षत्राणी को एक बार दुःख हुआ कि ठाकुरजी को द्रव्य के अभाव में पकवान कैसे धराऊँ? कहीं से भी उधार लाकर उत्तम पकवान धराऊँगी। एक दिन प्रातःकाल उठकर, चार आने उधार लेकर घी, शक्कर लाकर चतुर्विध पकवान बनाए। आधी रात को ही श्री ठाकुरजी जागे और कहने लगे- 'माँ! मुझे भूख लगी है।' क्षत्राणी ने ठाकुरजी को पकवान धराये। इस पर प्रभु कहने लगे- 'आज रोटी क्यों नहीं रखी? तुम्हारे पास तो पैसे थे नहीं, फिर पकवान कहाँ से आए? मुझे तेरी चुपड़ी हुई रोटी भाती है, फिर उधार करके पकवान क्यों लाई? कर्जा सिर पर हो तो दुःख क्लेश होता है, अब भविष्य में ऐसा न करना।'

भगवदीय धन उधार लाकर सेवा करें तो प्रभु को यह अच्छी नहीं लगती है तो फिर अन्य के द्रव्य की सेवा प्रभु को कैसे अच्छी लग सकती है? अतः अपने द्रव्य से ही भगवान की सेवा करनी चाहिए।

मानसी सेवा

नरवरगढ़ के राजा आसकरण को युद्ध करने के लिए जाना पड़ा। प्रातःकाल जहाँ डेरा डाला था, वहाँ राजा मानसी सेवा करने लगे। इतने में युद्ध प्रारंभ हो गया। दीवान ने राजा आसकरण से विनती करके कहा आप युद्ध में सम्मिलित नहीं होंगे तो सेना में भगदड़ मच जाएगी। राजा घोड़े पर सवार हुए, किन्तु मानसी सेवा का क्रम भी जारी रखा। वे मानसी में राजभोग धरा रहे थे। इतने में कढ़ी का कटोरा हाथ से छूट गया। राजा के वस्त्र और घोड़े पर कढ़ी ही कढ़ी हो गई। फिर राजा मानसी में ही अनोसर तक पहुँचा। उसके बाद लड़ाई प्रारंभ की। राजा आसकरण की युद्ध में विजय हुई। इस प्रकार राजा ने युद्ध के समय भी सेवा का त्याग नहीं किया।

मानसी सेवा में राजा आसकरण जैसा दूसरा कोई नहीं है। ठाकुरजी ने ही उन्हें स्वप्न में बताया कि 'तुम्हारी तनुजा-वित्तजा सेवा हो चुकी है। व्यसन तक की अवस्था सिद्ध हो चुकी है। अब एकान्त में बैठकर मानसी सेवा करो।' उसके बाद राजा ब्रज में आ गए और रमण रेती की टेकरी पर बैठकर मानसी सेवा में तन्मय रहने लगे। इस प्रकार भगवत्-सेवा जीव का परमधर्म, स्वधर्म है। यही पुष्टिधर्म है।

●

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म बोधनम् ॥२॥ (सि. मुक्तावली)

श्री महाप्रभुजीका सुनिश्चित सिद्धान्त है कि जीव को भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा सदा करना चाहिए। मानसी सेवा उत्तम है। श्रीकृष्ण में चित्त पिरो देना ही सेवा है। ऐसी मानसी सेवा की सिद्धि के लिए तनु वित्तजा सेवा है। सेवा से संसार के दुःख की निवृत्ति और ब्रह्मज्ञान होता है।

तस्मात् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ पुष्टिप्रवाह मर्यादाभेदः॥१२॥

पुष्टिमार्गीय जीव प्रवाही और मर्यादामार्गीय दोनों प्रकार के जीवों से भिन्न हैं। इसमें कोई संशय नहीं। पुष्टिमार्गीय जीवों की सृष्टि भगवद् रूप की सेवा करने के लिए है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से नहीं।

स्वाध्याय-२४

सेवा-२

भगवत्-सुख

'भगवदर्थमेव भगवान् सेव्यः' भगवान् के लिए ही भगवान् की सेवा करनी चाहिए। स्वामी का सुख ही सेवक का सुख है। प्रिय का सुख ही प्रेमी का सुख है। अपने सुख का विचार करना स्वार्थ है, स्नेह नहीं, सेवा नहीं है। **'मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते'** रास के अवसर पर भगवान श्री गोपीजनों से कहते हैं, 'उपकार तथा प्रति उपकार के संबंध से जो आपस में स्नेह रखते हैं, वे स्नेह के कारण सामने वाले पर स्नेह नहीं रखते। वे तो स्वयं के स्वार्थ के कारण सामने वाले पर स्नेह रखते हैं। यह स्नेह शुद्ध प्रेम नहीं है। सच्चा प्रेमी तो वह है, जो प्रेम न रखने वाले पर भी प्रेम रखता है।' सेवक को निरंतर यह विचारना चाहिए कि, मेरे द्वारा की जा रही सेवा का प्रेरक तत्त्व क्या है? स्वसुख या प्रभु का, सेव्य का सुख?

इन्द्र-प्रकोप के समय ब्रज की स्त्रियाँ भगवान् की शरण में गईं और स्वयं की रक्षा के लिए प्रभु से प्रार्थना की। यह बात श्री महाप्रभुजी को पसंद नहीं आई, उनके ही शब्दों में- **'आसारेण पीड़िताः भक्तिमार्गं त्यक्तवन्तः अन्यथा भगवद्रक्षार्थमेव यत्नं कुर्युः न तु स्वरक्षार्थं भगवन्तं प्रार्थयेयुः।'** अतिवृष्टि के दुःख से दुःखी ब्रजवासियों ने भक्तिमार्ग को छोड़ दिया, अन्यथा वे भगवान् की रक्षा के लिए प्रयत्न करते। स्वयं की रक्षा के लिए भगवान् से प्रार्थना नहीं करते। इसका अर्थ यह है कि भक्त में जब तक भगवान के सुख का विचार रहता है, तब तक भक्तिमार्ग में उसकी भूमिका उत्तम है। स्नेह का स्वभाव ही यह है कि स्नेही को सुखी करने के प्रयास में ही स्वयं की सार्थकता मानता है, स्नेही को सुखी करने के विचारों में वह अपना सुख भी भूल जाता है।

'स्निग्धे स्नेहस्यायं गुणः यत्समर्थेऽप्यसमर्थबुद्धिः।'

स्नेह वाले में स्नेह का यह गुण होता है कि समर्थ में भी यह असमर्थ है, ऐसी बुद्धि रखे। अत्यन्त दृढ़ स्नेह उत्पन्न होने के बाद माहात्म्य ज्ञान स्वयं ही दूर हो जाता है। माहात्म्य के संपूर्ण ज्ञानवाली माँ देवकीजी भी प्रभु के प्रति स्नेह प्रकट होते ही प्रभु से कहने लगीं, 'मैं धैर्यरहित बुद्धिवाली हूँ। मैं आपके कारण कंस से बहुत घबराती हूँ।'

प्रभु ने गिरिराज धारण करके सबकी रक्षा की। इससे उनके माहात्म्य को ब्रज भक्तों ने देखा-समझा, फिर भी उनके माहात्म्य के ज्ञान का उन्हें स्मरण नहीं रहा। उन्होंने उन्हें दही का तिलक किया, अक्षत लगाए, जल उवारा तथा आशीर्वाद दिया। इस तरह ब्रजवासियों ने स्नेह का ही कार्य किया है। भगवान् की स्तुति, नमस्कार आदि नहीं किया।

इस प्रकार स्नेह की यह अवस्था होने के बाद माहात्म्य का ज्ञान रहता नहीं है, उसका विस्मरण हो जाता है।

भक्तिमार्ग में ज्ञान से, माहात्म्य से, अधिक प्राबल्य स्नेह का है। गोकुल की लीलाओं में श्री बालकृष्ण मिट्टी आरोगते हैं।इस प्रसंग में माता यशोदा ने भगवान का मुख खुलवाया, जिसमें ब्रह्माण्ड का दर्शन किया, किन्तु माता ने इस ज्ञान का तिरोभाव कर दिया। पुत्रभाव का तिरोभाव नहीं किया। इसका अर्थ यह है कि माहात्म्य के पक्ष से स्नेह का पक्ष ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। स्नेहभाव में प्रभु को श्रम नहीं होता, असुख नहीं होता है। इस तरह वे अधिक से अधिक प्रसन्न रहते हैं। इस बात का विचार भक्ति मार्ग में करने में आता है।

सेवक की जीवन-पद्धति

वैष्णव की संपूर्ण जीवन-पद्धति ही प्रभु को प्रसन्न करने की दृष्टि वाली होनी चाहिए। समग्र जीवन-पद्धति को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। (१) व्यक्ति का भगवान के प्रति भाव (२) अन्य जीव के प्रति भाव (३) जगत् के प्रति भाव।

(१) भगवान के प्रति भाव- भक्त के स्वभाव में दीनता, सरलता, निरहंकारिता, दया, करुणा जैसे गुणों के होने से भगवान प्रसन्न होते हैं। प्रभु को रिझाने के लिए, श्रेष्ठ तथा अक्लिष्ट पदार्थ का प्रभु श्रीकृष्ण को भोग धरावें, लोक में जो उत्तमोत्तम एवं इष्टतम वस्तु कहलाती हो, जो आत्मा को प्रिय हो तथा जो पदार्थ चित्त को प्रसन्न करने वाले हों, ऐसे पदार्थ या सामग्री प्रभु को समर्पित करनी चाहिए।

प्रभु को समर्पण प्रिय है, जिस समर्पण में स्नेह हो, विशुद्ध स्नेह हो, वह समर्पण प्रभु को प्रिय है।

भक्त का भगवान के प्रति व्यवहार निष्कपट होना चाहिए। प्रभु को प्रसन्न करने के लिए उत्तमोत्तम तत्त्व प्रेम है। प्रियतम को प्रेम से ही पाया जा सकता है। वैष्णव का बर्ताव प्रभु के प्रति प्रेममय होना चाहिए।

(२) अन्य जीव के प्रति भी अयोग्य बर्ताव प्रभु को भाता नहीं है। वे उससे प्रसन्न नहीं होते। वैष्णव को जीवमात्र के प्रति करुणा और स्नेहमय बर्ताव रखना चाहिए। जब जीव को कठोर एवं कपटमय व्यवहार अच्छा नहीं लगता, तो प्रभु को कैसे अच्छा लगेगा?

'हरिव्यापक लही सर्वमां नव आणवो कोई नो दोष' सबमें प्रभु विराजते हैं, ऐसा जानकर किसी में दोष नहीं देखना चाहिए। अन्य के कठोर वचन, पीड़ादायक व्यवहार को सहन करना चाहिए। दूसरों में अपने से अधिक गुण देखने में आवें तो उससे ईर्ष्या करने के बदले प्रसन्न होना चाहिए। अन्य में अपने समान गुण, स्तर मिले तो स्पर्धा करने के बदले मित्रता करनी चाहिए। स्पर्धा से मन में अशांति ही मिलेगी, जिससे जीव बहिर्मुखी हो जाता है। यदि किसी में अपने से अधिक हीनता दिखती है, तो उसका तिरस्कार नहीं करें। इसके बदले उसके प्रति करुणा भाव रखना चाहिए। एक दिन प्रभु उसका उद्धार करेंगे तो उसमें उत्तमता आवेगी। ऐसा विचार रखना चाहिए। श्रेष्ठ के साथ

ईर्ष्या के बदले आनंद, समान के साथ स्पर्धा के बदले मैत्री, हीन के साथ तिरस्कार के बदले करुणाभाव रखें।

(३) जगत् के साथ वैष्णव का भाव अनासक्ति का होना चाहिए। जगत् के पदार्थों के प्रति मोह और ममता का त्याग करना चाहिए। श्री वल्लभ महाप्रभु कहते हैं कि **'प्राप्तं सेवेत निर्मम'** अति क्लिष्ट प्रयास करके नहीं, हठपूर्वक प्राप्त करके नहीं, परन्तु भगवद्-इच्छा से, अनायास से, सरलता से जो कुछ भी सुलभ हो जावे, उसी का ही भोग करें। अपने भोग के पदार्थ भी ममत्व बुद्धि से नहीं, बल्कि अनासक्तिपूर्वक भोग करें।

सारा जगत् भगवान् का ही रूप है, भगवान् के लिए ही है, यह त्रैलोक्य सृष्टि प्रभु की क्रीड़ा के लिए है। जगत् भगवान् का क्रीडांगन है। हम सभी उसकी क्रीड़ा के अंग हैं, ऐसा समझना चाहिए।

सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता ये सब प्रभु की प्रसादी समझने से प्रभु प्रसन्न होते हैं। भक्त के द्वारा क्लेश का त्याग करने से प्रभु प्रसन्न रहते हैं। ऐसी जीवन-पद्धति भी प्रभु की सेवा ही है।

भगवान की प्रसन्नता

'श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या' भक्तिपूर्वक भगवान् की सेवा करनी चाहिए। राजोपचार भावना से भगवान् श्रीकृष्ण की उत्तमोत्तम वस्तु से सेवा करनी चाहिए। राजाधिराज के योग्य ऐसी वस्तुओं, उपचारों से सेवा करनी चाहिए, भगवान के पूजन और परिचर्या करते हुए, उनकी प्रसन्नता का ही विचार करें-

'पूजनं च समीपे स्थित्वा यथायोग्यं सेवनम्, परिचर्या तु विप्रकर्षे स्थित्वेति'

समीप में रहकर यथायोग्य सेवा करना, उसका नाम पूजन है और दूरस्थिति करके भी यथायोग्य सेवा करें, यह परिचर्या है। भगवत्-सेवा स्नेहपूर्वक करनी चाहिए। सेवक की सेवा में स्नेह न हो तो, भगवान को प्रसन्नता के बदले परिश्रम ही होता है। भगवत्-सेवा करते समय उद्वेग नहीं होना चाहिए। उद्वेग होने के दो कारण होते हैं- एक तो चित्त की चंचलता के कारण उद्वेग होता है और दूसरा दुःख के कारण। शरीर रोगी होने से खेद होता है। स्नेह इन सबका निवारण कर देता है। स्नेहपूर्वक सेवा करने वाले भक्त को उद्वेग आदि के अनुभव नहीं होते।

भगवान् की प्रसन्नता में ही भक्त अपनी कृतार्थता मानता है। मनुष्य जन्म की सफलता इसी में है कि प्रभु की सेवा हो। मनुष्य का वही कर्म प्रशंसा करने योग्य है, जिसका उपयोग प्रभु-सेवा में हुआ हो। मनुष्य की वही आयु गिनती में लेना चाहिए, जिसमें प्रभु की सेवा की हो वही सार्थक है। मनुष्य का वही मन कृतार्थ है, जिससे प्रभु की सेवा में परायणता सिद्ध हुई हो।

भक्त का कायिक, वाचिक तथा मानसिक आचरण जो प्रभु को प्रसन्न करने के लिए हो, वही उत्तम सेवा है। भगवान की प्रसन्नता भक्ति में ही है।

श्रीहरि सारे प्राणियों के प्रिय आत्मा हैं, ईश्वर हैं, अन्तर्यामी हैं। देव, असुर, मनुष्य, यक्ष, गंधर्व कोई भी प्राणी मुकुन्द भगवान के चरणों का भजन करते हुए कल्याण को प्राप्त कर सकता है। देव

होना, ऋषि होना, ब्राह्मण होना या ज्ञानी होना, आदि कारणों से ही भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं। दान, यज्ञ, तप, पवित्रता, व्रत करने मात्र से भी प्रभु प्रसन्न नहीं हैं। केवल शुद्ध भक्ति से भगवान् प्रसन्न होते हैं। **'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडंबनम्'** शुद्ध भक्ति के अलावा सारा ही नाटक व प्रदर्शन है।

प्रिय-अप्रिय

भगवान् अप्रसन्न हो जाएँ तो भक्त का कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। इसलिए उसे ऐसे उपाय करना चाहिए, जिससे प्रभु प्रसन्न हों। भगवान को प्रसन्न करने के लिए वैष्णवों को चार प्रकार के व्रत करने चाहिए–

एकादश्युपवासः सर्वभूतदया, यथालाभसन्तोषः सर्वेन्द्रियोपशमः।

(१) एकादशी का उपवास, (२) सब प्राणियों पर दया, (३) जो मिले उसमें सन्तोष, (४) सर्वइन्द्रियों का संयम।

एक दिन श्री आचार्यजी से श्री कृष्णदास मेघन ने प्रश्न किया– 'महाराज! श्री ठाकुरजी को प्रिय वस्तु क्या है?' श्री महाप्रभुजी ने उत्तर दिया– 'श्री ठाकुरजी उत्तम से उत्तम वस्तु के भोक्ता हैं, फिर भी उन्हें गोरस अत्यन्त प्रिय है और सबसे प्रिय उन्हें भक्त का स्नेह है।' भगवान को अप्रिय क्या है, ऐसा प्रश्न पूछने पर वे बोले– 'भगवान को धुआँ अप्रिय है तथा सबसे अप्रिय भक्त का द्वेषी व्यक्ति है।'

दयया सर्वभूतेषु संतुष्ट्या येनकेनचित् सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥

सब प्राणियों पर दया करने से, जो कुछ प्राप्त हो, उससे संतोष करने से तथा सर्वइन्द्रियों का शमन करने से अविद्या का नाश करने वाले जनार्दन प्रभु तुरंत प्रसन्न होते हैं।

समस्त पुरुषार्थों के स्वामी प्रभु के प्रसन्न होने पर क्या दुर्लभ है? इसे आगे जगत् के काम आदि पदार्थ व्यर्थ हैं। जो सारी आशाओं का त्याग करके, केवल भगवान् का भजन करता है, उसे प्रभु निजपद की प्राप्ति कराते हैं। भगवदीय जहाँ जाता है, वहाँ उसे भगवान का तथा भगवद्-सुख का ही विचार आता है। काशी के सेठ पुरुषोत्तमदास के मामा का गयाजी जाने के लिए खूब आग्रह होने से वे गयाजी जाने को निकले। गाँव के बाहर पाँच कोश जाने के बाद बैंगन का एक खेत दिखा। खेतवाले को एक टोकरे में बैंगन भरते हुए सेठ ने देखा तो गाड़ी रुकवा कर विचार करने लगे कि यह शाक श्री मदनमोहनजी के शयन-भोग के लिए उत्तम है। खेतवाले को एक रुपया देकर बैंगन खरीद लिए और गाड़ी घर की ओर वापस लौटा ली।

इसी समय ठाकुरजी सेठ की पुत्री रुकमणी से कहते हैं, 'तू जल्दी उठकर स्नान करके पूरी बना, तेरे पिताजी शाक लेकर आ रहे हैं।' पुत्री ने कहा– 'वे तो गयाजी गये हैं।' प्रभु ने उत्तर दिया– 'उनकी गया यात्रा पूर्ण हो गई। तू उठ और पूरी बना।'

यात्रा करने के लिए निकले हुए भगवदीय को प्रभु की सेवा का कैसा ध्यान रहता है? उसका यह सुंदर उदाहरण है।

श्री ठाकुरजी के सुख का ध्यान करके रामदास सारस्वत ने अपनी विरक्त जीवन-पद्धति में परिवर्तन कर दिया था। उनका द्रव्य समाप्त हो जाने पर वे कर्ज पर लेकर काम चलाने लगे। लेनदार टोकते तो दूसरे के यहाँ से कर्ज ले आते। एक बार उधारी के पैसे लेने आए लेनदार ने उन्हें काफी अपमानित किया। इससे रामदास को काफी दुःख हुआ। भक्त के ऐसे दुःख को भगवान कैसे सहन करते? श्री ठाकुरजी ने रामदास का रूप धारण किया और उसका सारा कर्जा चुका दिया। इतना ही नहीं, सौ रुपये ज्यादा जमा किए तथा साहूकार के चौपड़े में हस्ताक्षर भी किए। इस घटना का पता लगने पर रामदास ने सोचा प्रभु को मेरे कारण इतना परिश्रम करना पड़ा। तब रामदास ने घर छोड़कर नौकरी करने का निर्णय किया। ऐसी अपरस भी क्या काम की, जिसमें ठाकुरजी को श्रम हो। अष्ट प्रहर अपरस में रहने वाले इस भगवदीय ने प्रयाग में घुड़सवार सशस्त्र सिपाही के रूप में नौकरी स्वीकार की। अपने विरक्त जीवन के कारण ठाकुरजी को श्रम हो, यह उसे स्वीकार नहीं था।

श्री ठाकुरजी अपनी सेवा को स्वीकारते हैं तथा प्रसन्नतापूर्वक विराजते हैं, इसे जानने के चार प्रकार हैं- पहला यह कि वैष्णव हमारे घर आए तथा संतुष्ट हो। प्रसाद ले। दूसरा यह कि भगवत्-स्वरूप में हमें आनंद आवे। हमें यह अनुभव हो कि श्री महाप्रभुजी की कानी से साक्षात् श्री नंदनंदन हमारे द्वारा धरा गया भोग आरोग रहे हैं और जल पी रहे हैं। तीसरा यह कि श्री ठाकुरजी को जो पसंद है, वह शृंगार हमसे कराते हैं और उन्हें जो भाता है, वह भोग आरोगते हैं। प्रभु भोग आरोगते हैं, तो महाप्रसाद में विविध प्रकार के स्वाद आते हैं। चौथा श्री ठाकुरजी के थाल का महाप्रसाद कभी समाप्त नहीं हो।

ब्रजवासी चीते रसरीति
जिनके हृदय और नहीं भावे नंदसुवन पद प्रीति....
सर्वभाव-सर्वात्म-निवेदन, रटत है त्रिगुणातीत
करत महल में टहल निरंतर, जात याम युग बीत.....
जिनकी गति और नहीं जाने बीच जवनिका भीति
कोई एकल है दास परमानंद गुरु प्रसाद प्रतीति.....

प्रभु को प्रसन्न करने के लिए एकमात्र स्नेह ही उपाय है और इस स्नेह की रीत को ब्रजभक्त जानते हैं। वे श्री नंदकुमार के चरण की प्रीति को ही जानते हैं और कुछ भी नहीं जानते। अन्य कुछ भी इन्हें अच्छा नहीं लगता। ब्रजभक्तों को सर्वात्मभाव सिद्ध हो चुका है। इन्होंने तो भगवान् को अपना सर्वस्व निवेदन कर दिया है। ये त्रिगुणातीत-निर्गुण श्रीकृष्ण को ही रटती रहती है। ब्रजभक्त भगवद्-धाम में रहकर, भगवान् की सेवा करते हुए ही जीवन-यापन करते हैं। भगवान् और भक्त का यह स्नेहपूर्ण सेव्य-सेवक संबंध गूढ़ है। भगवान् और भक्त में अंतरंग संबंध होते हुए भी सेवक-सेव्य के बीच भय का परदा रहता है। सेवक के मन में यह भय बराबर बना रहता है कि जाने-अनजाने मुझसे कोई अपराध न हो जावे। यही भय परदे के रूप में होता है। प्रभु सेवक को चाहे जितना बड़प्पन प्रदान करें, चाहे जितनी कृपा बरसावें तो भी सेवक के द्वारा अपराध होने की संभावना बनी रहती है। वह डरता रहता है कि मुझसे कोई अपराध न हो जाए, जिसके परिणामस्वरूप प्रभु को सुख के

बदले परिश्रम हो। कहीं मेरे अपराध के कारण प्रभु अप्रसन्न होकर मुझसे मुँह न मोड़ लें। ऐसे भाव भक्त को मन में रखना चाहिए, ऐसा चिंतन होना चाहिए। गुरुदेव श्री वल्लभ की कृपा से किसी भाग्यवान् बिरले भक्त को ही ऐसा उत्तम अनुभव होता है।

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में भक्तिरूपी चिन्तामणि का सुंदर निरुपण किया गया है-

राम भक्ति चिन्तामनि सुन्दर बसई गरुड़ जाके उर अंतर।
परम प्रकाश रूप दिनराती। नहिं कछु चाहिअ दिया घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहीं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥

ज्ञान रूपी दीपक और भक्ति रूपी मणि दोनों प्रकाश देते हैं और अंधकार को दूर करते हैं, किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। दीपक को रुई चाहिए, बार-बार बत्ती को सरकाना पड़ता है, घी-तेल भी बारंबार डालना पड़ता है। पवन के झोंके से भी बचाना पड़ता है, नहीं तो बुझने में देर नहीं लगती। जिसने ज्ञान रूपी दीपक लगा रखा है, उसके पास ऋद्धि-सिद्धि चतुराई से आती है। उसकी बुद्धि को लोभ में लगा देती है। ज्ञान दीपक को बहुत-सी बातों का भय है।

भक्ति जीवन में सरलता से शीतल प्रकाश देती है, दाहकता नहीं देती। भक्ति एक सुंदर चिन्तामणि की तरह है, जिसके हृदय में यह चिन्तामणि है, उसे रात-दिन परमप्रकाश मिलता रहता है। न घी डालने की चिन्ता रहती है, न चाहिए बाती। उसे वायु बुझा नहीं सकती। उससे प्रबल अविद्या रूपी अंधकार नष्ट हो जाता है। यह मणि साधारण मणि नहीं है, यह तो चिन्तामणि है, चिन्तन-मात्र से इच्छा करते ही मिल जाती है। भक्त के ऐहिक तथा पारलौकिक योग-क्षेम की भगवान् को सदा चिन्ता रहती है। जब ज्ञान साधन करने वाले को भी भय रहता है, तो फिर यज्ञ, योग जैसे साधन का तो विश्वास हो ही नहीं सकता। इसलिए कर्म और ज्ञानमार्ग छोड़कर भगवद् भक्ति में तत्पर रहना ही कल्याणकारी है, श्रेयस्कर है। भगवत्-सेवा ही जीव के परम कल्याण का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। ●

शुश्रूषणं च तदेव, येन सेव्यस्य सुखं भवति, परितुष्यति च। ३-१३-६
निष्कपटेन हृदयेन मामाज्ञापयेति यदात्मना सह सर्वस्व निवेदनम्, तदेव
शुश्रूषणम्। अनेनैहिकं पारलौकिकमपि आत्मगामि सर्वं निवेदितम्...
तदेवात्मसमर्पणं नाम। न ततोऽन्यत्प्रभोः शुश्रूषणमस्ति। ३-१३-९

जिससे सेव्य प्रभु को सुख हो और वे सन्तुष्ट हो वही सेवा है। 'मुझे आज्ञा कीजिए' यह कहते हुए निष्कपट हृदय से आत्मा सहित अपने सर्वस्व का प्रभु के चरणों में निवेदन कर देना सेवा है। इस प्रकार अपने इस लोक और परलोक से सम्बन्धित अपना सब कुछ प्रभु को निवेदन कर देना आत्म समर्पण है। इसके अलावा प्रभु की और कोई दूसरी सेवा नहीं है।

सेवार्थं सत्संग इति प्रथमं साधनम्। १-५-२५
सेवा च पुष्टिमार्गे सस्नेहा॥ वही॥

सत्संग भगवत् सेवा के लिए पहला साधन है। पुष्टिमार्ग में भगवान की सेवा स्नेहपूर्वक होती है।

स्वाध्याय-२५

सेवाधर्म

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठा-प्रसिद्धये॥

भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा जीवनपर्यन्त करना चाहिए। उसे स्वधर्म समझकर करें। फल की कामना, भोग की आकांक्षा, प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि प्राप्ति की आकांक्षा से नहीं, परन्तु स्वयं की सार्थकता के लिए कृष्ण-सेवा तो करनी चाहिए।

'कृष्ण-सेवा सदा कार्या'- (सिद्धान्तमुक्तावली)। कृष्ण अर्थात् सदानंद यहाँ महाप्रभुजी ने भगवान् के लिए कृष्ण शब्द का प्रयोग करके सेवा की फलात्मकता- स्वतः पुरुषार्थरूपता दिखाई है। सेवा पुरुषार्थरूपा है, क्योंकि वह साक्षात् सुखरूप है। शास्त्र में चार पुरुषार्थों का निरूपण किया है। ये हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चार में धर्म और अर्थ ये दो स्वतः पुरुषार्थरूप नहीं हैं, ये साधन रूप हैं, जबकि काम और मोक्ष ये साक्षात् सुख के कारण रूप होने से, स्वतः पुरुषार्थरूप हैं।

महाप्रभुजी ने सदानंद फलरूप श्रीकृष्ण की सेवा की आज्ञा है। यह सेवाधर्म धर्म होते हुए भी साधन रूप नहीं है। स्वतः पुरुषार्थ रूप है।

भगवान् कपिल माता देवहुति को उपदेश करते हुए सेवा की फलरूपता समझाते हैं, कदाचित् भगवान् प्रसन्न होकर भक्त को सालोक्य (वैकुण्ठवास) मुक्ति दें। सार्ष्टि (स्वयं के जैसा ऐश्वर्य) भक्त को दें। सामीप्य मुक्ति (सदा सान्निध्य) प्रदान करें, सारूप्य (स्वयं के जैसा चतुर्भुज रूप) मुक्ति देवें या सायुज्य मुक्ति (स्वयं में एकत्व) प्रदान करें तो भी भक्त इसे मुख्य फल मानकर स्वीकार नहीं करें। भक्त तो भगवत्-सेवा को ही मुख्य फल मानते हैं। इसके सिवाय अन्य कोई भी फल उन्हें स्वीकार नहीं है।

जीवमात्र ईश्वर का यह सहज दास है, इसलिए सबको भगवत्-सेवा करनी चाहिए। जो भगवत्-सेवा नहीं करता है, वह अपराधी है और वह भक्तिमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए सेवा नित्य कर्त्तव्य है। जिस प्रकार एक बार अंजन लगाने से ही आँख का दर्द दूर नहीं होता, उसी प्रकार जीवन में एक बार भगवत्-सेवा करने से ही सब फल नहीं मिल जाते हैं। भगवत्-सेवा साधन भी है, जिसे नित्य करना चाहिए। साधन-सेवा का नित्य अभ्यास रखे तो ही फलरूपा मानसी सेवा सिद्ध होती है।

सेवा-परायणता

हम भगवान् के सेवक हैं। इसे क्षणभर भी न भूलें और सेवक-धर्म का यथार्थ पालन करें। प्रभु की छोटी-बड़ी, अन्तरंग या बहिरंग सेवा में किसी प्रकार का संकोच न करें। वास्तव में कोई सेवा

छोटी या बड़ी नहीं है। हो सके उतनी भगवत्-सेवा स्वयं करना चाहिए। तनुजा सेवा को भी उत्तम मानना चाहिए। भगवदीय को स्वयं प्रभु के वागा-वस्त्र इत्यादि धोना, प्रभु के मंदिर को बुहारना, शाक-सामग्री सुधारना, सेवा-सामग्री, भोग-सामग्री सिद्ध करना, प्रभु-सेवा-संबंधी अत्यन्त बहिरंग क्रियाएँ भी जितनी संभव हो, उतनी स्वयं करें। इसे ही सेवा-परायणता कहते हैं।

भगवत्-सेवा सहाय-सापेक्ष है। मोटे तौर पर सेवा में दूसरों की सहायता भी जरूरी है। पत्नी, पुत्र आदि स्वजनों का विनियोग सेवा में कैसे करना, इसका मार्गदर्शन श्री महाप्रभुजी देते हैं-

भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद् भगवत्-क्रियाम्
उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजेत्।
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः॥

पत्नी, पुत्र आदि जो भी भगवत्-सेवा में अनुकूल हो, उन्हें भगवत्-सेवा में लगावें। अपने स्वार्थ के लिए, अपने को सहूलियत रहेगी इस भाव से नहीं, परन्तु भगवान की प्रसन्नता का विचार करके उन्हें सेवा में लगावें। भगवत्-सेवा में उनकी उदासीनता (न स्नेह, न विरोध) हो तो भगवदीय को स्वयं ही सेवा में पहुँचना चाहिए। स्वजनों की भगवान् की सेवा में रुचि न हो, आसक्ति न हो तो भी उन्हें हठपूर्वक सेवा में लगाने से सेवा क्लिष्ट बनती है तथा प्रभु को परिश्रम होता है। प्रभु किसी की क्लेशपूर्वक की हुई सेवा को अंगीकार नहीं करते हैं। भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं, जिससे किसी को दुःख हो- ऐसा कर्म प्रभु को इष्ट नहीं है।

पत्नी-पुत्र इत्यादि जो प्रभु-सेवा के प्रतिकूल हों, विरोध करें तो प्रभु-सेवा का त्याग न करते हुए उनका ही त्याग कर दें। उनका त्याग करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि वे भगवान् से विमुख हैं। भगवत्-भजन में, सेवा में परायणता का अर्थ यह है कि जो-जो वस्तु या व्यक्ति भगवान् की सेवा, भक्ति आदि में विरोधी हो, उनका त्याग करना चाहिए।

अत्यन्त सावधानी से प्रभु की सेवा करना चाहिए। श्रीकृष्ण प्रभु अपनी कृपा से ही हमारे घर में विराजते हैं। अपना अहोभाग्य है कि भगवान की साक्षात् सेवा का अवसर मिला है। जिस प्रकार सावधान योगी सावधानी से ही अपने हाथ में पारा स्थिर रख सकते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण की सेवा भी सावधानी से करना चाहिए। सेवा का माहात्म्य और स्वयं की कृतकृत्यता का स्मरण रखते हुए सेवा-परायण होकर रहें।

पत्नी, पुत्र इत्यादि परिवार के स्वजन, जो भगवत्-सेवा में अनुकूल हों, उन्हें सेवा में साथ रखें। श्री भगवान् को सुख हो, इसी उद्देश्य से सबको सेवा में लगाना चाहिए। उन्हीं का भगवत्-सेवा के अंगरूप क्रियाओं में विनियोग करावें। वैष्णव घर के उन स्वजनों व सेवकों को हठाग्रहपूर्वक सेवा में न जोड़ें, जो सेवा को भाररूप समझते हों।

पत्नी, पुत्र इत्यादि स्वजन जो भगवत्-सेवा में स्वयं उदासीन वृत्ति के हों तो भगवदीय वैष्णव को भगवत्-सेवा के अन्तरंग और बहिरंग सेवा की क्रियाओं को स्वयं ही करना चाहिए। इतना ही नहीं, यदि वे भगवान से विमुख हों और भगवत्-सेवा के प्रतिकूल और बाधक होते हों तो उनका

त्याग कर देना चाहिए। भगवान् से जो बहिर्मुख है, उनका त्याग करने में कोई दोष नहीं है। यह पुष्टिमार्ग का सिद्धांत है कि अवैष्णवों के साथ में रहना नहीं चाहिए।

स्वरूपसेवा

वैष्णव को भगवत्-स्वरूप पधराकर हमेशा भगवत्-सेवा करनी चाहिए। भगवान् की मूर्ति को भगवान् का ही स्वरूप जानना चाहिए, मूर्ति या प्रतीक नहीं है। उसमें साक्षात् प्रभु विराजते हैं तथा भक्त के द्वारा समर्पित सेवा को साक्षात् स्वीकारते हैं। यह भाव निरंतर दृढ़ रखना आवश्यक है।

भगवान् तो अमूर्त हैं। उनकी मूर्ति कैसे हो सकती है? वे छोटी-सी प्रतिमा में कैसे समा सकते हैं? ऐसी शंका वैष्णव को नहीं करनी चाहिए। श्री महाप्रभुजी इसका समाधान करते हैं कि- भगवत् तत्त्व सर्वव्यापी है, 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' भगवान् सर्वव्यापी तो हैं और साकार भी हैं। जो प्रभु सर्वत्र हैं, वह मूर्ति में भी हैं। जो सर्वत्र है, उसका अभाव मूर्ति में कैसे हो सकता है? इसलिए स्वरूप-सेवा करने वाले वैष्णवों को भगवत्-स्वरूप में साक्षात् सेव्य-सेवक संबंध रखना चाहिए। वैष्णव को भगवत्-स्वरूप में अनन्य भगवद्भाव स्थापित करके स्वयं ही सदा कृष्ण-सेवा करके अपना जन्म सफल कर लेना चाहिए।

जीवन चलाने के लिए आजीविका के लिए जिन्हें कुछ काम करना हो, ऐसे वैष्णवों को दिन में कम से कम एक याम अर्थात् तीन घंटे का समय प्रभु को समर्पित करना चाहिए। नौकरी-व्यवसाय इत्यादि में प्रवृत्त होने वाले के चित्त में विक्षेप-व्यग्रता आदि का अनुभव हो तो भी सावधानीपूर्वक चित्त को पुनः भगवान् में लगावें। शास्त्र में जिनका निषेध है, ऐसी आजीविका का वैष्णव को परित्याग कर देना चाहिए।

गृहत्याग

गृहस्थितेरुत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्व मात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या
भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्थातव्यम्॥ सु. ३.१.२

मनुष्य भगवदीय हो इतने मात्र से उनके गृहवास को उत्तम नहीं माना जा सकता। वह यदि भगवान के साथ (भगवान को पधराकर) घर में निवास करता है या भगवान के कार्यों के लिए (भगवत्-सेवा करने के उद्देश्य से) गृह में निवास करता है, तो उसका गृहवास उत्तम है। अन्यथा गृहस्थिति, घर में रहना उचित नहीं है।

घर में वैष्णव रहता है, तो उसका उद्देश्य भगवत्-सेवा होना चाहिए। वह भगवत्-सेवा के लिए ही घर में निवास कर रहा है ऐसा निश्चय करना चाहिए। कभी ऐसा भी होता है कि वैष्णव की विरक्ति से सेवाधर्म को हानि हो या प्रभु को श्रम हो तो भगवान को परिश्रम देने वाला यह धर्म मुख्य धर्म नहीं है। सेवक का मुख्य धर्म सेव्य की प्रसन्नता है। भक्त की विरक्ति से भगवान को यदि श्रम हो तो उसे जीवन-निर्वाह के लिए आजीविका का उपाय करना चाहिए।

निर्दोष आजीविका द्वारा प्राप्त किए हुए द्रव्य से भगवान की सेवा करनी चाहिए। यही प्रभु को मान्य है। स्वगृह में निवास, निर्दोष, आजीविका और स्वधर्म परिपालन के द्वारा वैष्णव निश्चिंत हो सकता है, सरलता से प्रभु के सन्मुख रह सकता है।

वैष्णव को जिस तरह भगवान प्रसन्न हों, वैसे बर्ताव करना चाहिए। उसे लौकिक और अलौकिक दोनों में सावधान रहना चाहिए। उसे वैराग्य और जो प्राप्त हो, उसमें सब प्रकार से संतोष रखना चाहिए, संतोष का परित्याग नहीं करना चाहिए। संसार में राग बढ़ने से ही क्लेश बढ़ता है। चित्त में उद्वेग हो, ऐसे प्रसंगों में भी वैष्णव को चित्त में उद्वेग नहीं होने देना चाहिए। राग से अपेक्षा (कामना) बढ़ती है। जिसकी जितनी अधिक कामनाएँ होती हैं, उसे उतना अधिक दुःख होता है, ऐसा समझकर अपेक्षाओं को छोड़ देना चाहिए। स्वयं की समस्त कुशलता, योग्यता, दक्षता का उपयोग भगवत्-सेवा में ही करना चाहिए। स्वयं की सम्पत्ति और बुद्धि का भगवत्-सेवा में अच्छी तरह सदुपयोग-विनियोग हो, उसी में वैष्णव की कुशलता है। वैष्णव के लिए भगवत्-सेवा भी योग बन जाए। 'योगःकर्मसु कौशलम्'। वैष्णव 'सेवा-योगी' है, उसका सेव्य-सेवक संबंध ही उसका सेवा-योग है। यही उसकी समाधि है और यही उसकी मुक्ति है।

सेवायोग - भगवान् को प्रसन्न करने के लिए ही सेवक सेवा करता है। उसमें भक्त स्वयं की सम्पूर्ण शक्ति, समग्र बुद्धि और समस्त भावों को भगवान् के सुख के लिए समर्पित कर देता है।

वसंत पंचमी कब है, इसकी जानकारी न होने से कृष्णभट्ट ने चतुर्थी के दिन ही वसंत खेल का उत्सव किया। श्रीनाथजी ने रामदास भीतरिया को वसंत खेल के दर्शन दिए। जब कृष्णभट्ट श्री गुसांईजी से मिले, तब आपश्री ने उन्हें मीठा उलाहना दिया- 'अब तिथि-वार का बराबर ध्यान रखकर उत्सव करना। प्रभु तो स्वयं उत्तम वस्तु के भोक्ता हैं, अतः उनसे रहा नहीं जाता है इसीलिए तुम्हारे जैसे भगवदीयों के संबंधों के लिए प्रभु दौड़े चले आते हैं।'

तिथि-वार के अतिरिक्त सामग्री की सावधानी रखना भी आवश्यक है। पद्मा रावल की पत्नी ने गरम खीर भोग में धरी। प्रभु ने खीर आरोगी तो सही लेकिन श्री महाप्रभुजी को अपने हाथ तथा ओंठ दिखाए और शिकायत की कि, उसने मुझे गरम खीर धरी थी, जिससे मेरे हाथ और ओंठ लाल हुए हैं। यद्यपि उसने गरम सामग्री इसलिए धरी थी कि गरम सामग्री प्रभु को अच्छी लगती है, परन्तु श्री महाप्रभुजी ने समझाया कि अन्य सामग्री गरम धरावें तो कोई चिन्ता नहीं, किन्तु खीर गरम नहीं धरावें। श्री ठाकुरजी बालक हैं और बालक को खीर अधिक प्रिय है। खीर धराई हो तो वे पहले खीर ही आरोगेंगे, इसलिए खीर अधिक गरम नहीं होना चाहिए।

अम्मा क्षत्राणी जब भी श्री ठाकुरजी को जगाती तो दोनों हाथों में इत्र लगाकर जगाती थी और श्री अंग का स्पर्श करती थी। उसका ऐसा भाव था कि मेरे हाथ कठोर हैं और श्री ठाकुरजी सुकोमल हैं।

प्रभु को नित्य नवीन सामग्री रुचती है। प्रयाग की एक भगवदीय क्षत्राणी की वार्ता में यह सिद्धांत खूब सुंदर ढंग से निरूपित किया गया है। उसने ऐसा विचार किया कि दस-बारह दिनों की इकट्ठी सामग्री बना लेती हूँ, जिससे निश्चिंतता हो जावेगी। थोड़े पैसे इकट्ठे करके उसने दस-बारह दिनों के लिए बाल-भोग की सामग्री बना ली और आराम से चरखा कातने बैठ गई। श्री ठाकुरजी को उसकी यह निश्चिंतता अच्छी नहीं लगी। वे तो सिंहासन से उठे और छींके पर से हांडी उतारकर लड्डू आरोगने

लगे। मंदिर में से हांडी की आवाज सुनकर क्षत्राणी को शंका हुई। वह आकर देखती है कि श्री ठाकुरजी तो हांडी लेकर सिंहासन पर बैठे हैं और उसमें से लड्डू आरोग रहे हैं। उसने प्रभु से कहा- 'यह सामग्री तो आपके लिए ही की थी, लेकिन दस-बारह दिन चले इतनी थी। सारी सामग्री आज ही आरोग गए।' प्रभु ने उत्तर दिया- 'तू इकट्ठी सामग्री बनाकर निश्चिंत हो गई थी कि दस-बारह तक चलेगी, लेकिन मुझे तो नित्य नवीन ताजी सामग्री ही अच्छी लगती (भाती) है। बासी सामग्री किस काम की?' क्षत्राणी ने क्षमा माँगी तथा नित्य नवीन सामग्री बनाने लगी।

सेव्य के प्रति और सेवा में एकदम निश्चिंत हो जाना ठीक नहीं। इस प्रकार की निश्चिंतता आने पर मन का निरोध नहीं होता और मन इधर-उधर भटकता है। प्रभु के साथ सेव्य-सेवक संबंध बना रहे और स्वयं का चित्त प्रभु में लगा रहे, इसलिए भगवदीय हमेशा प्रार्थना करते रहते हैं-

माधो, यह प्रसाद हौं पाऊँ।
तव भृत्याभृत्य भक्तपरिचारक, दास को दास कहाऊँ....
ये परमारथ गुरु सिखायो मोहि, श्यामा-श्याम की सेवा
यहै वासना जिय बसो मेरे, देखूँ न दूजा देवा....
परमानंददास तुम ठाकुर, यह नातो जिन टूटो
नंदकुमार जसोदानंदन, हिल मिल प्रीत न छूटो....

भक्त कहते हैं कि- हे माधव! आप से मुझे ऐसा कृपा-प्रसाद मिले, यही मनोरथ है। मै आपके दास का दास हो सकूँ, मुझे भगवदीयों की सेवा-टहल करने का अवसर दें, मुझे यही कृपा चाहिए।

मेरे सद्गुरु श्री महाप्रभुजी ने यही परमार्थ की शिक्षा दी है कि जीवन की सार्थकता, सर्वसाधनों का फल और सर्वोत्तम सुख श्री राधाकृष्ण की सेवा में ही है। मेरे हृदय में मात्र एक ही कामना रहती है कि मुझे राधेश्याम के बिना, युगल स्वरूप के दर्शन के बिना, किसी के दर्शन की कामना ही न रहे। मेरी आँखों की एक ही अपेक्षा है, यही अभिलाषा है कि मेरे स्वामी के दर्शन हों। हे हरि! मैं दास और आप स्वामी, मैं सेवक और आप सेव्य हैं। इस संबंध को आप कभी टूटने न दें। मेरी प्रार्थना है कि ज्ञान से या अज्ञान से, संसार के बंधनों से, मोक्षफल से, किसी भी कारण से यह संबंध न टूटे। यह प्रीति अनादिकाल की है, यह प्रीति कभी न छूटे, यही प्रार्थना है। यही कृपा-प्रसाद माँगता हूँ।

राग-कान्हरो

उद्धव ऐसो भक्त मोही भावे।
सब तज आश निरंतर मेरी जन्म कर्म गुन गावे।।
कथनी कथत निरंतर मेरी सेवामें चित लावे।।
मृदु हास नैन जलधारा करतल ताल बजावे।।
जहाँ जहाँ भक्त मेरे चरण धरत हैं तहाँ तीरथ चलि आवे।
वे रज लै मैं अंग लगाउँ कोटि ब्रह्माण्ड सुख पावे।
मेरी मूरत उनके हृदय में वे मेरे उर आवे।।
बल बल जाऊँ श्रीमुख वाणी 'सूरदास' जस गावे।।

स्वाध्याय-२६

भगवत्-सेवा में भावनाएँ

◆ भौतिक पदार्थों का भावात्मक स्वरूप

पुष्टिमार्ग भगवान को भजने का भावात्मक मार्ग है। इस मार्ग में भगवान का स्वरूप भी भावात्मक है। भगवान सम्बंधी सभी पदार्थ भी भावात्मक हैं। साधन और साध्य, साधन और फल सभी भावात्मक होने से इस मार्ग में प्रत्येक तत्त्व के भौतिक एवं भावात्मक स्वरूप का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है।

श्री महाप्रभुजी ने वेणुगीत की सुबोधिनीजी में भगवात्संबंधी वेणु इत्यादि पदार्थों के अलौकिक आधिदैविक रूपों को भी समझाया है। बाह्य स्थूल दृष्टि से हमें ये तत्त्व स्थूल प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः ये चैतन्य, रसात्मक एवं भावात्मक रूप वाले हैं। भक्तिमार्ग के पथिकों को यदि इन 'भौतिक' रूपों में छिपा हुआ 'भावात्मक' स्वरूप का ध्यान आ जाए। तो ही उनकी सेवा-रुचि एवं भक्ति में रस जाग्रत हो सकता है। उनके द्वारा की जाने वाली सेवा क्रियात्मक न होकर भावात्मक एवं रसात्मक हो जाती है और उसी तरह भगवत्-सम्बंधी पदार्थों के प्रति एक विशिष्ट आदरपूर्ण व्यवहार तथा उन पदार्थों का माहात्म्य ज्ञान उनके भाव को भी अधिक दृढ़ एवं प्रभावकारी बना देता है। श्री ठाकुरजी की सेवा-रीति तथा सेवोपयोगी साधन सामग्री अप्रकट गूढ़ भावात्मक स्वरूप को समझना प्रत्येक वैष्णव के लिए अनिवार्य है। इस ज्ञान के न होने से कई बार सेवा प्रकार में गाम्भीर्य तथा समझ का अभाव हो जाता है। भगवत्-सेवा मात्र क्रियात्मक अनुकरण बन जाय तो न भगवदीय को सेवा में आनंद आता है और न ही श्री ठाकुरजी को प्रसन्नता होती है।

◆ पुष्टि-भाव-सृष्टि

भगवान का मंदिर अक्षर ब्रह्म का स्वरूप है। इसी तरह वह वृन्दावन की कुंज रूप और नंदालय भी है। मंदिर के दो द्वार श्री स्वामिनीजी के दोनों नेत्र-पलक हैं।

प्रभु को जगाने के लिए प्रातःकाल जो घंटानाद होता है, वह ब्रजकुमारिकाओं का कंठ-गान रूप एवं गायों के गले की घंटियों की ध्वनि के समान तथा निकुंज की तोता-मैना के कलरव के समान है। प्रभु को जगाने के लिए शंखनाद में अष्ट सखियों के पुंभावात्मक स्वरूप की भावना है।

सिंहासन अक्षर ब्रह्मरूप है। यह श्री यशोदाजी की गोद भी है। दो तकिये श्री यशोदाजी के दो हाथ हैं तथा पीछे के तकिया श्री यशोदाजी का हृदय है। सिंहासन का वस्त्र उनकी साड़ी का पल्ला है अथवा दाहिने तकिये में श्री स्वामिनीजी तथा बायें तकिये में श्री चन्द्रावलीजी का भाव है।

झारीजी मुख्य रूप में श्री चतुर्थ स्वामिनी यमुनाजी रूप होने से झारीजी को भगवान के बांई तरफ पधराया जाता है। झारीजी के स्वरूप में श्री यशोदाजी, श्री स्वामिनीजी तथा कुमारिकाओं का भाव भी समाया हुआ है। मंगलभोग वात्सल्यभाव प्रधान है। चौकी श्री रोहिणी जी का स्वरूप, चाँदी की कटोरी हो तो श्री चन्द्रावलीजी का स्वरूप और अन्य सब में श्री यमुनाजी का स्वरूप है।

टेरा (पडदा) माया का स्वरूप है, परन्तु माया का यह अविद्यात्मक स्वरूप नहीं, विद्यात्मक स्वरूप है। सारी सामग्री स्वरूपात्मक है और प्रभु भोक्ता हैं। भोग के लिए एकान्त चाहिए इसलिए मायारूपी टेरा आवश्यक है। प्रभु को नजर न लगे, ऐसी भी इसमें भावना है।

भगवान पोढ़ते हैं, भक्तों के हृदय में। भक्तों का हृदय शय्या है। शय्या के चार पाये, चार तकिये इनमें चारों यूथपतियों का भाव है। झारीजी के नीचे तबकड़ी (तश्तरी) श्री ललिताजी का स्वरूप है।

मंगला आरती- भक्त स्वयं के हृदय के विरह-भाव को प्रभु पर न्यौछावर करता है और प्रभु की रक्षा के लिए माता बलैइयाँ लेती है। भगवान के स्नान की थाली में श्री ललिताजी का, चौकी में चंद्रावलीजी का और उस पर बिछे हुए वस्त्र में श्री स्वामिनीजी का भाव रखना चाहिए। अभ्यंग में आँवले श्री यमुनाजी के भाव से, तुलसी कुमारिका के भाव से, हल्दी श्री स्वामिनीजी के श्री अंग के भाव से तथा फुलेल श्री स्वामिनी जी के स्नेह के भाव से समझना चाहिए। चोबा श्री यमुनाजी का श्रमजल है। चंदन श्री चन्द्रावलीजी, केशर श्री स्वामिनीजी तथा जल श्री यमुनाजी हैं, यह भाव रखकर ही प्रभु को स्नान करवाना चाहिए।

नंदालय में श्री यशोदाजी वात्सल्य भाव से शृंगार धराती हैं। नंदलाय में कुमारिकाएँ श्री स्वामिनीजी के भाव से तथा निकुंज में श्री स्वामिनीजी प्रभु को साक्षात् शृंगार धराती हैं।

शृंगार में श्री स्वामिनीजी के भाव से प्रभु नूपुर, कंदोरा, स्वर्ण की माला, सोने की हँसली, कंकण बाजुबंध, अधरोष्ठ पर धारण की हुई मुरली, बेसर, केशर का तिलक (स्वामिनीजी के चरणारविन्द के भाव से), मुकुट, वेणी, मोरपंख की कलगी, चन्द्रिका जैसे शृंगार धारण करते हैं।

श्री चन्द्रावली के भाव से प्रभु चाँदी तथा मोती के आभूषण धारण करते हैं। गज-मोती की माला, मोती की पहुँची, चिबुक (हड़पची) में या बेसर का मोती, रत्नजड़ित तिलक, अलकावली में मोतियों की लड़, कुलहे, टिपारे का दाहिना कतरा, चाकदार वाघा धारण करते हैं।

श्री कुमारिकाओं के भाव से प्रभु झांझर, कस्तूरी का तिलक, पाग और तुर्रा जैसे शृंगार धारण करते हैं।

पुष्पमालाओं में तुलसी की माला में श्री स्वामिनीजी के श्रीअंग की सुगंध का भाव है। कमल-माला में श्री स्वामिनीजी के हृदय का भाव है। गुलाब की माला में श्री स्वामिनीजी के हास्य का भाव है। पीली चमेली में श्री स्वामिनीजी, सफेद चमेली, मोगरे के फूल में श्री चंद्रावलीजी की दंतपक्ति का भाव है। कोयल में श्री यमुनाजी का और कदम्ब के पुष्पों में कुमारिकाओं का भाव है।

दस अंगुलियों में दस मुद्रिकाओं में (नौ सगुण और एक निर्गुण) दस भक्तों का स्वरूप है। वेणु का सबसे ऊपर का छिद्र श्री स्वामिनीजी के रसापान के लिए है, नीचे के छह छिद्रों में से प्रथम

श्री चन्द्रावलीजी के, दूसरा सोलह हजार अग्निकुमारिकाओं के, तीसरा गायों के तथा चौथा श्री गोवर्धन के, पाँचवाँ सारे पशु-पक्षियों के तथा छठा छिद्र देवी-देवताओं के रसपान के लिए है। वेणु भक्तों को स्वरूपानंद का दान करवाने के लिए है और वेत्र बाह्य मर्यादारूप भक्ति है। दर्पण श्री स्वामिनीजी के श्रीअंग के प्रतिबिम्ब स्वरूप है।

मंगल भोग में जैसे यशोदाजी का भाव है, उसी प्रकार शृंगार भोग में श्री स्वामिनीजी (श्री राधाजी) का भाव है। इसमें दूध, खीर श्री स्वामिनीजी के, दही श्री चन्द्रावली जी के, बूरा (शक्कर) श्री यमुनाजी के तथा अचार (अथाणा) श्री कुमारिकाओं के मनोरथ के रूप में धराते हैं।

श्री गोपीजन की प्रार्थना से प्रभु **ग्वालभोग** आरोगते हैं। श्री कुमारिकाएँ श्री ठाकुरजी को घैया (ठंडे दूध को बिलोकर फेनयुक्त) दूध आरोगाते हैं। **पलनामें** मुख्य रूप से मातृचरण श्री यशोदाजी का भाव है।

प्रभु के **खिलौनों में** भी सुन्दर भावना स्थित है। खिलौनों में कोयल स्वामिनीजी का गान है। फिरकनी श्री चन्द्रावलीजी के नृत्य रूप से है। पपैया में श्री कुमारिकाओं का भाव है। खिलौनों में शृंगार, विहार, भय जैसे रसरूप भावों के उद्दीपन का सामर्थ्य है। खिलौनों में हाथी, बाघ, सिंह, घोड़ा, हिरण जैसे प्राणी भयानक, वीर आदि रस के बोधक हैं, तो दूसरी तबकड़ी में तोता, मैना, कबूतर, कोयल, बतख जैसे पक्षी श्री स्वामिनीजी को निकुंज-सृष्टि का रसात्मक बोध कराते हैं। एक ओर तबकड़ी में जलचर प्राणी जैसे मछली, कछुआ, चकई-चकवा, सारस, हंस, बगुला, मगर आदि जलविहार लीला के भाव प्रकट करते हैं। प्रभु की जलविहार, स्थलविहार जैसी लीलाओं के अंग रूप ये खिलौने हैं। सुगंधित धूप में श्री स्वामिनीजी के मुखारविन्द की सुगंध है और दीपक में कुमारिकाओं के विरह का भाव है। धूप से श्री प्रभु की प्रसन्नता व्यक्त होती है और दीपक से भोग सामग्री पर से अन्य लोगों के दृष्टिदोषों का निवारण होता है। अनजाने में दूषित हुई सामग्री को दोषमुक्त बनाने के लिए भोग-सामग्री में तुलसी पधराई जाती है। तुलसी की सुगंध श्री स्वामिनीजी के श्रीअंग की सुगंध है, जो प्रभु को अतिप्रिय है। शंखोदक आधिदैविक जलरूप है, जो कि श्री स्वामिनीजी का अधरामृत है।

प्रभु के **राजभोग** में श्री स्वामिनीजी के घर की सामग्री है। आठ उपनंदों आदि के घर की सामग्री है। उसी प्रकार श्रुतिरूपा श्री चन्द्रावलीजी के मनोरथ की सामग्री भी है। प्रभु अनेकों भावों से राजभोग आरोगते हैं। नंदभवन में श्रीजी यशोदाजी के मनोरथ के रूप में आरोगते हैं। ब्रजभक्तों के घरों में चोरी के बहाने आरोगते हैं। निकुंज में श्री स्वामिनीजी के साथ सर्व सखीजनों के द्वारा समर्पित भोग युगलस्वरूप से आरोगते हैं। गोचारण के लिए वन में पधारे हुए प्रभु श्री यमुनाजी के किनारे सखाओं के सहित छाक आरोगते हैं। इस प्रकार राजभोग के अनेक भाव हैं।

खंडपाट (सीढ़ी) के तीन पगथियों (पायदानों) में श्री चन्द्रावलीजी, श्री कुमारिकाओं तथा श्री यमुनाजी का भाव है। रुई की गादी भक्तों का हृदय है। ताला मंगल किया जाता है, उसमें ताला श्री चन्द्रावलीजी के हाथ की मुट्ठी का स्वरूप है। मंदिर का शाकघर श्री यमुनाजी की कंदरा है। शाकघर के द्वारा श्री पुलिंदिनियों का स्मरण है। खासा भंडार श्री ललिताजी के कुंडल से प्रकट हुआ है। रसोईघर

में सखड़ी का स्थान ऋषि रूपा ब्रजांगनाओं के भाव से और अनसखड़ी का स्थान कुमारिकाओं के भाव से है। ततेड़ा (जल गरम करने का बर्तन) यमुनाजी के भाव से है।

स्वरूप-भावना

भगवत्-स्वरूप की भावना तो उत्तम है ही, परन्तु भगवत्-स्वरूप के आकार के विषय में श्री महाप्रभुजी की कैसी उत्तम भावना थी, यह श्री वासुदेवदास छकड़ा की वार्ता से समझ सकते हैं। सिंहनंद के वैष्णवों ने ३० मोहरें श्री वासुदेवदास छकड़ा के द्वारा श्री महाप्रभुजी को भेंट के लिए भेजीं। उन दिनों यात्रा के समय चोर-डाकुओं का बहुत भय था, इसलिए वासुदेवदास ने श्री महाप्रभुजी तक मोहरें सुरक्षित पहुँचाने के लिए एक सुन्दर युक्ति की। उन्होंने साधु-वैरागी का भेष धारण कर, सारी मोहरों पर लाख चढ़ाया और शालिग्राम जैसी आकृति बना ली तथा उस पर चंदन चढ़ाते पूजा करते हुए वे अड़ेल में श्री महाप्रभुजी के पास आ पहुँचे। रास्ते में चोर मिले तो सही, किन्तु उनको लगा कि साधु है और शालिग्राम की पूजा करता है।

अड़ेल में श्री महाप्रभुजी ने वासुदेवदास से पूछा- 'इतनी सारी मोहरें ठीक तरह से यहाँ तक कैसे लाए? रास्ते में तो बहुत चोर और ठग होते हैं।' वासुदेवदास ने स्वयं की युक्ति का वर्णन किया। किन्तु यह बात श्री आचार्यजी को अच्छी नहीं लगी। वे बोले- 'ऐसा नहीं करना चाहिए। भगवत्-स्वरूप का आकार देकर फिर उसे तोड़कर दूसरा प्रकार करना, यह ठीक नहीं है।' वासुदेवदास ने तर्क दिया कि इसमें प्राण-प्रतिष्ठा तो की ही नहीं थी, केवल लाख का गोला बनाया था। इस पर आचार्यजी ने कहा, फिर भी ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि भगवत्-स्वरूप का आकार तो है ही।'

भावयुक्त भगवदीय के मन में जैसा भाव होता है, भगवान भी वैसा स्वरूप धारण करते हैं, यह स्वाभाविक है। पुष्टिमार्ग में भगवान का स्वरूप आधिभौतिक नहीं होता है। भगवत्-स्वरूप आधिदैविक भावात्मक होता है। श्री पद्मनाभदासजी की भावना ऐसी थी कि उन्हें भगवत्-स्वरूप की प्राप्ति अलौकिक प्रकार से हो। श्री महाप्रभुजी की कृपा से उनके लिए ब्रज में महावन के पास श्री यमुनाजी की पुलिन से ताड़ वृक्ष के जैसा विशाल भगवत्-स्वरूप प्रकट हुआ। श्री महाप्रभुजी ने इस स्वरूप से विनती की कि- 'इस काल में वैष्णवों में ऐसी सामर्थ्य नहीं है वे आपके विशालस्वरूप की सेवा-शृंगार कर सकें। सेवा करवाने का मनोरथ हो तो भक्त आपश्री को पधरा सकें, ऐसा स्वरूप बनाकर गोद में विराजें। तभी सेवा संभव हो सकती है।' तब तत्काल श्री मथुरानाथजी का वह विशाल स्वरूप छोटा हो गया।

एक कुनबी वैष्णव को श्री गुसांईजी की कृपा से श्री गिरिराजजी के रत्नजड़ित स्वर्णमय एवं धातुमय स्वरूप के तथा दूध से भरे हुए गोविन्द कुण्ड के दर्शन हुए। अतः यदि महापुरुष आचार्यश्री, गुसांईजी का अनुग्रह हो और हृदय भावों से भरा हो तो भगवदीयों को अलौकिक अनुभव होते हैं, इसमें किंचित् भी शंका नहीं है।

प्रभु सेवा में खरच न लागे
अपनो जन्म सुफल कर मूरख क्यों डरपे जो अभागे....

उदर भरन को करी रसोई, सोई भोग धरे
महाप्रसाद होय, घटे न कनिको अपनो उदर भरे...
मीठो जल पीवन को लावे, तामे झारी भरे
अंग ढाँकन कूं चहिए कपड़ा, तामें साज करे.....
जो मन होय उदार तुम्हारो, वैभव कछु बढ़ावो
नहिं तो मोर-चन्द्रिका गुंजा, यह सिंगार धरावो...
अतर फूल फल जो कछु उत्तम, प्रभु को पहले ही धरावो
जो मन चले उत्तम वस्तु पे, प्रभु को धर सब खावो....
कर संबंध स्वामी-सेवक को, चल मारग की रीति
पूरन प्रभु भावके भूखे, होय अंतर की प्रीति...
यामे कहा घट जाय तिहारो, घर की घर में रहिहै
'वल्लभदास' होय गति अपनी, भलो भलो जग कहिहै...

अपने घर में रहते हुए प्रभु की सेवा करने में किसी को कुछ भी खर्च होता है, ऐसा नहीं है। एकदम सामान्य/साधारण स्थिति का व्यक्ति भी भगवत्-सेवा कर सकता है।

अपना पेट भरने के लिए प्रत्येक के यहाँ रसोई तो बनती है। भगवान् को पहले भोग धरके फिर प्रसाद रूप में लेने में क्या हानि है? उसमें कण मात्र भी घटता नहीं है। महाप्रसाद मिलता है और शरीर का निर्वाह भी हो जाता है। मीठा जल पीने के लिए लाते हैं, उसमें से ठाकुरजी की झारी भर दें, इसमें क्या कष्ट है? स्वयं के शरीर को ढँकने के लिए वस्त्र तो पहनना ही पड़ता है। घर में जो कपड़ा लावें, उसमें से पहले भगवान के वस्त्र-वाघा बन सके इतना काटकर शेष उत्तम वस्त्र सिलवा लें यदि अनुकूलता हो तो शक्ति के अनुसार भगवान को अन्य उत्तम शृंगार धरावें, नहीं तो प्रभु गुंजा की माला और मोरपंख के शृंगार से भी प्रसन्न रहते हैं। जो भी उत्तम पदार्थ प्रभु को धराने लायक हों जैसे- इत्र, फल, फूल आदि सुख देने वाले पदार्थ पहले प्रभु को समर्पित कर फिर प्रसादी रूप में स्वयं उपयोग करें। प्रभु को समर्पित करने में वस्तु निर्दोष हो जाती है। अपना प्रभु से स्वामी-सेवक का संबंध बना रहता है और प्रभु की प्रसन्नता रूपी फल भी मिलता है। श्रीहरि पूर्णकाम हैं, पूर्णानंद रूप हैं, इसलिए वस्तु के स्थूल मूल्य को न देखकर भावना को देखते हैं। भगवान तो भावना के भूखे हैं। भगवदीय को भगवत्-प्राप्ति होने पर कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता, लेकिन भाव न हो तो सब व्यर्थ है। ●

राग-सोरठ

गोपी प्रेम की ध्वजा।
जिन गोपाल किये अपने वश उर धर श्याम भुजा।।
शुक मुनि व्यास प्रशंसा कीनी उधो संत सराही।
भूरि भाग्य गोकुल की वनिता अति पुनीत भव मांही।।
कहा भयो जो विप्रकुल जन्म्यो जो हरि सेवा नाहीं।
सोई कुलीन दास 'परमानंद' जो हरि सन्मुख धाई।।

स्वाध्याय-२७

सेवाफल

श्री गुसांईजी ने नागजी भट्ट को पुष्टिमार्ग के साधन तथा फल का निरूपण करने वाले दो श्लोक लिखकर भेजे थे। जिनमें लिखा था- 'श्री महाप्रभुजी के मतानुसार भगवान में शुद्ध (किसी भी प्रकार की अपेक्षा से रहित) प्रेम उत्पन्न होना ही फल है। फल के लिए नवधा भक्ति तथा अन्य उपाय करना ही साधन है। भगवान भक्त के घर पधारें, नाचें, गावें, विनोद करें, गूढ़भाव प्रकट करें- ये सब भाव सिद्ध हों, यही इस मार्ग का फल है।

सेवा का फल सेवा ही

पुष्टिमार्ग और पुष्टिभक्ति में भगवत्-सेवा ही फलरूप होती है। भगवत्-सेवा से कृतार्थ हुए भक्त भगवान् की सेवा के अलावा अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते हैं, भगवान् उन्हें सालोक्य आदि चार प्रकार की मुक्ति प्रदान करते हैं, फिर भी वे उन मुक्तियों की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

निर्दोष तथा उत्तमोत्तम भाव वाले भगवदीयों को सेवा करते-करते भगवान के संयोग में एवं वियोग में भजनानंद का फलरूप में अनुभव होता है, फलात्मक अनुभव इतना उच्चकोटि का होता है कि भक्त मुक्ति को भी फलरूप नहीं मानते। यह फल दुर्लभ है, क्योंकि यह लोकवेद रूपी साधनों से साध्य नहीं है। यह तो केवल भगवत्-कृपा से ही प्राप्त होता है

यह फल उत्तम है, क्योंकि '**ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते**' अर्थात् ब्रह्मभाव युक्त होकर गृहस्थाश्रम में रहकर भगवदीय भगवत्-सेवा करे, यही उत्तम है।

शुद्धि और सिद्धि

'**कृष्णं परिचरेत् सदा**' अभी नहीं तो देहावसान के साथ तो कृतार्थ होंगे, यह समझकर मन में दृढ़ निश्चयपूर्वक सदा सर्वदा श्रीकृष्ण की सेवा करते रहें।

एकाध बार की हुई भगवत्-सेवा भी परम पुरुषार्थ का दान करती है, यह बात निर्विवाद है। फिर भी वैष्णव को जहाँ तक हो सके, सदा सेवा में तत्पर रहना चाहिए। मानव देह की शुद्धि के लिए भगवत्-सेवा आवश्यक है। इतना ही नहीं, भक्तदेह की, सेवक के निज स्वरूप की प्रतिपत्ति के लिए भी भगवत्-सेवा करना आवश्यक है। भगवान का इस देह पर अधिकार है, इसलिए इसका उपयोग भगवान के कार्य के लिए ही करना चाहिए, इसी विवेक को प्रतिपत्ति कहते हैं। इस प्रकार भगवत्-सेवा से दो गौण, आनुषंगिक फल भी मिलते हैं। भक्त के देह का भगवान के साथ संबंध होने से शुद्धि तथा भगवान के कार्य में सिद्धि मिलती है। भगवदीय को निजस्वरूप की शुद्धि तथा सिद्धिप्राप्त होना भी सेवा का फल है।

नित्य सेवा करने का एक प्रयोजन यह भी है कि जो वैष्णव नित्य सेवा नहीं करता है, उसे संसार में आसक्ति होने से बंधन प्राप्त होता है, इसलिए भगवत्-सेवा कभी छूटनी नहीं चाहिए। संभव हो तो प्रभु की छोटी से छोटी सेवा स्वयं करना चाहिए। **'स्वयं परिचरेद् भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः। एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्॥'**

प्रभु के वस्त्र-वागा धोना, मंदिर में झाड़ू-पोंछा, (सोहनी एवं पोतना) करना, अंतरंग या बहिरंग सेवा यथासंभव वैष्णव को स्वयं करना चाहिए। अन्य से सेवा करवाने में अपने सेवकपने की सिद्धि नहीं होती है। मंत्रोच्चार आदि के द्वारा भगवान् की मानसपूजा करने का प्रकार भी है, लेकिन उससे भगवदीय के देह, इन्द्रियों की भगवत् सेवा में उपयोग न होने से व्यर्थता सिद्ध होती है।

आनंद की उपलब्धि

जीव की समस्त प्रवृत्ति आनंद के लिए ही है। आनंद भगवान में ही है अन्यत्र नहीं है। जीव का आनंद तो तिरोहित है। जड़ में तो आनंद की गंध भी नहीं है। **मरीचिकावत् अत्यंत निर्जलाभूमौ यथा जलप्रतीतिः भ्रान्तानां एवं स्त्रक्चन्दनादिष्वपि आनंदोऽस्तीति भ्राम्यति लोकः॥'** मृग को जिस प्रकार निर्जल प्रदेश में, भ्रमवश जल की प्रतीति होती है, उसी प्रकार माला, चंदन इत्यादि भोग पदार्थो में आनंद है, इस प्रकार मानकर लोग भ्रम में रहते हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु, स्वयं के अंदर जो तत्त्व हो, उसी को दे सकती है, 'सर्वोहि स्वस्मिन् विद्यमानं प्रयच्छति' जो स्वयं के अंदर नहीं होगा, वह कैसे दे सकेगा? इसलिए बुद्धिमान इस विषय में समझकर आनंद की अनुभूति के लिए (जीव या जड़ की उपासना करने के बदले) आनंदनिधि भगवान् के चरणों सेवा करता है। वेद कहते हैं कि भगवान् के चरणों के अलावा आनंद कहीं नहीं है

गुप्तानंदा यतो जीवाः निरानंदं जगद्यतः।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्माद् जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः॥

जीव गुप्त आनंद वाला है, जगत् आनंदरहित है। हरि पूर्ण आनंद वाले हैं, इसलिए सुख की इच्छा वाले जीवों को श्रीहरि की सेवा करना ही उचित है।

दुःख-निवृत्ति

तनुवित्तजारूपी साधन सेवा करने वाले को **'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्'** अहंता-ममतात्मक संसार के दुःख की निवृत्ति तथा ब्रह्मज्ञान- ये दो फल मिलते हैं। संसार स्वाभाविक रूप से ही दुःख रूप है। ब्रह्म-प्राप्ति का साधन ब्रह्मज्ञान है, ऐसा वेद कहते हैं। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**- ब्रह्म को जो जानता है, वह परम सुख को पाता है। ब्रह्म-साक्षात्कार के साधन रूप ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करने के लिए, वेदांत का श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूपी उपाय करना आवश्यक है, परन्तु सदा श्रीकृष्ण की सेवा करने वाले को सेवा करते-करते स्वतः ब्रह्मज्ञान हो जाता है। यद्यपि भगवत्-सेवा में रमे हुए भक्त को इन दोनों फलों की अपेक्षा नहीं होती है।

सच्ची शांति

आज के युग में मानव सतत् शांति के लिए तरसता रहता है। चारों ओर तथा अन्दर भी ऐसे

वातावरण का सृजन होता है कि मनुष्य को अशांत बना देता है, ऐसे में सच्ची शांति पाने के लिए वह कहाँ जावे?

तीर्थवास संभव नहीं होता और ध्यान, तप जैसे उपाय कठिन हैं। ऐसी स्थिति में भगवत्-सेवा ही मनुष्य के मन को सच्ची शांति दे सकती है।

यमादिभिर्लोकपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति॥

काम तथा लोभ से संत्रस्त मन भगवत्-सेवा से जितना शांत होता है, उतना यम-नियम जैसे मार्गों और उपायों से शांत नहीं होता है।

निरुद्ध अवस्था

श्री हरिरायचरण के मतानुसार पुष्टिमार्गीय प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है- सबसे पहले तो जीव पर भगवान् की 'कृपा' होती है। इस कृपा के कारण उसे, 'मार्गरुचि' (पुष्टिमार्ग में रुचि) उत्पन्न होती है। इस रुचि के कारण सेवा की योग्यता-संपादन करने के लिए आत्मसमर्पण रूप 'ब्रह्मसंबंध' होता है। ब्रह्मसंबंध से 'सेवा' का अधिकार मिलता है। प्रारंभ में की हुई साधनरूपा तनुजा-वित्तजा सेवा के परिणामस्वरूप निरोध की ओर बढ़ता है। इस तरह कृपा, मार्गरुचि, ब्रह्मसंबंध, सेवा और निरोध ऐसा स्वाभाविक क्रम है।

भगवत्-सेवा-परायण भक्त यदि लौकिक दुःखों को मन में स्थान देकर दुःखी हो तो आश्चर्य की बात है। जिन्हें भगवत्-सेवा के सुख का अनुभव ही नहीं, ऐसे ब्रह्मज्ञानी भी, शुष्क ज्ञान वाले होने पर भी दुःखों से मुक्त हो जाते हैं, तो वैष्णव लौकिक दुःख से दुःखी कैसे हो सकता है? जिसे प्रभु के सान्निध्य का सतत् अनुभव होता है, ऐसे भगवदीय तो **'परमानंदसंबंधे दुःखं तिष्ठति नैव हि'** परमानंद रूप प्रभु से संबंध होने से दुःखी रह ही नहीं सकता।

सेवाफल ग्रंथसार

षोडश ग्रंथ के अंतिम ग्रंथ 'सेवाफल' में श्री महाप्रभुजी ने कृपा करके सेवा के फल का स्वरूप समझाया है। **'सेवायां फलत्रयम्-अलौकिकसामर्थ्य-सायुज्य-सेवोपयोगीदेहो वैकुंठादिषु'।** भगवत्-सेवा जब सिद्ध होती है, परिपक्वता को प्राप्त करती है, तब इसमें तीन फल होते हैं- अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य और वैकुंठादि भगवद्धाम के सेवोपयोगी देह की प्राप्ति।

'सिद्धांत मुक्तावली' ग्रंथ में सेवा के साधनरूप और फलरूपों का निरूपण किया गया है। शरीर से जो हो, वह 'तनुजा' सेवा और धन से हो, वह सेवा 'वित्तजा' सेवा है। इन से सिद्ध होनेवाली सेवा 'मानसी' सेवा है। सेवा के तीन स्वरूप बताए हैं, वैसे ही तीन फल भी बताए हैं।

इस मार्ग में सेवा ही साधनरूपा है और सेवा ही फलरूपा है, इसलिए साधन और फल के बीच कोई भेद नहीं है। भगवदीय को भगवत्-सेवा में ही सेवा का फल मिलता है। ये बताए हुए सेवा के तीन फल नहीं परन्तु 'सेवायाम्' सेवा में तीन प्रकार के फल कहलाते हैं। यहाँ साधन और

फल के बीच अभेद का निरूपण करना आवश्यक है। सामान्य नियम तो यह है कि फल की प्राप्ति होने पर साधनों का त्याग कर दिया जाता है। यदि सेवा और सेवाफल भिन्न हों तो सेवा का त्याग हो जाता है।

(१) अलौकिक सामर्थ्य

भगवत्-सेवा का सर्वोत्तम फल 'अलौकिक सामर्थ्य' है। इस फल की उत्तमता इतनी है कि शब्दों द्वारा इसका निरूपण हो नहीं सकता। आनंदरूप पुष्टि पुरुषोत्तम जब उत्तमोत्तम, आत्यन्तिक फल देने की इच्छा करते हैं, तब भक्त को उनके स्वरूप और लीलाओं को अनुभव करने का अलौकिक सामर्थ्य देते हैं। भगवदीय को भगवान के अनुभव में 'प्रदीपवदावेश' इस ब्रह्मसूत्रोक्त भगवान के आवेश के परिणामस्वरूप सिद्ध हुई योग्यता ही अलौकिक सामर्थ्य है। पुष्टिप्रभु जिसे इस उत्तम फल का दान करते हैं, उसे व्रज, वृंदावन आदि लीलास्थलों में भगवान के रसरूप, फलरूप, आनंदरूप स्वरूप के दर्शन कर सकने की, स्पर्श, संवाद आदि लीला सुख पाने की शक्ति मिलती है। महान् पुष्टिभक्त, स्वतंत्र भक्त, केवल स्वरूपपरायण भक्त ही इस फल को प्राप्त करते हैं। लौकिक, वैदिक आदि कोई ऐसा अन्य साधन नहीं है। योग, यज्ञ, जप, तप जैसे किसी भी साधन से यह फल सुलभ नहीं है, केवल भगवान् के महान् अनुग्रह से ही यह फल प्राप्त होता है।

तैत्तरीय उपनिषद् में इस परमफल का वर्णन किया गया है- 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' जिसे भगवान परमफल का दान करते हैं, वह भक्त विविधभोगचतुर ब्रह्म के साथ सारे भोगों का उपभोग करता है। भक्त को लीला और स्वरूप का सुख प्रदान करने के लिए भगवान अपने भगवत्-धर्म एवं अपने आत्माराम होने के भाव को एवं सर्वस्वतंत्र होने के गुणधर्मों का भी त्याग कर देते हैं।

(२) सायुज्य

सेवा के त्रिविध फल में मध्यम फल 'सायुज्य' है। ज्ञानियों को मुक्त दशा में जो एकत्वरूप सायुज्य प्राप्त होता है उस सायुज्य की यह बात नहीं है। सरिता जिस प्रकार सागर में समा जाती है, उस प्रकार भक्त भगवान में नहीं समाता है। यहाँ तो 'सह युनक्ति इति सयुक् तस्य भावः सायुज्यम्' भगवान् के साथ भक्त की सतत् स्थिति को सायुज्य कहते हैं। श्री लक्ष्मीजी की भाँति संयोग रस का अनुभव अथवा अंतर्गृहगता गोपिकाओं की भाँति प्रारब्धजनित देह का त्याग करके अलौकिक शरीर प्राप्त करके भगवान में स्थिति करे तथा भगवत्-इच्छा से बाहर निकलकर भी रसानुभव करें, यह सायुज्य है। जिस प्रकार गोप सखा भगवान् के साथ रहकर, भगवान के दर्शन, क्रीड़ा आदि के आनंद का अनुभव करते हैं, यह सायुज्य फल है।

इस सायुज्य में आनंद की अनुभूति होती रही है, क्योंकि यह सायुज्य अक्षर में लय नहीं है। सेवा-परायण भक्त तो 'सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारुप्यैकत्वमप्युत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' भगवान् की सेवा ही माँगते हैं, वे किसी भी प्रकार की मुक्ति नहीं चाहते हैं। अक्षर का अनुभव गणितानंद रूप है, धर्मी रूप है।

(३) वैकुंठादि में सेवोपयोगी देह की प्राप्ति

त्रिविध फल में यह साधारण फल है। यह फल अधिकार रूप फल है। अधिकार अर्थात् कोई उत्कृष्ट कार्य करने की योग्यता। मध्यम और उत्तम फल प्राप्त होने से पहले यह अधिकार रूप फल प्राप्त होता है। भगवान् की अवतार लीला में अप्राकृत भूत सृष्टि, तृण,लता, पशु पक्षी इत्यादि का लीला में अधिकार रूप देह इस फल के दृष्टान्त है। वैकुण्ठ आदि शब्द से स्वर्ग, भूतल आदि का उल्लेख समझना चाहिए। यहाँ साक्षात् सेवा में अधिकार नहीं है, इसलिए बाह्य रमणरूप परमानंद का अनुभव तो संभव ही नहीं है, परन्तु श्री गोकुल आदि स्थानों में रसात्मक पुष्टि पुरुषोत्तम की रसमयी लीलाओं का दर्शन, सान्निध्य जैसे फल की प्राप्ति तो होती है।

इन तीनों फलों की प्राप्ति में काल की कोई सत्ता या प्रभुत्व नहीं है। ये फल काल-निरपेक्ष हैं। कलि काल इसमें प्रतिबंधक नहीं है और सतयुग भी सहायक नहीं है। कर्म या स्वभाव की सत्ता से भी ये फल परे हैं। जब-जब जहाँ-जहाँ जिस पर प्रभु कृपा करके फल प्रदान करना चाहते हैं, तब-तब वहाँ, उसे वह फल प्राप्त होता है।

परम रस पायो ब्रज की नारी
जो रस ब्रह्मादिक को दुर्लभ, सो रस दियो मुरारी...
दरसन सुख नयनन को दीनो, रसना को गुणगान
वचन सुनन श्रवनन को दीनो, वदन अधर रसपान....
आलिंगन दीनो सब अंगन, भुजन दियो भुज बंध
दीनी चरण विविध गति रस की, नासा को सुख गंध....
दियो काम सुख भोग परमफल, त्वचा रोम आनंद
ढिंग बैठवो दियो नितंबन्न, ले उछंग नंदनंद
मन को दियो सदा रस भावन, सुख-समूह की खान,
'रसिक' चरणरज ब्रज युवतिन की, अति दुर्लभ जिय जान...

ब्रजवनिताओं को प्रभु ने जो स्वरूपानंद का दान किया, उससे उत्तम कुछ नहीं है। जो सुखानुभूति ब्रह्मा, शंकर आदि को दुर्लभ है, उसका दान प्रभु ने स्वयं अतिप्रिय इन ब्रजभक्तों को किया है। ब्रह्म जब साकार रूप धारण करके लीला करते हैं, तब भक्तों को उनका सर्वात्मक अनुभव होता है। निराकार रूप में हो तो भक्तों को अंदर से अनुभूति रूप से सुख मिलता है, जबकि भगवान् ने इन भक्तों के सर्वात्मक अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा के सुख का दान किया है। भगवदीयों के नेत्र को भगवान् ने स्वयं के दर्शन का सुख दिया, उनकी जिह्वा को गुणगान का, उनके कान को भगवान् की वाणी का श्रवण-सुख दिया, मुख को अधरामृत पान का, सर्वांग को भगवान् के स्वरूप की सुगंध का सुख दिया। भक्त के रोम-रोम को स्पर्श का सुख, सान्निध्य में बैठने का सुख, उसी प्रकार ब्रजक्तों के मन को सुख-समूह की खान में रसानुभूति करने का सुख, संयोग और वियोग के अनुभव रूप आनंद का अनुभव लेने का फल प्रदान किया है, यह फल जीव के लिए अति दुर्लभ है।

स्वाध्याय-२८

भगवत्कथा

'**कृष्ण इति सदानंदः तस्य कथा तद्रूपा**' कृष्ण का अर्थ है सदानंद, शाश्वत आनंद। जैसे कृष्ण सदानंद हैं, वैसी ही उनकी कथा भी है। भगवान् और भगवद्-धर्म में भेद न होने से, भगवत्-कथा भी सदानंद स्वरूप है और कहीं तो भगवान् से भी अधिक है। '**यथा भगवान् तथैव तत्कथाऽपि, ततोऽप्यधिकापि**'। भगवत्कथा सर्वव्यापी है। वह चौदह भुवन में व्याप्त है। पाताल में श्री संकर्षण, भूमि पर पराशर आदि, भूमि से ध्रुवलोक तक बृहस्पति, उससे पर के लोगों में ब्रह्मा, सनकादि द्वारा भगवान के चरित्र का सर्वत्र वर्णन होता है। वह सर्वत्र व्याप्त है।

कथा रसरूपा है, इसमें अनुभव ही प्रमाण है। जिस प्रकार अमृत के स्वाद का वर्णन व्यर्थ है, वह अनुभव से ही समझ में आता है, उसी प्रकार कथारस भी अनुभव से समझ में आता है।

कथामृतम्

भगवत्-कथा अमृतरूपा है। अमृत भूख, प्यास, श्रम आदि दोषों को मिटाने वाला है- ऐसा लोक में प्रसिद्ध है। भगवत्-कथा कालकृत दुःख जैसे कि जरा-मरण इत्यादि को दूर करती है। फिर वह काल के अधीन रहने वाले कर्म और स्वभाव के कार्यो को दूर करे, इसमें क्या आश्चर्य है? '**ते एव भगवद्भक्ताः ये कथामृते पीयमाने देहधर्मरहिता भवन्ति**' जो कथामृत का पान करते हुए देहधर्म रहित हो जाते हैं, वे ही भगवदीय हैं, भगवान् के भक्त हैं। कथा अमृतरूपा है। '**अमृतं च तदेव यद्देहधर्मनिवर्तकम्**' जो देह के धर्म दूर करे, वही अमृत है।

उत्तमश्लोक प्रभु के यश का कीर्तन, रम्य, सुन्दर, नित्य नवीन होने से मन को आनंदित करने वाला और संसाररूप शोक-समुद्र को सुखा देने वाला है। कथातत्त्व दिव्य है, जिनके कान, वाणी और चित्त केवल भगवत्कथा के लिए ही हैं, ऐसे सारग्राही भगवदीयों को संतों को भगवत्कथा क्षण-क्षण नवीन और सरस लगती है।

कथारस सब रसों से उत्तम है। प्राकृत रस के सेवन से कालान्तर में रुचि घटती है, परन्तु कथारस जैसे-जैसे श्रवण करते हैं, वैसे-वैसे अधिक सुख रूप, अधिक फलरूप और अधिक रसरूप लगता है।

भगवत्कथा का हेतु

कथा से भगवान का और भगवद् रस का आविर्भाव होता है। '**शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण, परब्रह्मणः प्रकाशनं न भवति शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते, स्वप्रकाशमपि**' शब्दब्रह्म के बिना परब्रह्म का प्रकाश

नहीं होता है। परब्रह्म स्वप्रकाश है, यह बात सत्य है, वह शब्दब्रह्म के बिना प्रकाशित नहीं होता है।

कथा से भगवद्-रस का आविर्भाव अवश्य होता है, परन्तु वह आविर्भाव और उसका अनुभव अधिकारी को ही होता है। **'रसानामधिकारिणं प्रत्येव स्फुरण-नियमात्'।** यह रस का स्वभाव है। भगवान के रूप और नाम दोनों में रस तो है ही, परन्तु उसका ज्ञान अनुभव से ही होता है। भगवत्-कथा-रस का अधिकार शास्त्र और अनुभव से तथा प्रेम और ज्ञान से ही होता है। दूसरे रस में जिसका चित्त लगा हो, उसे भगवत्कथा में रस उत्पन्न नहीं होगा। **'सुदृढ़ः सर्वतोधिक स्नेहस्त्वात्मत्वेन ज्ञाने भवति, माहात्म्यज्ञानं तु सृष्टयादिभिः तत्र द्वयं साधयितुमेषा भागवतसंहिता'-** भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान हो और भगवान् में स्नेह हो, इसके लिए भागवतजी का नियमित सेवन करना चाहिए। भगवत्कथा का हेतु भक्ति की साधना के लिए है। भगवान् के स्वरूप, गुण और लीलाओं के संबंध में अधिक से अधिक श्रवण करने से भगवान् के प्रति स्नेह जागृत होता है, उनके दर्शन एवं उनकी प्राप्ति के लिए लालसा उत्पन्न होती है, इसलिए भक्तिमार्गीय जीव को भगवत्कथा का सेवन अवश्य करना चाहिए।

भगवत्प्राप्ति के साधन में अंतरंग साधन भगवान की सेवा है और बहिरंग साधन भगवत्कथा है। भगवान् के लीला-चरित्रों का श्रवण करने से, उनके गुणगान करने से, श्रवण-कीर्तन आदि में आनंद लेने से भगवान् के दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

भगवत्कथा स्वभाव में परिवर्तन लाने के लिए भी श्रवण करनी चाहिए। जीव स्वभाव से दोषवाला होने से, स्वभाव के दोष दूर करने के लिए प्रेमपूर्वक श्रवण-कीर्तनादि करने चाहिए। 'मज्जनफल पेखिअ तत्काला। काक होहि पिक बकउ मराला।' कथारूपी मानसरोवर में डुबकी लगाने वाला कौवा कोयल हो जाता है और बगुला हंस बन जाता है। भगवान् के गुणों का गान सर्वदोष-निवारण करने वाला है।

कथा में भाव की प्रधानता

भगवत्कथा में वाणी की अपेक्षा भाव का विशेष महत्त्व है। श्री महाप्रभुजी कहते हैं- **'सर्वत्र भगवत्कथायामान्तरो भावो मुख्यः न तु वाक्यमात्रम्'** भगवान की कथा में वाक्य या शब्द की ही मुख्यता नहीं है। उसमें सर्वत्र भीतर का भाव प्रमुख है। कथा के श्रोता को भगवान् पर तथा भगवत्कथा पर भाव रखकर कथा का श्रवण करना चाहिए।

भगवदीयों को भगवदीयों के साथ बैठकर परस्पर भगवद्-लीला का भावविभोर होकर गद्गद कंठ से वर्णन करना चाहिए। समस्त अपेक्षाओं का त्याग कर और आसक्तिपूर्वक प्रभु के गुणगान करने चाहिए। भगवद्-कथा में यदि भाव की प्रधानता रहती है, तो कथा के श्रवण, कीर्तन आदि में कभी तृप्ति नहीं होगी। इस कारण उससे निवृत्ति होने की संभावना भी नहीं रहती। भावना के कारण कथा रसरूप होती है। भगवत्कथा का त्याग वही करता है, जिसे कथा के रसमय स्वरूप का ज्ञान न हो। **'अत्र निवृत्तिः केवलं रसाज्ञानादेव, नान्यतः'** कथा अमृतरूप है, ऐसा ज्ञान जिसे हो जाए, उसकी कथा से निवृत्ति संभव नहीं है।

भगवान् के गुणानुवाद का अधिकार किसे है? **'न हि अल्पदोषवताऽपि भगवद्गुणा गातुं शक्याः'**

थोड़े से दोष वालों के लिए भी भगवान् के गुणों का गान करना संभव नहीं है और भगवद् कथा के श्रोता होना भी सुलभ नहीं है। श्रोता भी अधिकार सिद्ध होता है, तभी उसमें कथा-श्रवण की कामना जागृत होती है।

शुश्रुषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथा-रुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥

पवित्र तीर्थों के सेवन और महापुरुषों की सेवा से ही श्रद्धापूर्वक भगवान् की कथा सुनने की इच्छा होती है।

कथा-श्रवण कब फलता है?

'दीर्घकालादरनैरन्तर्येण क्रियमाणस्य वै श्रवणादेः फलसाधकत्वात्' लंबे समय तक लगातार, आदरपूर्वक कथा-श्रवण करने वाले को ही, कथा-श्रवण, सत्संग आदि फलदायी होते हैं। वैष्णवों को लोक-लज्जा का त्याग करके प्रभु के गुणगान करना चाहिए। **'सर्वथा तद्‌गुणालापं नामोच्चारणमेव वा। सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निस्पृहस्ततः॥'** सभा में भी निर्भय होकर, निस्पृह होकर, सर्वथा श्रीहरि का नाम-कीर्तन एवं गुणगान करना चाहिए। आसुरी स्वभाव के जीवों का भय रखे बिना, दुष्टों और दुर्जनों के द्वारा होने वाले अपमान, हँसी इत्यादि की परवाह किए बिना भगवान् का गुणगान करना चाहिए।

कथा भक्त के मुँह से ही सुननी चाहिए। यों तो कहीं से भी सुना हुआ भगवद्-चरित्र कार्य को सिद्ध करता है, परन्तु **'फलरूपता तु साधारणानामपि भक्तमुखश्रवणादेव'** भगवदीय के मुख से श्रवण की गई कथा साधारण (जीवों) के लिए भी फलरूप होती है।

गुरु के वाक्यों पर विश्वास, दीनता की भावना, मन के दोषों को जीतने और कथा में निश्चल मति होने पर कथा-श्रवण का फल मिलता है।

स एव निवासः समीचीनः यो विषयान्तराभावेन भगवत्कथयैव गच्छति

वही निवास योग्य है कि जहाँ भगवान की कथा में ही समय जाता हो, अन्य विषयों में नहीं।

भगवत्-कथा के तीन गुण हैं- (१) वह संसार रूपी रोग की औषधि है। (२) यह औषध कड़वी नहीं है। यह केवल जीभ को नहीं कान और मन को भी अच्छी लगने वाली है। (३) विरक्त पुरुष भी इसका गान करते हैं। अर्थात् यह सभी के लिए अर्थात् विषयी, मुमुक्षु और जीवन्मुक्त सभी अधिकारियों के लिए फलरूप है। पशुघाती-आत्महत्या करने वाले नीच मनुष्य के अतिरिक्त ऐसा कौन है, जो परमात्मा के गुणानुवाद का सेवन नहीं करता है।

कथाफल

भगवान निज भक्तों को भगवत्कथा सुनते हुए देखते हैं, तो वे भक्त के हृदय में प्रकट होते हैं। भक्त के सब अभद्र अर्थात् अकल्याण को दूर करते हैं। इस प्रकार आवरण-प्रतिबंध नष्ट होने पर प्रभु में नैष्ठिकी भक्ति उत्पन्न होती है। जो भगवदीय श्री भगवान् के कथामृत का कान-रूपी दोने में

भर-भरकर रसपान करते हैं, वे भगवद्-चरणारविंद को प्राप्त होते हैं।

भगवद्-कथा तो ठीक, भगवत्कथा विषयक प्रश्न भी वक्ता, प्रश्नकर्त्ता और श्रोता तीनों को, जिस प्रकार गंगाजी त्रिलोकी को पावन करती है, उसी प्रकार पवित्र कर देता है।

कथारस

एक बार श्री महाप्रभुजी अड़ेल से ब्रज पधार रहे थे। तब गउघाट पर उनके दर्शन करने के लिए सूरदासजी आए। श्री आचार्यजी ने अपने श्रीमुख से सूरदास से कहा- 'सूर! कुछ भगवद्-यश वर्णन करो।' तब सूर दीनता के पद गाने लगे। महाप्रभुजी ने सुनकर कहा- 'सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को है? सो तासों कछु भगवत्-लीला वर्णन कर।' श्री महाप्रभुजी का आशय यह था कि जीव भगवान् से बिछड़ा उस समय से पतित तो हुआ ही, परन्तु इसमें रोना क्या? अपने दोषों का वर्णन करते रहने से दोष दूर थोड़े ही होते हैं। शुद्ध होने के लिए तो भगवान् की लीलाओं का गान करना चाहिए।

फिर तो श्री सूरदासजी को भगवान् की लीलाओं का गान करने में अत्यन्त आनंद आया। उन्होंने गाया-

जो सुख होत गुपालहि गाये,
सो सुख होत न जप तप कीने, कोटिक तीरथ न्हाये...
दिये लेत नहीं चारि पदारथ, चरन कमल चित लाये
तीनि लोक तृन सम करि लेखत, नंदनंदन उर लाये....
बंसीवट, वृंदावन, जमुना, तजि वैकुंठ न जावै
'सूरदास' हरि को सुमिरन कर, बहुरि न भवजल आवै....

श्री गोपाल के गुण-गान में भगवदीयों को जो सुख मिलता है, उसकी बराबरी में दूसरा सुख आ नहीं सकता है। कई तीर्थों में स्नान करने से, कई प्रकार के जप-तप करने से भी यह सुख नहीं मिलता। कथामृत का रसपान करने में निमग्न भक्त के हृदय में भगवान विराज जाते हैं और चारों पदार्थ उन्हें दिए जाने पर भी वे उन्हें लेने को तैयार नहीं होते। जिसके हृदय में भगवान स्वयं स्वरूप से, नामरूप से, कथामृत के रूप में विराजते हैं, उसे तीनों लोक तृण के समान लगते हैं।

कथामृत के सुख को छोड़कर, भक्ति के आनंद को त्यागकर, भगवान लीलास्थल, बंसीवट, वृंदावन, यमुनाजी आदि को छोड़कर भक्त वैकुंठ किसलिए जावेगा? जो प्रभु का गुणगान करता है, स्मरण करता है, उसे फिर से संसार रूपी समुद्र में पड़ना नहीं पड़ता।

कथा ही सेवा

जिसने कथारस का पान नहीं किया है, उसे ही संसार के अन्य रसों में आनंद आता है। सेठ दिनकरदास की वार्ता में कथारस की सर्वश्रेष्ठता का सुंदर प्रकार से निरूपण हुआ है। दिनकरदास सेठ का प्रयाग में एक श्रीमंत क्षत्रिय के यहाँ जन्म हुआ था। बचपन से ही उन्हें भगवत्-कथा में

आसक्ति थी। श्री महाप्रभुजी की शरण में आने के बाद भी उन्होंने भगवत्-सेवा नहीं पधराई। जब श्री आचार्यजी ने उन्हें स्वरूप पधराकर, सेवा करने की आज्ञा की तो वे कहने लगे- 'महाराज! आपु तो अन्तःकरण की जानत हो। मैं आपु के मुख की कथा सुनोंगो, यामें सगरी सेवा है।' श्री महाप्रभुजी ने उन्हें अपने पास रखा।

श्री महाप्रभुजी अड़ेल में विराजते थे, तब एक दिन दिनकर सेठ आग जलाकर बाटी सेंकना चाहते थे, उसी समय श्री महाप्रभुजी का जलघरिया जल भरने आया। दिनकर सेठ के पूछने पर उसने जवाब दिया- 'श्री महाप्रभुजी ने पोथी खोली है। वे अब कथा कहेंगे।' यह बात सुनकर दिनकरदास ने कच्ची बाटियाँ ही खाकर जल पी लिया और तत्काल आकर कथा-श्रवण करने लगे। बाद में इस बात का पता श्री महाप्रभुजी को लगा तो उन्होंने दिनकर सेठ से कच्ची बाटी खा जाने के लिए ठपका दिया। तब दिनकर सेठ ने सुंदर उत्तर दिया- 'महाराज! सेंककर खाता तो आपश्री से कथा का अमृत कैसे मिलता?' दिनकरदास के विचार वास्तव में मननीय हैं। ८४ लाख शरीरों-योनियों की यात्रा में जीव को अपनी रुचि अनुसार भोग तो प्रत्येक शरीर में, प्रत्येक जन्म में मिलता है, परन्तु कृष्णकथामृत तो मानव जन्म में, भगवदीयत्व मिलने पर श्रीहरि और श्री गुरुदेव की कृपा से ही मिलता है, जो सर्वसुलभ है, उसके लिए अति दुर्लभ का त्याग करना बुद्धिमानी नहीं है। भोग सुलभ है, भक्ति दुर्लभ है। पेट भरना सर्वत्र संभव है, आत्मा के कल्याण का अवसर तो भाग्यवान् व्यक्ति को ही मिलता है। भोग के लिए भक्ति छोड़ने वाला मूर्ख है। यह तो हीरा-माणिक छोड़कर पत्थर इकट्ठे करने वाली बात है।

दिनकर सेठ की कथा में ऐसी आसक्ति देखकर श्री महाप्रभुजी प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा- 'आज के बाद रसोई सिद्ध करके, भोग धरकर महाप्रसाद लेकर ही आना। जब तुम आओगे, तब ही कथा कहूँगा। आज से कथा के प्रमुख श्रोता तुम ही रहोगे। जब तक तुम नहीं आओगे, कथा नहीं कहूँगा।' समर्थ वक्ता और योग्य श्रोता मिले तो कथा का आनंद अलौकिक होता है। ●

● जैसे भगवान् आनंदमय हैं वैसी ही आनंदमयी उनकी कथा भी है। इतना ही नहीं भगवान् की कथा तो भगवान् से भी बढ़कर परमानन्दमयी है। सुबोधिनी १०-४४-१८

● भगवान् श्रीकृष्ण सदानंद हैं। भगवान् के सभी धर्म भगवद् रूप होते हैं, इसलिए उनकी कथा भी सदानंद रूप ही है। मनुष्य सरस पदार्थ को बहुत स्वाद से अधिक मात्रा में ग्रहण करता है किन्तु जो पदार्थ रसीला नहीं होता उसे थोड़ा ही ग्रहण करता है। सदानंद भगवान की कथा रसमयी होने से श्रोता की तृप्ति नहीं होती, भगवद् कथा और गुणगान श्रवण करने की इच्छा बढ़ती ही जाती है, जैसे अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि की ज्वाला बढ़ती ही जाती है।

भगवान् तो अनंत गुण वाले हैं चाहे कितना ही लंबा गुणगान करें प्रभु के गुणों की थाह नहीं है इसलिए गुण वाले की भगवान् की कथा से तृप्ति नहीं होती। उसकी उत्कंठा बनी ही रहती है तथा उसे कथा में सदा रस मिलता रहता है। सुबोधिनी ३-५-१०

स्वाध्याय-२९

श्रीमद् भागवत

श्रीमद् भागवतजी भगवान् श्रीकृष्ण का नामात्मक अर्थात् वाङ्मय स्वरूप है। श्रीमद् भागवत- '**श्रीयुक्तं लक्ष्मीयुक्तं भागवतम्**' श्री लक्ष्मीजीसहित सौन्दर्यादि गुणों से युक्त होने से इसे 'श्रीमद भागवत' कहते हैं।

भगवतः इदं भागवतम् यह भगवान् -सम्बंधी शास्त्र है, अतः भागवत कहलाता है।

यह '**भगवत् प्रोक्तम् भगवता प्रोक्तम्**' भगवान् के द्वारा कहा हुआ शास्त्र है। चतुःश्लोकी रूप में इस भागवत शास्त्र को भगवान ने ब्रह्माजी को सुनाया था। फिर शुकदेवजी के हृदय में भी भगवान ही विराजकर, स्वलीला का वर्णन करते थे। इसलिए यह भगवान् द्वारा कहा हुआ शास्त्र कहलाता है।

भगवान् की वाणी भक्त के मुँह से भी प्रकट होती है, '**भगवदीयो यः कश्चिद् भगवता प्रोक्तं कथयति तदेव भागवतम्**' सारा ज्ञान भगवान् स्वयं अपने मुँह से नहीं देते हैं। किसी भगवदीय को, किसी महात्मा को, स्वयं के किसी कृपापात्र जीव को निमित्त बनाकर, भगवान् अपनी बातें कहते हैं। इस प्रकार स्वयं का संदेश जगत् को देते हैं। अतः भगवदीयों की ऐसी वाणी वस्तुतः भगवान् की ही वाणी है।

भागवत महापुराण

'**इदं भागवतं नाम पुराणं वेदसम्मितम्**' शास्त्रीय व्याख्या अनुसार श्री भागवतजी महापुराण है। वैदिक साहित्य में पुराण का समावेश न होने पर भी इसे वेद के समान महत्त्व दिया गया है। इसे पंचम वेद कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में 'अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम्' इस प्रकार परम तत्त्व के, निःश्वास, उच्छ्वास में से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की उत्पत्ति हुई तथा इतिहास-पुराण भी उत्पन्न हुए। पुराण ग्रंथ पाँचवाँ वेद ही है।

इन्हें पुराण '**पुरा भवम्**' प्राचीन समय में हुई घटनाओं का निरूपण करने वाला होने से '**पुराण**' कहा जाता है।

निरुक्त के अनुसार पुराण का अर्थ है कि '**पुरा अपि नवं भवति इति पुराणम्**' जो तत्त्व पुराना होते हुए भी पुराना ही नहीं है, प्राचीन होते हुए भी नया है, वह पुराण कहलाता है। श्रीमद् भागवतजी तो महापुराण है, इसमें तो श्रीहरि की हजारों वर्ष पहले हुए, सनातन, सार्वकालिक एवं नित्य लीलाओं का वर्णन है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के अनेक अवतार तथा अनेक विविध लीलाओं का इसमें निरूपण है, इसलिए श्री भागवतजी को महापुराण कहते हैं।

भागवतजी की भाषा

श्री महाप्रभुजी ने भागवतजी की तीन प्रकार की भाषा मानी है– समाधि भाषा, मतान्तर (परमत) भाषा और लौकिकी भाषा। भागवतजी में कहीं ज्ञान की प्रशंसा, कहीं विधानों का विरोध, कहीं पुनरुक्ति दोष आदि क्यों हैं? इस संशय के समाधान में श्रीमद् आचार्यजी इन तीन भाषाओं का परिचय कराते हैं।

'**समाधावुपलभ्य यावानर्थो निरूपितः** व्यासजी ने जो विषय समाधि में प्राप्त करके कहा वह **समाधि भाषा** है। समाधिभाषा प्रस्थानत्रयी (वेद, गीता और ब्रह्मसूत्र) के साथ सुसंगत होती है। '**तद्विरुद्धोऽर्थो यत्र सा मतान्तरभाषा**' श्री शुकदेवजी ने 'दूसरों द्वारा कही हुई बात तुझे कहता हूँ' ऐसा स्पष्ट करके जहाँ दूसरों के मत की बात या दूसरे का संवाद प्रस्तुत किया है, वह **मतान्तर भाषा** है। ये सिद्धान्त या मत भागवतजी के मूल मत से कभी भिन्न भी होते हैं। ऐसा होने पर इसमें विरोधाभास नहीं है, लेकिन यह किसी अन्य का मत है, ऐसा समझना चाहिए। '**लोकसिद्धा तु लौकिकी**' भागवतजी में लोकप्रसिद्ध विषय जहाँ कहा गया, वह **लौकिकी भाषा** है। '**बुद्धिपूर्वकमेवं विरोधः**' उपर्युक्त तीनों भाषाओं में जो विरोध दिखाई देता है, वहाँ रचनाकार का दोष नहीं है, परन्तु वह विचारपूर्वक कहा गया है। इसलिए भागवतजी में कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है।

भागवत-स्वरूप

श्री भागवतजी एक सम्पूर्ण शास्त्र होने से यह प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल इन चार प्रकारों से विचारने योग्य है और ये चारों महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

प्रमाण

शास्त्र के विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों ने तीन प्रमाण ग्रंथों को स्वीकार किया है। वेद, श्रीमद् भगवद् गीता और ब्रह्मसूत्र। तत्त्व का निर्णय इन तीनों के अ।धार पर ही होता है। इन तीनों को 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से जाना जाता है। श्री परमात्मा-परब्रह्म के तत्त्व को जानने के लिए, उनकी प्रतीति के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण उपयोगी नहीं होता। परमतत्त्व को अलौकिक शब्द प्रमाण से ही जान सकते हैं। अलौकिक शब्द–प्रमाण वेद, श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र से प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त प्रस्थानत्रयी में महाप्रभुजी ने श्रीमद् भागवतजी को भी सम्मिलित किया है।

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषाव्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥

इस तरह चार प्रमाण–शास्त्र हुए, परन्तु श्री महाप्रभुजी ने उपर्युक्त चारों शास्त्रों में भागवतजी की महत्ता इतनी मानी है कि उसे प्रमाणमूर्धन्य, अर्थात् सारे प्रमाण–शास्त्रों में शिरोमणि गिना है। श्रीमदाचार्यजी की आज्ञा है कि वेद के स्वाध्याय के बाद भी अगर संशय बाकी रहे या संशय उत्पन्न हो तो उस संदेह का निवारण करने वाला शास्त्र श्री गीताजी है। गीताजी के बाद भी संदेह रहता है तो ब्रह्मसूत्र का अध्ययन करना चाहिए। ब्रह्मसूत्र से भी संदेह दूर न हो तो श्रीमद् भागवतजी सारे संदेहों को दूर करने वाला प्रमाणशास्त्र है।

श्री शुकदेवजी कहते हैं- '**इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम्**' श्री भागवतजी को 'वेदसम्मत' शास्त्र कहा है। भागवतजी के श्लोक-श्लोक और पद-पद में वेदार्थ भरा हुआ है।

प्रमेय

भक्तिमार्ग में श्रीमद् भागवतजी प्रमेय रूप है, साक्षात् भगवान् का रूप है। '**द्वादशांगो वै पुरुषः इतीदं द्वादशस्कंधं पुराणं हरिरेव सः। पुराण हरेः स्वरूपं शब्दतोऽर्थतश्च**' शब्द और अर्थ दोनों रूपों से भागवत श्रीहरि का स्वरूप है। वेद में भगवान को बारह अंग वाला कहा गया है। बारह स्कंध वाला भागवत भी श्री भगवान का द्वादश अंगवाला रूप ही है-

प्रथम स्कन्ध	अधिकार लीला	श्री दक्षिण चरण
द्वितीय स्कन्ध	साधन लीला	श्री वामचरण
तृतीय स्कन्ध	सर्ग लीला	श्री दक्षिण बाहु
चतुर्थ स्कन्ध	विसर्ग लीला	श्री वाम बाहु
पंचम स्कन्ध	स्थान लीला	श्री दक्षिण जंघा
षष्ठ स्कन्ध	पुष्टि लीला	श्री वाम जंघा
सप्तम स्कन्ध	ऊति लीला	श्री दक्षिण (कटिस्थ) हस्त
अष्टम स्कन्ध	मन्वन्तर लीला	श्री दक्षिण स्तन
नवम स्कन्ध	ईशानुकथा लीला	श्री वाम स्तन
दशम स्कन्ध	निरोध लीला	श्री हृदय
एकादश स्कन्ध	मुक्ति लीला	श्री मस्तक
द्वादश स्कन्ध	आश्रय लीला	श्री वाम ऊर्ध्वभुजा

भागवतजी साधनरूप

श्री भागवतजी में '**आनंदस्य हरेर्लीला**' आनंदरूप हरि की लीला है। आनंदरूप हरि की लीला भी आनंदरूपा और दुःख को दूर करने वाली है। भागवत कथा सबके त्रिविध तापों के उन्मूलन का साधन है। जीव इस संसार में आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक ताप से दुःख का अनुभव करता है, तब कथामृत का पान उसके लिए 'तप्तजीवनम्' परम ताप में शीतलता का अनुभव कराता है। भागवतजी जिस तरह मुमुक्षुओं के लिए मुक्ति को देने वाला ग्रंथ है, उसी तरह भक्तों को भक्ति का दान करने वाला भी है।

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥

श्री भागवतजी का श्रवण करते ही मनुष्य को पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की ऐसी परम भक्ति की प्राप्ति होती है, जिसके कारण उसके शोक, मोह और भय जैसे दुःख दूर हो जाते हैं।

भागवत का फल

अनेक उत्तम लक्ष्यों के लिए जिस प्रकार भागवतजी साधन रूप है, उसी प्रकार श्री भागवतजी

स्वयं फलरूप भी हैं। '**निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्**' वेदरूपी कल्पवृक्ष की शाखा में प्रकट होकर परिपक्व होकर यह भागवतरूपी फल, इस लोक में अवतरित हुआ है। जीवन्मुक्त, 'भगवल्लीलामात्रैकजीवी' कथा-रसास्वादन में लुब्ध, परम भगवदीयों के लिए श्री भागवतजी साक्षात् भगवद्-रूप हैं। फलरूप भागवतजी का संबंध होते ही जीव को पाँच सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं- (१) साक्षात् भगवत्-प्रवेश (२) सर्वसंदेहनिवारण (३) भगवत्-कृपा (४) सर्वत्र निर्भयता (५) भगवान् में परम प्रेम।

वैष्णव को भागवतजी का नित्य रसपान करना चाहिए। गायत्री मंत्र वह बीज है, जिसका वृक्ष वेद है और श्रीमद् भागवत इसका फल है। इस फल में अप्राकृत दिव्य भगवान् की नित्य लीला रूपी रस है। इसमें नीरस कुछ भी नहीं है, जिसे भागवतजी मिले, मानो उसे भगवान् फलरूप में मिले हैं।

भागवत-श्रवण

किसके मुँह से भागवत-कथा का श्रवण करना चाहिए, यह भी भागवत के माहात्म्य में बताया है। 'विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत्। दृष्टान्तकुशलो धीरो कार्योऽतिनिःस्पृहः।।' जो वैराग्यवान हो, वेद और शास्त्र के संदेह दूर करने वाला हो, दृष्टांत देने में कुशल, धीर और तृष्णारहित हो, ऐसे वैष्णव ब्राह्मण से श्री भागवत का श्रवण करना चाहिए।

श्री नंदरायजी के भाई 'धरानंद' श्री महाप्रभुजी के समय में दिनकरदास के नाम से मालवा में कायस्थ परिवार में जन्मे थे। वे श्री महाप्रभुजी के सेवक हुए। उनके भाई मुकुन्ददास नंदजी के भाई 'ध्रुवनंद' थे। मुकुन्ददास को सर्प के काटने से विष चढ़ा। काशी में कृष्णदास मेघन ने श्री महाप्रभुजी का चरणामृत पिलाकर उसका जहर उतारा। तब वे भी श्री महाप्रभुजी के अनन्य सेवक हुए। एक समय मुकुन्ददास उज्जैन में कारकून होकर गए। तब उज्जैन के ब्राह्मण-पंडित उनसे मिलने आए और उन्होंने कहा- 'हम तुम्हें भागवत सुनाएँगे।' मुकुन्ददास ने कहा- 'फुरसत मिलेगी तब सुनेंगे।' थोड़े दिन बाद मुकुन्ददास चौपड़ खेल रहे थे, तब एक पंडित ने उनसे कहा- 'आप कहें तो भागवत सुनाऊँ?' तब मुकुन्ददास ने कहा- 'फुरसत नहीं है।' तब पंडित ने कहा- 'चौपड़ खेल रहे हो और भागवत सुनने के लिए कह रहे हो कि फुरसत होने पर सुनूँगा। ऐसा क्यों?' मुकुन्ददास ने कहा- 'हमारी भागवत जानते हो तो सुनाओ?'

वास्तव में बात यह थी कि वे ब्राह्मण विद्वान तो थे, पर वैष्णव नहीं थे। भागवत कथा वैष्णव के मुख से सुनना, ऐसी आज्ञा है। इसलिए मुकुन्ददास उन्हें टालते थे। यह सिद्धांत है कि भगवदीय के मुख से भागवत-कथा सुनना चाहिए।

एक दिन सूर्य ग्रहण के समय श्री मुकुन्ददास नदी में स्नान करते हुए भगवान् का नाम-जप कर रहे थे। उस पंडित ने आकर कहा- 'तुम्हारी भागवत तो सुनाओ।' तब मुकुन्ददास ने भागवत का एक श्लोक कहकर उसका विवेचन करना शुरू किया। लगभग २४ घंटे हो गए। पंडित ने कहा- 'दिन पूरा बीत गया। अब श्लोक कब पूरा करोगे?' तब मुकुन्ददास ने कहा- 'इस श्लोक का विवेचन छह माह में पूरा होगा।' पंडित को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने कहा- 'यह तो परमात्मा का दिया हुआ

सामर्थ्य है, परमात्मा की ही शक्ति है, नहीं तो जीव क्या जाने?'

सच में श्री भागवत का मर्म भगवत्-कृपा के बिना समझना कठिन है। यह कृपा-शास्त्र है। इसे मात्र विद्या या बुद्धि-व्यापार से जानना सुलभ नहीं है।

जो लौं हरि आपुनपो न जनावे
तो लौं वेद पुरान स्मृति सब, पढ़े सुने नहिं आवे
सुनि विरंचि नारायण मुख सों, नारद सों कहि दीनो
नारद कही वेद व्यास सों, आप सोध नहीं कीनो
वेद व्यास औषध की नाईं, पढ़ि तन ताप नसायो
तिनते पढ़े मुनि सुकदेवा, परीक्षित को जु सुनायो
जदपि नृपति सुनि ब्रजलीला, दसम कही सुकदेवा
तोउ सर्वात्मभाव न उपज्यो, ताते करी न सेवा
श्री भागवत अमृत दधि मथिके श्री वल्लभ सर्वोत्तम
करि आवरन दूरि निज जनके, हाथ दिये पुरुषोत्तम
सेवा अरु शृंगार विविध रस श्री वल्लभ प्रकटायो
करि कृपा निज दैवी जीवन पर 'हरजीवन' स्वाद चखायो।

गीता में भगवान् के वचनामृत हैं कि- 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।' भक्त मेरी परम भक्ति द्वारा ही मैं कैसा हूँ और कौन हूँ, यह यथार्थ रूप से जानते हैं और ऐसा यथार्थ ज्ञान होने पर भक्त मुझमें प्रवेश करता है। ऊपर दिए गए पद में यही भाव है। मनुष्य चाहे वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण ये सब कितना ही पढ़ ले, सुन ले, परन्तु जब तक स्वयं भगवान् उसे स्वयं के स्वरूप का ज्ञान प्रदान करते नहीं, तब तक वह कुछ भी नहीं जान सकता।

श्री भागवत के आद्य वक्ता स्वयं श्री नारायण हैं। अन्य सब तो परंपरा निभाते हैं। भगवान नारायण ने भागवत-ज्ञान ब्रह्माजी को दिया। ब्रह्माजी ने नारद को और नारद ने वेदव्यासजी को सुनाया। व्यासजी ने उसे औषधि की तरह सेवन करके अपने क्लेश को दूर किया, फिर श्री शुकदेवजी को सुनाया। वक्ता-श्रोता उत्तम होने पर भी अधिकारभेद के अनुसार, फलभेद तो रहता ही है। श्री शुकदेवजी से राजा परीक्षित ने भागवत-श्रवण किया। दशम स्कन्ध की परम मधुर ब्रजलीला सुनी, किन्तु मोक्ष के अधिकारी राजा परीक्षित भक्ति का मर्म समझ नहीं सके। भगवान की ये मधुरातिमधुर लीला श्रवण करने के बाद राजा को न तो सर्वात्मभाव उत्पन्न हुआ और न ही उनकी भगवान् की सेवा में प्रीति जागी।

श्री भागवत-उपदेश में मर्यादा का जो आवरण था, उसे श्री महाप्रभुजी ने दूर किया। आपने इस अमृत-समुद्र का मंथन करके साक्षात् सेवारूप परम रस प्रकट किया। आपने अपने सेवकों को भगवान् ही हस्तगत करवा दिए, उपलब्ध करवा दिए।

सत्संग

अयं हि परमो लाभो नृणां साधु-समागमः।

मनुष्य के लिए भगवदीय का सत्संग प्राप्त होना ही परम लाभ है।

सत्संग और श्री भागवत ये दो भगवान के आधिभौतिक चरण हैं।

भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन, सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृत-मोहमदान्धकार, नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥

बहुत जन्मों के पुण्यों के प्रताप से जब भाग्योदय होता है, तो सत्संग मिलता है। अज्ञान के कारण मनुष्य में जो मोह तथा मद उत्पन्न होता है, उसका नाश हो जाता है तथा सार-असार को समझने की बुद्धि रूप विवेक उदित होता है। अज्ञान के कारण हुआ दुःसंग जन्म-मरण रूप अधोगति का कारण होता है और विवेकपूर्वक किया गया सत्संग मुक्ति का कारण होता है।

एक पल के लिए किये गये सत्संग की तुलना स्वर्ग व मोक्ष के साथ भी नहीं की जा सकती। स्वर्ग-सुख तथा मोक्ष-सुख सत्संग की तुलना में तुच्छ हैं। फिर इसके सामने विषय-भोगों के सुख तो कहाँ लगते हैं? भगवदीयों का साथ मिलने पर भगवत्-कथा, हरिगुणगान का प्रवाह बहने लगता है। यह प्रवाह जीवन की सभी तृष्णाओं का नाश कर देता है। इस प्रवाह में स्नान करने वालों में समस्त प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव प्रकट हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उनके मन में उद्वेग के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। सत्संग के लिए अन्य सारे संग त्याग देने चाहिए।

जिसके स्वभाव में साधुता हो, जिसमें श्रीकृष्ण की निष्काम भक्ति का बोध होता हो, जो निरपेक्ष व सात्त्विक हो, ऐसे भगवदीय का साथ सत्संग कहलाता है।

सेवा कुर्वन् सदाचारो धर्ममार्गस्थितोऽपि च।
अविरुद्धवचोवक्ता ह्यविरुद्धकृतिप्रियः॥

जो वैष्णव भगवत् -सेवा करता हो, जिसका जीवन सदाचार मय हो, जो धर्ममार्ग में स्थित हो, जो भगवन्मार्ग के अनुरूप वचन बोलता हो तथा उसी के अनुरूप कर्म करने में जिसकी प्रीति हो, ऐसे वैष्णव का संग करना चाहिए।

संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्संग शेवधिर्नृणाम्। इस संसार में एक या आंधे क्षण का सत्संग भी मूल्यवान् महान् निधि है।

वह्निवद् भगवद्भावः सत्संगव्यवधानतः।
नाशयेत्संसृतिं यद्वत्पात्रव्यवहितं जलम् ॥

भगवत् -भाव अग्नि के समान है और दुःसंग एवं संसार के प्रति आसक्ति जल के समान है। जल से अग्नि का सीधा संबंध हो तो जल अग्नि को ठंडा कर देता है, परन्तु यदि जल को पात्र में रखकर अग्नि पर रखा जाय तो अग्नि जल को जला देता है। यदि दुःसंग, संसार के प्रति आसक्ति इत्यादि को सत्संग रूपी पात्र में रखें तो भगवद् -भाव रूपी अग्नि इन दोषों को नष्ट कर देता है। (शिक्षा पत्र-३)

वैष्णव को ब्रह्मसंबंध द्वारा भगवद्भावरूपी निधि प्राप्त होती है। इस भगवद्भावरूप निधि का शत्रु दुःसंग है। हमें भगवद्-भाव को दुःसंग से सदा बचाते रहना चाहिए। लोक-संकोच को छोड़कर भी भगवद्-भाव का रक्षण करना चाहिए। भगवद्भाव अग्निरूप है और लौकिक व्यवहार (संबंध) और लौकिक स्नेह जल के समान है। जल जिस प्रकार अग्नि को ठंडा कर देता है, उसी प्रकार यदि भगवद् -भाव की रक्षा न की जाय तो लौकिक स्नेह उसे समाप्त कर देता है।

सामान्य नियम तो यही है कि जल यदि सीधे अग्नि के संपर्क में आता है तो वह अग्नि को ठंडा कर देता है, किन्तु एक समय ऐसा है कि जल अग्नि को नहीं, अपितु अग्नि ही जल को नष्ट कर देता है। यदि जल को किसी पात्र में रखकर अग्नि पर चढ़ाया जाय तो जल को अग्नि धीरे-धीरे नष्ट कर देता है। इसी प्रकार यदि वैष्णव भगवद्भावरूपी अग्नि पर सत्संगरूपी पात्र रखें और समस्त लौकिकता को उस पात्र में भर दें तो भगवद्भाव धीरे-धीरे उस लौकिक आसक्ति एवं दुःसंग रूपी जल का नाश कर देगा। इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है। सत् का संग ही सत्संग है। इसलिए भगवदीयों की अत्यधिक महिमा है। सभी भगवदीयों में सदा सद्भाव रखना चाहिए, क्योंकि भक्तिमार्ग में इनकी सहायता ही मुख्य है।

श्री गुसांईजी एक बार गुजरात पधारे, तब वे एक गाँव में ठहरे। सेवक ने गाँव में तलाश करके यह कहा कि इस गाँव में तो एक वैष्णव भी नहीं है। तब आपश्री ने कहा कि इस रास्ते से चाचाजी कभी नहीं गये होंगे। यदि वे निकले होते तो एकाध वैष्णव तो जरूर होता। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवदीय जहाँ भी जाता है, वहाँ उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है।

भगवदीयता का निर्वाह भगवदीयों के साथ होता है। गुजरात-यात्रा के समय श्री गुसांईजी ने एक वैष्णव से पूछा-''इस गाँव में दूसरा कोई वैष्णव नहीं है तो आपका निर्वाह कैसे होता है?'' वैष्णव ने उत्तर दिया-''महाराज ! यहाँ पर एक वृक्ष वैष्णव है। रोज मैं उसके साथ सत्संग करता हूँ। इसी से मेरी वैष्णवता टिकी हुई है।'' वह वृक्ष भी वास्तव में वैष्णव था। किसी अपराध के कारण वह वृक्ष बना हुआ था। निर्दोष तथा लौकिक चिन्ता से रहित भगवदीयों के साथ मिलकर, जीवों को सदा श्रीहरि का भजन-स्मरण आदि सत्संग करना चाहिए। वैष्णव को पुष्टिमार्गीय साधन में तथा पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों में निष्ठा रखकर हमेशा सत्संग करना चाहिए।

सत्संग के सम्बन्ध में गो. हरिरायजी के ये भावमय उद्गार अत्यन्त प्रेरणादायी हैं- ''हमें भगवदीयों का संग अत्यंत दुर्लभ है, चित्त भी साधन के अभाव में अपने आप भगवान से विमुख रहता है। भगवदीयों के वियोग में मेरा मन भी दुःखी होता है। शायद आपके जैसों का साथ होने पर चित्त पुनः भक्तिमय हो जावेगा, परन्तु यह अवसर कब आवेगा, यह कौन जानता है? भगवदीयों का संग कब मिलेगा?''

भगवदीयों के हृदय में सत्संग का भी विरह-ताप होना चाहिए। दैवयोग से यदि मुझे सत्संग न मिला तो भगवद् -भाव को पोषण भी नहीं मिलेगा और चित्त दोषों तथा क्लेश से भर जाएगा। ऐसा होने पर भगवदाश्रय शिथिल हो जाएगा तब मेरी क्या गति होगी? इस प्रकार चिंतन करते हुए अन्ततोगत्वा सत्संग के लिए आतुरता रखनी चाहिए। जिनका संग करना चाहिए ऐसे भगवदीय भी दुर्लभ हैं और ऐसे भगवदीयों का संग भी दुर्लभ है। फिर भी वैष्णव को निराश नहीं होना चाहिए। कृपालु प्रभु जब भक्त के हृदय में भगवदीय के संग की एवं सत्संग की आतुरता को देखेंगे, तब तुरंत ही श्री वल्लभचरण -अनुरागी भगवदीय का संग करावेंगे। सत्संग का रंग लगे बिना रहता नहीं है। श्री दयाराम भाई एक अद्‌भुत बात प्रस्तुत करते हैं - भगवदीयता का, वैष्णवत्व का रंग सच्चा होगा, पक्का होगा तो अवश्य प्रतीत होगा ही, उसका प्रभाव पड़ेगा ही।

''तुज संगे कोई वैष्णव थाय तो तुं वैष्णव साचो।
तारा संगनो रंग न लागे त्यां सुधी तुं काचो।।''

सच्चे वैष्णवों का साथ कभी व्यर्थ नहीं जाता है। कई जीवों का उद्धार भगवदीयों के संग से हुआ है। वैष्णवों के सम्पर्क से कितने ही जीवों ने सांसारिकता से मुक्त होकर प्रभु का आश्रय प्राप्त किया है।

सिंहनंद के निवासी वासुदेवदास छकड़ा अत्यन्त बलवान थे। वे जब तेरह-चौदह वर्ष के थे, तब उन्होंने अनेक सिपाहियों को हरा दिया था। बहुत वजनदार छकड़े को खींचकर उन्होंने अद्‌भुत पराक्रम का प्रदर्शन किया था। इसलिए सब लोग उन्हें वासुदेवदास छकड़ा कहने लगे। उन्हें अपने बल का बड़ा अभिमान था। गाँव में सब लोग उनसे डरते थे। एक दिन श्रीआचार्यजी अपने सेवकों के साथ थानेश्वर पधारे। कृष्णदास मेघन सरस्वती में स्नान कर रहे थे। उस समय वासुदेवदास छकड़ा भी स्नान करने आये। पानी उछालते-उछालते हुए आने से कृष्णदास ने उनसे कहा-''आप कौन हैं? छींटे क्यों उड़ा रहे हो? थोड़ी दूर रह कर ठीक तरह से स्नान करो।'' कृष्णदास के वचनों को सुनकर वासुदेवदास के क्रोध का ठिकाना न रहा। उन्हें अपने बल का अभिमान तो था ही। एक दुर्बल दिखने वाले व्यक्ति ने अपमान किया था। उसने कृष्णदास को मारने के लिए हाथ उठाया ही था कि कृष्णदास ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिए। वासुदेवदास ने हाथ छुड़ाने का भारी प्रयत्न किया, लेकिन हाथ नहीं छुड़ा सके। उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। अपनी हार मानकर उन्होंने कृष्णदास का परिचय पूछा। कृष्णदास ने अपना नहीं, अपने गुरुदेव श्री महाप्रभुजी के प्रताप का वर्णन किया। वल्लभीय कृष्णदास के प्रताप को देखकर वासुदेवदास श्री महाप्रभुजी के अनन्य सेवक बन गये।

बाँसवाड़ा के गोपालदास भगवदीय थे। उनके यहाँ पद्मा रावल, मावजी पटेल एवं विरजो ये तीनों आये। पद्मा रावल तथा उनके यजमान मावजी पटेल और विरजो को द्वारिका के श्री रणछोड़जी में बहुत आसक्ति थी। तीनों उनके दर्शनों के लिए उत्सुक थे। श्री गोपालदासजी ने कहा- ''प्रयाग के पास अडेल में विराजते श्रीमहाप्रभुजी श्रीरणछोड़जी के ही स्वरूप हैं। द्वारिका वाले रणछोड़जी तुम्हारे साथ बोलते-चालते नहीं, लेकिन ये रणछोड़जी तो तुम्हारे सम्मुख हैं।'' ये बातें सुनकर पद्मा रावल, मावजी पटेल और उनकी पत्नी विरजो तीनों अड़ेल के लिए चल दिये। तीनों का श्री रणछोड़जी में

भाव होने से श्री आचार्यजी ने उन्हें श्री रणछोड़जी के रूप में ही दर्शन दिए। इस प्रकार भगवदीय गोपालदास के अल्पकाल के संग से ही तीनों का उद्धार हो गया। ऐसा सत्संग का प्रताप है।

मणुंद के राजा दुबे तथा माधो दुबे पर प्रसन्न होकर श्री महाप्रभुजी ने ये उद्‌गार प्रकट किये थे- "अपने घर जाकर सेवा करो। जाको निरोध भयो वाको बहुत बोलनो, देश फिरनो नहीं। ताते घर जाई, दैवी जीव आवे तिनको नाम दीजो। तुमको तो निरोध सिद्ध भयो, और जो तुमारो संग मन लगाय के करेगो ताहू को निरोध सिद्ध होयगो।" अर्थात् जिसके चित्त का भगवान में निरोध हो गया हो, जो भगवान की सेवा-स्मरण-रूप भक्ति में सराबोर हो चुके हों, ऐसे वैष्णवों का संग जो मन लगाकर करता है, उसका भी भगवान में निरोध सिद्ध हो जाता है।

हरिजन संग छिनक जो होई,
कोटि स्वर्ग सुख, कोटि मुक्ति सुख, तिहि सम लहै न कोई॥
भूरि भाग्य पुण्य-संचित फल, कृष्ण-कृपा ह्वै जाको।
'सूरदास' हरिजन पद महिमा, को कहि सकै ताको...॥

'एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध' घड़ी भर, पल भर के लिए किया गया सत्संग भी मनुष्य का उद्धार करता है। करोड़ों स्वर्गों के सुख की अपेक्षा, करोड़ों मुक्ति सुख पाने की तुलना में जो सुख भगवदीय के सत्संग में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। करोड़ों स्वर्ग या मुक्ति का परम सुख भी पल भर के सत्संग के सुख की बराबरी नहीं कर सकता है। मनुष्य के भाग्योदय का समय आने पर, पूर्व जन्म के पुण्य फलित होने का समय आने और पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र की कृपा होने पर ही सत्संग मिलेगा। सत्संग का तत्त्व समझ में आएगा और सत्संग अमोघ बनेगा।

सत्संग दुर्लभ है, अगम्य है और अमोघ है। अहंकारपूर्वक सत्संग करने से उसका फल नहीं मिलता है। श्री सुबोधिनी के लिखिया (लिपिक) माधव भट्ट काश्मीरी के गुरु केशव भट्ट थे। माधव भट्ट और केशव भट्ट दोनों ही महाप्रभुजी के पास भागवत-कथा सुनने आते थे। लेकिन माधव भट्ट को ही महाप्रभुजी की भक्ति प्राप्त हुई। उन्हें ही कथा के सिद्धान्तों का ज्ञान हुआ। एक वैष्णव ने श्री आचार्यजी से पूछा- "केशव भट्ट और माधव भट्ट दोनों ने आपकी कथा सुनी पर माधव भट्ट को ज्ञान हुआ और केशव भट्ट को नहीं हुआ। इसका क्या कारण है?"

तब श्री महाप्रभुजी ने उत्तर दिया- "केशव भट्ट ने बराबरी बैठिके कथा सुनी। तासो बोध न भयो और माधव भट्ट ने दास भाव सो मन लगाय के सुन्यो ताते याकों बोध भया।" केशव भट्ट ने सत्संग तो किया, कथा भी सुनी परन्तु उनके हृदय में महाप्रभुजी के प्रति दास भाव न था। इसलिए उन्हें ज्ञान नहीं हुआ, जबकि माधव भट्ट ने दास भाव रखकर कथा-श्रवण की। इससे उन्हें स्वरूप और सिद्धान्त दोनों का ज्ञान हुआ। दास भाव के बिना सत्संग का फल नहीं मिलता।

स्वाध्याय ३१

दुःसंग

दुष्ट या खराब व्यक्ति का साथ ही कुसंग है। दुष्ट के तीन प्रकार हैं – आधिभौतिक दुष्ट, आध्यात्मिक दुष्ट और आधिदैविक दुष्ट। **दुष्कर्मा कर्मदुष्टः स्यात्** अर्थात् दुष्टकर्म करने वाला 'कर्मदुष्ट' कहलाता है। ये आधिभौतिक दुष्ट कहलाते हैं, इन्हें सत्क्रिया और वाणी से सुधारा जा सकता है।

ज्ञानदुष्टोऽन्यथादृशि-विपरीत दृष्टिवाला 'ज्ञानदुष्ट' कहलाता है। ऐसा ज्ञानदुष्ट आध्यात्मिक दुष्ट है। वह ज्ञानशून्य या विपरीत ज्ञानवाला होता है। उसे सुधारना कष्टप्रद है, फिर भी प्रयत्न करके तत्त्व बोध के द्वारा ज्ञानदुष्ट कभी निर्दोष बन सकते हैं। **'प्रीतिशून्यो भक्तिदुष्टः'**-भक्तिदुष्ट, आधिदैविक दुष्ट, स्नेहरहित-भावरहित होते हैं। उन्हें सुधारने का कोई उपाय नहीं है। यह नीरस प्राणी का कथाश्रवण, सत्संग आदि से भी नहीं सुधरता उसे तो तत्काल त्याग देना चाहिए। जो भगवान से विरुद्ध हो, वेद से विरुद्ध हो, पुष्टिमार्ग से, श्रीमहाप्रभुजी अथवा वैष्णवों से विरुद्ध हो, ऐसे जीव का संग दुःसंग कहलाता है। भगवत् -स्वरूप भगवत् -प्रसाद और भगवत् -सेवा की निंदा करने वालों का संग दुःसंग कहलाता है। श्री भगवत् शास्त्र, भगवद्- वाक्यों, श्री आचार्यजी के उपदेश के विरुद्ध आचरण करने वाले का संग, दुःसंग कहलाता है। ऐसे दुष्ट जीवों का संग करने से वैष्णव के द्वारा किया हुआ उत्तम साधन भी नष्ट हो जाता है।

महान अधिकारी अर्थात् सर्वथा योग्य होने पर भी व्यक्ति को दुःसंग से सावधान रहना चाहिए। एक हिरन के बच्चे के संग से, उसके प्रति आसक्ति से भरत जैसे महामुनि को भी हिरन के रूप में जन्म लेना पड़ा तो विषम और दुष्ट कलिकाल में जीव सावधानी न रखे तो उसकी दुर्गति ही होगी। यदि किसी कारणवश दुष्ट का सान्निध्य हो ही जाय तो धैर्यपूर्वक मौन रहना ही उचित है। ऐसी स्थिति में बहरा या गूँगा बन जाना ही उत्तम है। भगवदीय का संग होने पर प्रसन्नतापूर्वक भगवत् -वार्ता करनी चाहिए, लेकिन अधर्मी के साथ किया गया सत्संग फल देने वाला नहीं है। सत्संग केवल स्वमार्गीय भगवदीयों के पास बैठकर ही करना चाहिए।

भगवत् -पक्षपातिनो भगवद्विमुखैः स्थितिरनुचिता।

भगवान के भक्तों का भगवान से विमुख व्यक्ति से संग करना उचित नहीं है। मनुस्मृति में वाक्य है कि माता, पिता, साध्वी स्त्री और कम उम्र वाली संतान का पालन-पोषण किसी भी रीति से हर स्थिति में करना ही चाहिए। 'अप्यन्याय शतं कृत्वा' उसके लिए चाहे कुछ भी क्यों न करना पड़े। स्वजनों की साल-सम्हाल करना धर्म है, लेकिन यदि स्वजन भगवान की भक्ति से, भगवत् -सेवा से, भगवत् -आश्रय से विमुख हों, स्वभाव से बहिर्मुख हों तो उनका त्याग करने में कोई दोष नहीं है। दुःसंग का त्याग करके, संतों का समागम करना ही बुद्धिमानी है। बहिर्मुख का त्याग न कर सकने पर, उसका साथ भक्त वैष्णव को भी बहिर्मुख बना देगा। वैष्णव के लिए श्रीआचार्यचरण की आज्ञा है कि 'अवैष्णव का साथ नहीं रहना चाहिए, क्योंकि वह भक्तिमार्ग में बाधक है ''**असत्संगो नैव**

कर्त्तव्यः भक्तिमार्गस्य बाधकः'' जिसका संग करने से दुर्बुद्धि पैदा हो तथा भगवत् -भजन में व्यवधान हो, उसका संग दुःसंग कहलाता है। वैष्णव को दुष्ट को सुधारने की चेष्टा में भी सावधान रहना चाहिए। स्वयं को हानि न हो, ऐसा ध्यान रखकर ही दुष्ट को समझाने का कभी प्रयत्न कर लेना चाहिए। सज्जन के संग से दुर्जन दुष्टता छोड़ दें, सुधर जाय, इसकी संभावना कम है किन्तु दुःसंग से सज्जन को हानि होने की संभावना ही अधिक है। इसलिए दुःसंग से सावधान रहना चाहिए। 'भक्तिवर्द्धिनी' में श्री महाप्रभुजी ने अव्यावृत्त रहकर भगवान का भजन करने की आज्ञा की है। अव्यावृत्त अर्थात् संगरहित होकर और संगरहित का तात्पर्य है कि जो भगवान के भजन के अनुकूल न हों, ऐसे लोगों का साथ छोड़कर श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिए।

असत्संगस्य च त्यागो भावबाधकता यतः।
यथा व्याघ्रो बाधकः स्याच्छरीरादे शरीरिणः॥

जैसे देहधारियों के लिए शेर खतरनाक है, वैसे ही दुःसंग भक्तों के लिए बाधक है। असत्संग से भगवत्-भाव का नाश होता है। भगवदीयों के लिए तो अपना देह, मन, वाणी, इत्यादि का अध्यास (मिथ्या ज्ञान-मिथ्या अनुसंधान) भी दुःसंग रूप है। इन्द्रियादि का यदि स्वसुख के लिए पोषण किया जाता है, विलास के लिए ही उनका उपयोग होता है तो उनका संग भी बाधक है, दुःसंग ही है। यदि देह, चित्त आदि का भगवत् -कार्य, प्रभु-संबंधी व्यवहार के बदले अन्य से संबंध होता हो तो वह भी दुःसंग ही है। अतः अपने देह, चित्त और सभी इन्द्रियों को भगवान से जोड़े रखना चाहिए।

श्री हरिरायजी ने दुःसंग की तुलना डाकन के साथ की है। बच्चे की साल-सम्हाल करने वाली माता जिस प्रकार बालघातिनी डाकन से डरती है और आसुरी शक्ति से बालक की रक्षा करती है, उसी प्रकार वैष्णव को भगवद् -भाव की रक्षा के लिए दुःसंग से डरते रहना चाहिए।

लौकिक संग- दुष्ट का संग तो दुःसंग है ही, साथ ही लौकिक जीव का संग भी दुःसंग है। लौकिक जीवों के हृदय में भगवान नहीं पधारते हैं।

लौकिक जीवों के लक्षण- जो जीव लौकिक कामनाओं वाले, लौकिक आवेश वाले होते हैं जो क्रोधाविष्ट होते हैं, जो संसार की आसक्ति में डूबे हुए हैं, लोभी हैं और धन-संचय की प्रवृत्ति में ही जुटे रहते हैं, जिनमें दया होती ही नहीं तथा जो स्नेहरहित होते हैं, जो लौकिक लाभ और हानि के हर्ष और शोक से हमेशा व्यग्र रहते हैं, वे लौकिक जीव हैं। लौकिक जीव सदा अभिमानी क्रूर और दुष्टों के पक्षपाती होते हैं। वे शुष्क तर्कवादी होते हैं। वे भगवान श्रीकृष्ण के सर्वोपरि माहात्म्य को नहीं जानते। वे संसार के सन्मुख तथा भगवान से विमुख रहते हैं। भगवान की निर्दोष दिव्य लीलाओं में भी उन्हें दोष दिखाई देता है। वे लौकिक में विवेकशून्य होकर जड़तापूर्वक लगे रहते हैं। वे श्रीमहाप्रभुजी के स्वरूप को नहीं जान सकते हैं तथा उनसे सदा विमुख रहते हैं।

ये लौकिक जीवों के लक्षण हैं। इनसे संग में रहने से भी भगवत् -भाव का नाश होता है। इसलिए इनके संग को दुःसंग समझकर इनसे दूर रहना चाहिए। स्वधर्म अथवा स्वकर्त्तव्य की बुद्धि भावना से भगवदीय को दुःसंग नहीं करना चाहिए। दुःसंग सर्वथा अधर्म ही है। अधर्मियों का संग करना भी आंशिक रूप से, एक प्रकार से अधर्म ही है। ''दुःसंगान्नजदोषाभ्यामभूद् भीष्मो बहिर्मुखः'' दुःसंग

और दुष्ट अन्न ग्रहण करने रूपी दोष के कारण भीष्म जैसे भगवदीय भी बहिर्मुख हो गए। दुःसंग हलाहल विष जैसा है, कोई इसे पचा नहीं सकता। जहर को पचा नहीं सकते, इसी प्रकार थोड़े से दुःसंग को भी चलाना नहीं चाहिए। दुष्ट व्यक्ति का तो संग ही दुःसंग है। यदि चित्त लौकिक में ओतप्रोत हो जाय तो अलौकिक भाव लुप्त हो जाते हैं। वैराग्य और संतोष ये दोनों साधन चित्त को लौकिक में जाने से रोकने के उत्तम उपाय हैं। वैराग्य से लौकिक वासनाओं के दुष्टभाव से बचा जा सकता है और संतोष से लोभवृत्ति का निवारण होता है। भक्तिमार्ग में काम और लोभ ये दो बड़े बाधक हैं। इसलिए वैराग्य से काम और संतोष से लोभ को जीतना चाहिए।

दुःखान्तरं तु ज्ञानेन भक्त्या वाऽपि निवर्तते।
लौकिकं विषयं प्राप्त्या न हि दुःसंगजं क्वचित् ॥

अन्य दुःख का ज्ञान के द्वारा या भक्ति के द्वारा निवारण हो सकता है। लौकिक विषयों से संबंधित दुःख विषय-भोग से दूर होता है, परन्तु दुःसंग से उत्पन्न होने वाला दुःख कभी भी दूर नहीं होता है।

पुष्टिभक्त वृत्रासुर ने भगवान से माँगा था कि हे प्रभु! आपकी माया के प्रभाव से पुत्र, पत्नी, गृह इत्यादि में जो आसक्त होकर जी रहे हैं, जिनके चित्त में आपका नहीं, परन्तु इस नश्वर संसार का चिंतन चलता रहता है, ऐसों का संग मुझे कभी न हो। दुःसंग से धर्म, काम, मोक्ष, सब पुरुषार्थों के उपायों, प्रयासों एवं फलों का नाश होता है। यह एक ही दोष सबका नाश कर देता है। दुःसंग के परिणामस्वरूप भगवान से बहिर्मुखता आती है। किंचित् मात्र भी बहिर्मुखता न आए, इसलिए वैष्णव को श्रीमद् भागवत का पाठ करना चाहिए। बहिर्मुखता दूर करने के लिए श्रीमद् भागवतजी का नित्य पाठ करना श्रेष्ठ उपाय है।

बंगाल के नरहरिदास गोडिया को बचपन में श्री जगन्नाथजी में अत्यन्त प्रीति थी। पुरी में दर्शन करने जाते तो वे एक-एक साल तक वहीं रहते थे। यह देख एक दिन पिताजी ने उलाहना देते हुए कहा "तू बार-बार जगन्नाथजी के दर्शन के लिए क्यों जाता है? जगन्नाथजी तुझे क्या देते हैं? वे किसी को कुछ नहीं देते। देने वाले होते तो वे स्वयं भी भेंट-पूजा क्यों स्वीकार करते। कोई देवता देने वाले नहीं, सब लेने वाले ही हैं। मैं तुझे खर्चा देता हूँ, जिससे तू जगन्नाथजी के दर्शन करने जा पाता है।" पिता के ऐसे वचन सुनकर नरहरिदास को बहुत क्रोध आया। उसने पिता से कहा-"आप भगवान के निंदक हैं। भविष्य में मैं आपका धन नहीं लूँगा और आपके साथ भी नहीं रहूँगा।" पिता ने बाद में बहुत पश्चात्ताप किया, किन्तु नरहरिदास दैवी जीव थे। उनसे ठाकुरजी की निन्दा सहन नहीं हो सकी। पिताजी को छोड़कर वे जगन्नाथजी आ गए। श्री जगन्नाथप्रभुजी ने उन्हें महाप्रभुजी के पास भेजा। श्री महाप्रभुजी ने उनका योग्य सम्मान किया। दुष्ट पिता का संग छोड़कर आने के लिए उनका अभिनंदन करते हुए कहा-"आओ नरहरिदास! आपके जैसे को ऐसी टेक ही शोभा देती है। आपने दुष्ट पिता का त्याग किया। पूर्व में प्रहलादजी ने भी दुष्ट पिता की आज्ञा नहीं मानी थी। तुम्हारा नरहरिदास नाम योग्य ही है। तुम उत्तम पुष्टिमार्गीय जीव हो।" विष्णुदास छीपा, गोविंददास भल्ला जैसे कई वैष्णवों ने अपने परिवार तथा स्वजनों का त्याग कर दिया, क्योंकि उनके स्वजन भगवत् -भाव से रहित थे। यदि धृतराष्ट्र ने दुर्योधन जैसे लोगों का संग छोड़ भीष्म एवं विदुर जैसे भगवदीयों का संग पहले से किया होता तो उनकी दुर्दशा नहीं होती। श्री गुसांईजी के सेवक वैष्णवों के संग से ग्यारह ठगों में भी

वैष्णवता आ गई थी। श्री गुसांईजी ने उन्हें नाम-दीक्षा दी थी। वैष्णवों ने उन ठगों को घर जाने की आज्ञा दी। तब ठगों ने इसका विरोध किया। ठगों ने कहा -"अब हम अपने घर नहीं जाएँगे। जावेंगे तो दुःसंग होगा। दुःसंग से हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी। इसलिए हम इसी गाँव में रहेंगे। यहीं जीवन-निर्वाह का साधन करेंगे। आपके संग से ही हमारा उद्धार होगा।" दुष्कर्म करने वाले वे ठग भी जान गये थे कि दुःसंग से बुद्धि बिगड़ती है।

हिरन के बच्चे के संग से भरतजी की दुर्गति हुई थी। यह कथा सर्वविदित है। भक्तिमार्ग के यात्रियों के लिए इतना आश्वासन महत्त्वपूर्ण है कि "भक्तिमार्ग में दुःसंग से बुद्धि भ्रष्ट तो हो जाती है, परन्तु भक्तिबीज नष्ट नहीं होता है। फिर कभी सत्संग मिलने पर भक्तिबीज वापस बढ़ने लगता है।" नियम यह है कि भक्तिमार्ग में यदि कभी दुःसंग हो जाय तो जीव पतित हो जाता है, भ्रष्ट हो जाता है, इसमें जरा भी शंका नहीं है, परन्तु उसका 'भक्तिबीज' कभी नष्ट नहीं होता है। कभी भविष्य में भगवदीय का संग, सत्संग मिले तो फिर भक्ति बढ़ जाती है। भरतजी को मृग के संग से तीन जन्म का अन्तराय तो हुआ, लेकिन अन्ततः फिर वे कृतार्थ हो गए। चित्रकेतु को पार्वतीजी के शाप से असुरता प्राप्त हुई। वह वृत्रासुर हुआ। असुर योनि में उसका जन्म होने पर भी भक्तिबीज का नाश नहीं हुआ। इसलिए 'भक्तिबीज' महान् है। इस बीज की दुःसंग से रक्षा की जाय और उसे सत्संग रूपी अमृत से सींचा जाय तो जीव का सहज में उद्धार हो जाता है।

तजो मन हरि-विमुखन को संग
जाके संग ते कुबुधि उपजत है, परत भजन में भंग...
कागा कहा कपूर चुगावत, श्वान नहावै गंग
खरकुं कहा अरगजा लेपन, मर्कट भूषन अंग
कहा भयो पय पान कराए, विष नहीं तजत भुजंग
'सूरदास' खल कारी कामरी, चढ़त न दूजो रंग॥

यहाँ प्रत्येक भक्त को अपने मन को हरि-विमुख बहिर्मुख जीवों का संग छोड़ने की सलाह दी गई है। जिसका संग करने से कुबुद्धि होती है, भगवत् -भजन भंग होता है, बाधा होती है, भक्ति-भाव नहीं रहता है। भक्ति की क्रिया नहीं हो पाती। मन में संशय उत्पन्न होने से श्रद्धा नहीं रहती। भगवान में कुभाव उत्पन्न होता है। ऐसे बुरे परिणामों से बचना हो तो दुःसंग से बचना चाहिए। दुर्ज्ञ- अर्थात् अतिदुष्ट जीवों को यदि सत्संग मिले तो भी कोई लाभ नहीं होता है। "पयःपानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्" - क्योंकि साँप को दूध पिलाने से उस का जहर ही बढ़ता है। जो उत्तम वस्तु का अधिकारी नहीं है, उसे उत्तम वस्तु मिलना व्यर्थ ही है। कौवे को कपूर जैसी सुगंधित वस्तु खिलाने पर भी वह खराब वस्तु खाने के स्वभाव को छोड़ता नहीं है। श्वान को गंगा-स्नान कराने के बाद भी वह पवित्र नहीं होता। इसी प्रकार गधे को चन्दनादि द्रव्यों का लेप करने पर भी गधा धूल में लोटे बिना नहीं रहता। इसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति उत्तम वस्तु प्राप्त होने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ पाते। दुष्ट सत्संग पाने पर भी अपना दुष्टतापूर्ण स्वभाव नहीं छोड़ते। इसलिए भगवदीय को दुष्ट का संग सर्वथा त्याग देना चाहिए। दुःसंग से सदा बचना चाहिए। ●

स्वाध्याय ३२

अन्याश्रय

श्रीमत्प्रभुचरण श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है कि, **''अन्यसंबंधगंधोपि कंधरामेव बाधते''** भगवदीय के लिए प्रभु के अलावा किसी अन्य के संबंध की गंध भी गले में फाँस की तरह लगती है।

पुष्टिभक्त के लिए अन्याश्रय महाबाधक है। अन्य का अर्थात् भगवान के सिवाय दूसरे किसी का भी आश्रय भक्तिमार्ग में महाबाधक होता है। पुष्टि प्रभु परम कृपालु हैं। फिर भी जब वे जीव में अहंकार और अन्याश्रय जैसे दोष देखते हैं तो उसे निर्दोष बनाने के लिए कठोर भी हो जाते हैं। उसके कल्याण के लिए उसे कष्ट देते हैं, तपाते भी हैं।

श्री महाप्रभुजी ने दामोदरदास संभलवाला से उनकी पत्नी का क्या मनोरथ है, यह पूछा तो उन्होंने बताया कि उसका अन्य तो कोई मनोरथ नहीं है, सिर्फ एक पुत्र का मनोरथ है। श्री महाप्रभुजी ने उसे 'पुत्र होगा' ऐसा वरदान दिया। थोड़े समय के बाद वह गर्भवती हुई। कुछ समय बाद वहाँ एक ज्योतिषी आया। दामोदरदासजी की पत्नी ने महाप्रभुजी के वचनों में संशय करके पूछा कि मुझे क्या होगा? पुत्र या पुत्री? इस अपराध के परिणामस्वरूप उसे अन्याश्रय दोष हुआ। उसे पुत्र तो हुआ, किन्तु वह म्लेच्छ हुआ जो कि माता-पिता को बहुत दुःख देने वाला हुआ।

अन्याश्रय महाबाधक है। इसलिए उससे डरते रहना चाहिए। जिस पल अन्याश्रय हुआ, उसी पल चित्त बहिर्मुख हो जायेगा, ऐसा जानना चाहिए।

अन्याश्रयस्तदीयैक पदाश्रयविरोधकृत्।
प्रभोरुदासीनतायाः कारणं त्यज्यतां द्रुतम्॥

भगवान् श्रीकृष्ण के ही चरण-कमलों का आश्रय करना चाहिए। भगवदाश्रय में महाबाधक है अन्याश्रय। अन्याश्रय प्रभु को अप्रसन्न कर देता है। वैष्णव को बिना विलंब के तत्काल अन्याश्रय का त्याग कर देना चाहिए। यदि वैष्णव अज्ञानवश अन्याश्रय की बाधकता को न समझे तो प्रभु करुणा करके स्वयं ही अपने सेवकों के अन्याश्रय रूपी दोष को छुड़ा देते हैं। ब्रजवासी इन्द्रयज्ञ करके अनायास अन्याश्रय की भूल करने जा रहे थे। किन्तु प्रभु ने स्वयं उन्हें गिरिराज-पूजन की आज्ञा करके उनके अन्याश्रय का निवारण कर लिया। मूर्ख एवं अज्ञानी भक्त के किसी भी दोष को प्रभु स्वयं नष्ट कर देते हैं या करा देते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं कि वे करुणा के सागर हैं।

श्री हरिरायजी की आज्ञा है कि अन्याश्रय न हो इसका ध्यान रखते हुए सावधानीपूर्वक लौकिक व्यवहार करना चाहिए। आसक्तिपूर्वक नहीं, अपितु दिखाने के लिए लौकिक व्यवहार करना चाहिए। लौकिक व्यवहार न करने पर अपकीर्ति होगी, जिससे मन में क्लेश होगा और क्लेश से मन शिथिल होने की संभावना है। अतः लौकिक व्यवहार भी ऊपरी तौर पर निबाहते रहना आवश्यक है ।

भगवान के दृढ़ आश्रय के बिना भगवत् -संबंध रहता ही नहीं है। उज्जैन के पास के गाँव की एक वैष्णव बाई की वार्ता में यहाँ तक वर्णन है कि सहज ही अन्याश्रय होने पर भी ठाकुरजी भक्त को छोड़कर चले जाते हैं। उज्जैन के पास के गाँव की इस वैष्णव बाई को श्रीगुसांईजी ने नाम-निवेदन कराया था। कृष्ण भट्ट के संग से यह बाई भगवत् -भाव से सम्पन्न भी हुई। परम दयालु श्री गुसांईजी ने उसके यहाँ ठाकुरजी भी पधराये। वह स्नेहपूर्वक भगवत्-सेवा करती थी, इसलिए श्रीनाथजी उसे अनुभव जताने लगे। श्रीठाकुरजी उसके साथ प्रत्यक्ष वार्तालाप करते थे। जो उन्हें आवश्यकता होती, उससे माँग लेते थे। प्रभु उसके यहाँ प्रसन्नता से बिराजते थे और उसकी वस्तु, सामग्री इत्यादि प्रसन्नता से अंगीकार भी करते थे। कई बार तो कृष्ण भट्ट के ठाकुरजी भी इसके पास से इच्छित वस्तु माँग लेते थे। इतने पर भी निहालचंद जैसे भगवदीय को इसकी पात्रता की शंका होने पर वे कृष्ण भट्ट से कहने लगे-''भट्टजी! इस बाई को वस्तु तो बड़ी मिली है, लेकिन यह पात्र छोटा है इसलिए निभ जाय तब जानना।''

और ऐसा ही हुआ। कुछ दिनों बाद एक अधिकारी गाँव की सनद लेकर जमीन का निकाल करने आया। परिचय होने के बाद बाई ने उसे अपने ठाकुरजी के दर्शन कराये। वह अधिकारी देवी का भक्त था। उस पर उस बाई का अच्छा प्रभाव पड़ा कि यह उत्तम वैष्णव है। जमीन की नाप करते समय उस अधिकारी ने बाई की थोड़ी जमीन बढ़ा दी। फिर उसने आकर उस बाई से कहा-''बाई! आप वैष्णव हो, इसलिए मैंने आपकी जमीन नाप में थोड़ी बढ़ा दी है। तुम पर इतना उपकार किया है।'' बाई ने जवाब दिया-''आपने बहुत अच्छा किया। मेरा दूसरा कौन करने वाला था!'' बाई के हृदय में ऐसा अन्याश्रय भाव आते ही श्रीठाकुरजी उसके घर का त्यागकर पधार गये। बाई रोती-रोती कृष्ण भट्ट के पास आई। कृष्ण भट्ट ने उलाहने में सुन्दर सिद्धान्त कहा-''बाई! हमारे ठाकुरजी व्यापार-व्यवसाय की सामग्री नहीं है कि लोगों के सामने उनका प्रदर्शन करें और लोग हमें वैष्णव समझकर हम पर उपकार करें। यह तो वैष्णवता बेचना है। इसलिए अब प्रभु तुम्हारी सेवा स्वीकार नहीं करेंगे।'' इस प्रसंग से शिक्षा लेकर वैष्णव को अन्याश्रय से डरते रहना चाहिए। अन्याश्रय कभी न करें। अन्याश्रय न करें तो ही वैष्णवता आवेगी और श्री ठाकुरजी सेवा करावेंगे।

अलीखान और उसकी पुत्री में म्लेच्छता का कारण भी अन्याश्रय था। वे पिछले जन्म में कावेरी के प्रभु रंगनाथजी की सेवा में थे। पिता (अलीखान) भगवान की शय्या ठीक कर रहा था, उसकी पुत्री ठाकुरजी के सामने नृत्य कर रही थी। तभी ठाकुरजी के द्वार खुले थे और दर्शन हो रहे थे, इतने में एक राजा भगवान के दर्शन करने आया। राजा के आने की खबर सुनते ही पिता भगवान की शय्या की सेवा छोड़कर राजा के स्वागत के लिए दौड़ा। उसकी पुत्री भी ठाकुरजी के सामने नृत्य कर रही थी, वह भी राजा के सामने हाव-भाव व कटाक्ष करने लगी। भगवान की सेवा में रहने वाला भक्त, इस प्रकार भगवान से बहिर्मुख हो जाए, यह अन्याश्रय ही है। इस कारण पिता और पुत्री दोनों अगले जन्म में म्लेच्छ हुए। प्रभु दैवी जीव को कभी छोड़ते नहीं हैं। इसलिए दूसरे जन्म में श्री गुसांईजी की कृपा से उन दोनों का उद्धार हुआ। यह कथा इस बात की सूचक है कि प्रभु से अधिक

अन्य किसी को महत्त्व देना भी अन्याश्रय दोष है। भगवदीय भगवान को ही सर्वोपरि माने। स्वयं के सर्वसुख, सर्व संपदा के आधार भगवान को ही माने, यह आवश्यक है।

भगवदाश्रय होगा तो जीव को सारे सुख उपलब्ध होंगे और यदि अन्याश्रय होगा तो जो सुख मिला है, वह भी नष्ट हो जाएगा।

अज्ञान के कारण अन्याश्रय हुआ हो तो स्वयं प्रभु ही उसे छुड़ा देते हैं, किन्तु यदि किसी अन्य आसक्ति अथवा अहंकार के कारण अथवा संशय के कारण अन्याश्रय हुआ हो तो प्रभु क्लेश देकर ही उसे दूर करते हैं। ब्रजवासियों के द्वारा अज्ञानवश इन्द्र की पूजा की जाती थी। यह अन्याश्रय दोष है। इसका उन्हें ज्ञान नहीं था। प्रभु ने गोवर्धन-पूजा करवाकर इन्द्र का गर्व दूर किया तथा ब्रजवासियों का अन्याश्रय दोष छुड़ा दिया।

देश, काल और द्रव्य का आश्रय, लोकाश्रय रूपी अन्याश्रय है। 'श्रीकृष्णाश्रय' के प्रथम तीन श्लोकों के द्वारा इस अन्याश्रय के स्वरूप को महाप्रभुजी ने समझाया है। कर्ता, मन्त्र एवं कर्म इन तीनों का आश्रय (वेद) धर्माश्रय है। श्रीकृष्णाश्रय के चौथे से छठे श्लोकों में यह दूर करने की प्रेरणा है। लोक-धर्म और वेद-धर्म का आश्रय भी अन्याश्रय है, क्योंकि भगवदीयों के लिए परम साधन रूप प्रभु की सेवा ही है और परम फलरूप भी भगवान का स्वरूप है। भगवान की प्रसन्नता ही उनका पुरुषार्थ है।

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पै आवै॥
कमलनैन को छाँड़ि महातम, और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँडि पियासौ, दुरमति कूप खनावै॥
जिहि मधुकर अंबुजरस चाख्यो, क्यों करील फल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥

हे हरि, हे नाथ! मेरा मन आपको छोड़कर अन्यत्र कहाँ सुख पावेगा! जिस प्रकार जहाज में रहा हुआ पंछी, जहाज को छोड़कर समुद्र में उड़ जाता है, विशाल समुद्र में अन्य आश्रय मिलता नहीं है तो फिर आश्रय लेने के लिए जहाज पर ही आ जाता है। ऐसे ही आपके अलावा मेरा अन्य कोई आश्रय है ही नहीं। मैं कहाँ जाऊँ?

संसार में चारों तरफ भटककर चौरासी लाख योनियों में भटकते जीव को अन्य आधार कहाँ है? और जो मूर्ख व्यक्ति भगवान के चरणों को छोड़कर, अन्यत्र भटकता है, उसके लिए क्या कहा जाए? महान से भी महान हैं कमल नयन श्रीकृष्ण चन्द्र के चरणारविन्द। उन्हें छोड़कर अर्थात् करोड़ों कल्पतरु के समान कृष्ण-चरणों को छोड़कर, अल्प या अंशरूप अन्य देवों का ध्यान, स्मरण कौन करें? यदि महान गंगाजल को छोड़कर कोई कुवा खुदवाकर उसका पानी पीता है तो उसे मूर्ख न कहे तो क्या कहें?

श्रीकृष्ण का आश्रय छोड़कर, अन्य किसी का आश्रय करना गंगाजी का परित्याग करके कुएँ का जल पीने के समान है। क्या कोई भ्रमर कमल के मकरन्द का पान करने के बाद करील फल

का स्वाद लेने का विचार कर सकता है? कामधेनु को छोड़कर बकरी को दुहने का विचार जैसे मूर्खतापूर्ण है, वैसे ही श्रीकृष्ण का, सर्वसमर्थ, पूर्ण परमात्मा, परब्रह्म, पूर्ण अवतार, सच्चिदानंद रूप, देवाधिदेव, विश्वात्मा, सर्वात्मा, भक्तवत्सल, भगवान श्रीकृष्ण का आश्रय छोड़कर जो तुच्छ वस्तुओं, व्यक्तियों या देवताओं का आश्रय करे, वह महामूर्ख है।

वैष्णव ने असमर्पित और अन्याश्रय दोष से दूर रहना चाहिए। प्रभु के साथ अपने स्वामी-सेवक संबंध का बारंबार चिन्तन करते रहना चाहिए।

''अन्याश्रय असमर्पित अे बे म्होटा दुस्तर रोग,
सर्व वस्तु श्रीनाथ ने अरपी, उच्छिष्ट करवो भोग
(उच्छिष्ट) भोग करवो हरिभक्त नी संगे, एकज श्रीकृष्ण सेववा रंगे
दृढ़ आश्रय गुरुदेवनो धरवो, गोवत्स पदवत् भवोदधि तरवो।।
सेवो श्रीकृष्ण कृपाल।।''

श्री महाप्रभुजी की आज्ञा है कि ''असमर्पितवस्तुनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्। भगवदीय वैष्णव ने प्रत्येक वस्तु प्रभु को समर्पित करना चाहिए। वस्तु के समर्पण से वस्तु निर्दोष हो जाती है। प्रसादी बनने से वह मंगलकारी हो जाती है और समर्पण से भगवान के साथ स्वामी-सेवक संबंध की मर्यादा भी बनी रहती है।

प्रभु के चरणों को पकड़ने के उपरान्त भी यदि अश्रद्धा होगी तो ही अन्यत्र जाने का मन होगा। मेरे सारे मनोरथ प्रभु पूरे करते हैं-ऐसा विश्वास रखकर, अनन्य भाव से श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिए। यदि कभी प्रभु भक्त की इच्छा पूरी न करें तो भी भक्त अनन्य भाव से उन्हें भजता रहे।

अन्याश्रय और असमर्पित इन दो महारोगों से यदि वैष्णव बचता है, तो उसे प्रभु का अनुभव होने में देर नहीं लगती। भगवदीयों के बीच रहकर भगवत्सेवा करने में, भगवत् -भजन करने में, भगवत्प्रसादी लेने में जो आनंद आता है, उसे भगवदीय ही जानते हैं, जिनको इसका अनुभव हुआ हो, वही जानता है।

श्रीकृष्ण में सर्वदेवों का वास है। यह बात स्वयं उन्होंने ही गीता में अर्जुन को विश्वरूप दर्शन करवाकर सिद्ध की है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण में समस्त देव, ऋषि, सर्वलोक और सर्ववस्तु देखी थी। इसका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण में सब कुछ है, इसलिए श्रीकृष्ण की ही भावपूर्वक सेवा करनी चाहिए। इसके साथ ही यदि सद्‌गुरु श्रीमहाप्रभुजी में किसी को दृढ़शरण भाव, आश्रयभाव होगा तो इस संसार-सागर से सरलता से तर जावेगा। गाय के बछड़े (गोवत्सपाद) के खुर से बने हुए छोटे से गड्ढे में जल भरा हुआ हो तो उसे जितनी सरलता से लाँघ जाते हैं, उतनी ही सरलता से भवसागर को पार कर सकेंगे। इसलिए अन्याश्रय पूरी तरह छोड़ दें। भगवान् का और महाप्रभुजी का अनन्य आश्रय रखें। यही हमारे कल्याण का या उद्धार का मार्ग है।

अनन्यता

'ईशो ह्यनन्यैव संतुष्यति' -ईश्वर अनन्य भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। श्री भगवान की कृपा दुर्लभ है। भगवान प्रसन्न हों, तब कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। प्रभु के भोग में जैसे किसी प्रकार की कमी नहीं रहती है, उसी प्रकार भक्त के भोग में भी कमी नहीं रहती है। इस कृपा के लिए -**"परं अनन्य दृष्ट्या भजनं कर्त्तव्यम्"** प्रभु को अनन्य भाव से भजना चाहिए।

माया से तरने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है- अनन्य भाव से भगवान की शरण में जाना। **'मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मेतांतरन्ति ते'।** भगवान गीताजी में कहते हैं कि जो मुझे ही प्रपन्न होता है, शरण में आता है, वही गुणमयी दुस्तर दैवी माया को भी तर जाता है। यहाँ एव पद के द्वारा भगवान ने एकमात्र शरण को ही साधन बताया है। उसी प्रकार अनन्य भाव से श्रीकृष्ण की शरण में जाना चाहिए, यह आज्ञा की है। इसी प्रकार से गीता के उपदेश के अन्त में **'मामेकं शरणं व्रज'** - एकमात्र मेरी शरण में आ। इस प्रकार आज्ञा करके, शरणागति में भी अनन्य भाव को अत्यन्त आवश्यक माना है।

अनन्य जीव, अनन्य भक्त वह होता है जिसे भगवान के सिवाय कोई अन्य साधन है ही नहीं - **"परलोकार्थ, भगवत्कृपार्थ, अन्यार्थ, भक्तिव्यतिरेकेण, भगवद्व्यतिरेकेण वा येषामन्य नास्ति ते अनन्या"** जिनको परलोक के लिए, भगवान की कृपा के लिए, अन्य उद्देश्य के लिए, भक्ति के अतिरिक्त या भगवान के अतिरिक्त कोई अन्य साधन है ही नहीं। वही अनन्य कहलाता है। भगवत् शास्त्र के अनुसार भगवदीय के लिए, भक्त के लिए भगवान ही सर्वरूप अर्थात् प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल ये सब भगवान ही हैं।

मनुष्य जीवन में अनेक प्रकार के दुःख तो आवेंगे ही। कभी दुःसंग के परिणाम से दुःख संभव है तो कभी लौकिक आवेश से दुःख संभव है। सत्संग के अभाव का दुःख भी वैष्णव के लिए महादुःख है। कभी मार्ग की स्थिति के विषय में दुःख होता है। इन सभी दुःखों के निवारण के लिए एकमात्र उपाय अनन्यतापूर्वक भजन ही है। अनन्य भाव से यदि श्री महाप्रभुजी के चरणों का आश्रय लिया जाए तथा उनके आश्रित भगवदीयों का संग किया जाए तो ऊपर वर्णित समस्त दुःख एवं उनके अतिरिक्त भी सारे अन्य दुःख क्षणमात्र में निवृत्ति हो जावेंगे।

भगवान गीताजी में कहते हैं कि, **अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥** जो लोग अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हैं, मेरी उत्तम प्रकार से उपासना करते हैं, ऐसे नित्य संयुक्त भक्तों के योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की रक्षा) का भार मुझ पर है। उनके योग-क्षेम की जिम्मेदारी मैं उठाता हूँ। भक्ति की दृढ़ता और उत्तमता, अनन्यता में ही है। स्वामी के प्रति सेवक की अनन्य भक्ति होना चाहिए और सेवक के प्रति स्वामी का अनन्य स्नेह होना चाहिए। एक बार किसी जीव को अपनाने पर स्वामी-सेवक का संबंध अटूट एवं अनन्य हो जाता है। 'शरण में

आये हुए का कभी श्री गुसांईजी त्याग नहीं करते हैं।' -यह सुनकर गुलाबदास ने श्री गुसांईजी के अंगीकार की परीक्षा करनी चाही। श्री गुसांईजी से दीक्षित होने के बाद परीक्षा करने के लिए भ्रष्ट जीवन जीने लगे। म्लेच्छों के साथ रहकर खाने-पीने लगे। वेश्या का संग करना, अभक्ष्य का भक्षण करना आदि कई प्रकार से वे दूषित हुए। सब लोग उन्हें गुलाबदास के बदले गुलाब खाँ कहने लगे। थोड़े दिनों के बाद गुसांईजी ने एक वैष्णव को उसके पास भेजकर कहलाया - "श्रीगुसांईजी तुझे याद करते हैं। उन्होंने मुझे तेरे पास भेजा है।" गुलाबदास ने तीन बार पूछा-"क्या गुसांईजी अभी भी मुझे याद करते हैं?" ऐसा कहकर उसने देह छोड़ दी।

अनन्य भक्ति -

भगवान कहते हैं, "**अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥** हे अर्जुन! जो दूसरों में चित्त न रखता हुआ निरंतर नित्य मेरा ही स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सुलभ हूँ।" भक्तिमार्ग में साधन-सम्पन्नता के स्थान पर भाव-सम्पन्नता का महत्त्व अधिक है। भगवान का अनन्य भाव से भजन करने वाले भक्त अकिंचन हों तो भी भगवान उन पर प्रसन्न होते हैं। जब श्रीगुसांईजी भाईला कोठारी के यहाँ रह रहे थे तब एक माँ-बेटी उनके दर्शन के लिए आती थीं। दोनों को दैवी जीव समझकर आपश्री ने उन्हें नाम-निवेदन करवाया और आज्ञा की, कि आप लोग भगवत् -सेवा करो। उन्होंने कहा-"राज! हमसे सेवा तो किस तरह होगी? हम लोग तो अकिंचन है।" श्री गुसांईजी ने कहा-"घर में दाल - रोटी तो बनाती हो? उस दाल-रोटी का भोग धराओ, लेकिन ठाकुरजी को घर में अवश्य पधराओ ।" बाई ने प्रार्थना की, 'महाराज ! मंगला में और उत्थापन में बंटा में रखने के लिए कहाँ से लाऊँ?' श्रीगुसांईजी ने कहा-"तेरे घर में बाजरी तो है? उसमें से एक-दो मुट्ठी रख देना।" बाई ने कहा-"वस्त्र कहाँ से लाऊँ?" तब आपश्री ने कहा-"तू साड़ी तो पहनती है? पहनने से पहले उसमें एक हाथ कपड़ा फाड़ लेना और उसके वस्त्र बना देना।" तब बाई को समझ में आया कि श्री ठाकुरजी की सेवा अकिंचन के लिए भी आसान है। तब श्री गुसांईजी ने उसे ठाकुरजी पधरा दिए। वह भगवदीया अत्यन्त स्नेहभाव से सेवा करने लगी। एक दिन श्री गुसांईजी उधर से जाते हुए उसके यहाँ पधारे और पूछा - "क्या समय है?" बाई ने कहा -"राज! उत्थापन भोग धर्यो है।" आपश्री ने वहाँ जाकर देखा तो श्रीठाकुरजी दोनों हाथों से बाज़री के दाने आरोग रहे थे। प्रभु का ऐसा अनुग्रह देखकर उनका हृदय भर आया।

बाद में प्रसाद लेते समय श्री गुसांईजी वैष्णवों से उस बाई के बारे में पूछा। वैष्णवों ने श्रीगुसांईजी से कहा-"हम लोगों का उसके साथ (प्रसाद लेने का) व्यवहार नहीं है।" तब श्री गुसांईजी ने कहा - "हमारा तो व्यवहार है।" इतना ही नहीं स्वयं ने उसके घर का बाजरी के दानों का प्रसाद लिया। फिर तो वैष्णवों ने भी माँग कर वह प्रसाद लिया। ऐसी सरलता और सहृदयता हो तो प्रभु उस भक्त के यहाँ, चाहे वह भक्त साधन-सम्पन्न न भी हो तो भी, प्रसन्नता से बिराजते हैं। जो नित्ययुक्त योगी हैं, अर्थात् सतत जो सेवा और स्मरण में तल्लीन रहते हैं, उनके लिए भगवान सर्वप्रकार से सुलभ हैं।

जा को मन लाग्यो गोपालसों, ताहि और कैसे भावै हो।
लेकर मीन दूध में राखो, जल बिन सचु नहीं पावै हो
ज्यों सूरा रण घूम चलत है पीर न काहू जनावै हो

ज्यों गूंगो गुर खाय रहत है, सुख स्वाद नहीं बतावै हो
जैसे सरिता मिली, सिन्धु में, उलट प्रवाह न आवै हो
जैसे 'सूर' कमल मुख निरखत, चित इत उत न डुलावै हो।

"**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**" अनन्य योग से भगवान में अस्खलित भक्ति ही सच्ची भक्ति है। भगवान में मन लगने के बाद भी यदि इधर-उधर मन भटकता हो तो जानना चाहिए कि वास्तव में मन भगवान में लगा ही नहीं। यदि लगा होता तो उसे अन्यत्र भटकने की क्या जरूरत रहती है? संसार में जल से दूध को सभी उत्तम मानते हैं, परन्तु मछली के लिए जो जल केवल जल न होकर उसका जीवन है। यदि मछली को दूध में रखना पड़े तो मछली तड़फकर मर जाएगी। उसके लिए तो जल ही जीवन है और दूध भी मृत्यु रूप है। ऐसे ही भगवान के अनन्य भक्तों के लिए भगवान और भगवान् के संबंधी ही सुखरूप हैं, शेष व्यर्थ है।

अनन्य भक्त अपनी भक्ति का गान नहीं करता। रणक्षेत्र में सूरमा पर वार हो तो सूरमा को अधिक जोश आता है, वह अपने घावों और पीड़ा को महत्त्व ही नहीं देता। भक्त की विरह, पीड़ा अव्यक्त है, जो कि अनिर्वचनीय है। जिस प्रकार विरह-पीड़ा अनिवर्चनीय है, उसी प्रकार संयोग-सुख भी अनिर्वचनीय है। गूंगे को गुड़ खिलाकर पूछने पर कि स्वाद कैसा है? तो वह क्या कहेगा? गूंगा व्यक्ति स्वाद का आनंद ले सकता है, किन्तु उसका वर्णन करने के लिए उसके पास शब्द नहीं होते। भगवदीय की गति भगवान की तरफ ही होती है, जगत की कोई शक्ति इस गति को न तो रोक सकती है, न पलटा सकती। नदी की गति समुद्र की तरफ ही सहज होती है। उसी प्रकार भक्त की चित्तवृत्ति सहज ही अनन्य भाव से भगवान की ओर ही होती है। अनन्य भक्ति का सुन्दर उदाहरण सूर्य और कमल की प्रीति है। सूर्य उदय होने पर कमल खिल उठता है। सूर्य के आने का ऐसा प्रभाव कमल पर होता है। ऐसा ही अनन्य भाव-स्नेह भक्तों का भगवान पर होता है और यही भाव भक्ति का प्राण है। भाव भक्ति की आत्मा है, तो अनन्यता उसका प्राण। तीन धर्मों का भगवदीय को कभी त्याग नहीं करना चाहिए - (१) स्वधर्माचरण (२) विधर्म से निवर्तन (३) इन्द्रिय रूपी अश्व का सर्वथा निग्रह अर्थात् धर्म का शक्ति-अनुसार आचरण करना, धर्म के विपरीत आचरण का सर्वथा त्याग करना और संयमपूर्ण जीवन जीना। यह वैष्णवों की आचार संहिता है। भरी सभा में भी वैष्णव को भगवान के गुणों एवं भगवान के नामों का उच्चारण लज्जा छोड़कर करते रहना चाहिए। आसुरी जीवों के पास भी किसी प्रकार के परिणाम की चिन्ता किए बिना, किसी भी प्रकार का भय रखे बिना प्रभु का भजन करते रहना चाहिए। भगवान की निंदा न तो सुननी चाहिए और न करनी चाहिए। भगवान के भक्त को माला, तिलक आदि भी अवश्य धारण करना चाहिए। भगवत् -भजनपूर्वक एकादशी, जयंति के व्रत-उपवास अवश्य करना चाहिए। दशमी से विद्ध एकादशी न करें। अगले दिन ५५ घड़ी दशमी हो तो एकादशी दशमी विद्धा कहलाती है।

वैष्णव को वृथा आलाप (बोलना), वृथा क्रिया और वृथा ध्यान (चिंतन) का भी त्याग करना चाहिए। यदि वाणी, क्रिया और मन की प्रवृत्ति भगवान-संबंधी न हो तो वह निष्फल है, वृथा है, ऐसा समझकर उसे रोकना चाहिए। जल में अग्नि तथा अन्य देवताओं का निवास है इसलिए जल में मल-मूत्र त्याग न करें, थूकें नहीं, नग्न स्नान भी न करें।

स्वाध्याय ३४

जीव-स्वभाव

स्वभावविजयः शौर्यम् – मनुष्य की सच्ची शूरवीरता स्वयं के स्वभाव को जीतने में होती है।

'बालबोध' ग्रन्थ में श्री वल्लभाचार्य ने जीवों को दुष्ट, दोषयुक्त कहा है – जीवाः स्वभावतो दुष्टाः। जीव के स्वभाव में ही दोष है। अविद्या, काम और कर्म से उत्पन्न वासना, ये जीव के दोष हैं। जीव में वासनाएँ रहती हैं, इसलिए जीव स्वभाव से दोषयुक्त है, दुष्ट है। जीव अपना स्वभाव बदले, उसके दोष दूर हों, तभी उसका उद्धार हुआ, यह कहा जा सकता है।

जीव स्वभाव से दुष्ट भले ही हो किन्तु स्वरूप से दुष्ट नहीं होता है। स्वरूप से तो जीव भगवत् -अंश है। स्वयं भगवान गीताजी में जीव को अपना सनातन अंश कहते हैं। दास्यभाव धारण करके प्रभु को भजे तो जीव निर्दोष हो जाता है।

जो बहिर्मुख हैं, विषयाभिमुख हैं, इन्द्रियों के सन्मुख हैं, वे भगवान के सन्मुख नहीं हो सकते। जैसे नाव में एक छिद्र हो जाय, उसे यदि भरा न जा सके तो वह नाव को डुबो देगा। इसी प्रकार एक दोष भी दृढ़ता से जम गया हो तो वही सर्वनाश कर देता है। अधीरता जीव के स्वभाव में ही है।

स्वकीयानामैहिकं यदथवा पारलौकिकम् ।
अकरोत् कुरुते कर्ता प्रभुरेव न संशयः ।।

भूतकाल में स्वयं भक्तों के इस लोक के कार्य अथवा परलोक के सारे कार्य भगवान ने ही किये हैं। भविष्य में भी भगवान ही करेंगे। इसमें कोई शंका नहीं है। इतना होने पर भी जीव की बुद्धि दूषित होने से, अपने अज्ञान के कारण, स्वयं के साधनों के अहंकार में डूबे रहते हैं। जीव कृतघ्न होने से, प्रभु के कार्यों को नहीं जानता है-**क्वदोषराशिर्जीवोऽयं क्व हरिर्गुणवारिधिः** कहाँ तो अनेक दोषयुक्त जीव और कहाँ गुणसागर श्री हरि?

स्वभाव के वश होकर रहने में सुख नहीं है। स्वभाव को वश करने में ही सुख है। ''मन के मते न चालिए, मन के मते अनेक। जो मन पर असवार है, सो साधु कोई एक।। मन की दौड़ के अनुसार, मन के मत के अनुसार नहीं चलना चाहिए। मन के मत तो बहुत होंगे। मन तो चाहे जो माँगता है। जहाँ अच्छा लगे वहाँ, कहीं भी जाता है। मनुष्य घोड़े पर सवार होता है, यह उसकी शोभा है। इस तरह मन पर अपना आसन होना चाहिए। मन पर अपना अधिकार होना चाहिए।

शोक-सांसारिक जीवन में दुःख देने वाली घटनाएँ तो होती ही है। ऐसे प्रसंग में वैष्णव में जितना विवेक और धैर्य होगा, उतना ही वह शोक से बचेगा।

भगवत् -कृति संबंधी जानकारी प्रत्येक के जीवन में होनी चाहिए। वैष्णव को सर्वप्रथम यह

निश्चय कर लेना चाहिए कि '**सर्वदा हि भगवान् भक्तानामेव कल्याणमिष्टे**' भगवान हमेशा भक्त का ही कल्याण करने की इच्छा करते हैं। भगवान कभी भी उसका अनिष्ट करेंगे - यह आशंका रहनी ही नहीं चाहिए। शोक-निवृत्ति के लिए वैष्णव को दूसरा तत्त्व यह समझना चाहिए कि भगवान ही सब कुछ करते हैं और सबको नियंत्रण में रखते हैं। वे किसी के लिए इष्ट रूप और किसी के लिए अनिष्ट रूप नहीं हैं, अर्थात् विषम नहीं हैं। भगवान की प्रत्येक कृति में स्वार्थ अथवा परमार्थ इन दोनों में से एक अथवा दोनों तत्त्व रहते हैं। **स स्वार्थं परार्थं वा करोति।** या तो वे अपने लिए करते हैं या दूसरों के लिए करते हैं। जब वे अपने लिए कृति करते हैं, तो उससे लीला सिद्ध होती है और जब दूसरों के लिए कृति करते हैं तो उसमें दूसरों का हित सिद्ध होता है।

भगवान तो सदा जीव का हित ही करते हैं और जीव शोक करता है। यह तो सर्वथा अनुचित या निषिद्ध है। जीव को शोक करना ही नहीं चाहिए। ऐसी स्थिति में यदि जीव शोक करता है तो प्रभु अप्रसन्न होते हैं। शोक का कारण जान लेने पर जीव के स्वभाव में से बारंबार शोकातुर हो जाने की दुःखद परम्पराओं का अंत हो जाता है। अज्ञान और आसक्ति ही मनुष्य को शोक के समुद्र में डुबो देती है - **तृष्णा-अग्नि-प्रलय-क्रिया तृपत न कबहु होय।**

सुर नर मुनि अरु रंक सब, भस्म करत है सोय॥

तृष्णा रूपी अग्नि शोक का कारण बनती है। तृष्णा की आग मानो प्रलय की अग्नि है, जो कभी तृप्त होने वाली नहीं है। इसकी ज्वाला ने सबको जलाया है। बड़े-बड़ों के सुख को राख कर दिया है। देव-मानव, राजा-रंक, संसारी-संन्यासी आदि सबको इसने सताया है, नचाया है।

मनुष्य के स्वभाव में संतोष आवे तो समझना कि स्वर्ग उतर आया है। विवेक उतरे तो समझो कि वैकुंठ उतर आया और भक्ति आ जाय तो मानो कि भगवान का ही अवतार हुआ है।

मोह -

तृषना तो है डाकिनी, है जीवन का काल।
और और निसदिन चहै, जीवन करे बेहाल॥

तृष्णा तो एक पिशाचिनी, डाकिनी है। तृष्णा जीवन का अंत कर देती है। वह रात दिन और अधिक से अधिक माँगती ही रहती है। मनुष्य के जीवन को बेहाल कर देने वाली तृष्णा नष्ट होना ही चाहिए। माया के द्वारा जिनका चित्त हर लिया जाता है, वे जीव ही तुच्छ कामना के उद्देश्य से भगवान का भजन करते हैं। जिस प्रकार बालक मुट्ठीभर खाने की वस्तु के लालच में हाथ का बहुत सा स्वर्ण दे देता है, उसी प्रकार माया से मोहित जीव क्षणिक सुख देने वाली वस्तुओं के लिए भगवान के श्री चरणों का भजन करता है। स्वयं का जिसमें अनिष्ट हो, ऐसे संसार में बँध जाना जीव का सहज स्वभाव है। उसमें फँस जाने के बाद संसार के अनेक क्लेशों का अनुभव करते हुए भी निज स्वभाव के कारण जीव उस अनिष्ट को टाल नहीं सकता। इस स्थिति में करुणावश प्रभु ही अपने प्रयत्न द्वारा, संसार को भक्त से अथवा भक्त को संसार से दूर कर देते हैं।

मोहाविष्ट जीव 'यह उचित है या अनुचित' ऐसा निर्णय स्वयं नहीं कर सकता है। उसकी बुद्धि

मलीन हो जाने से वह अविवेकी जीव तो स्वभाववश कर्म करता ही जाता है। जब प्रभु कृपा करते हैं, तब जीव की इच्छा हो या न हो, तो भी उसके मोह को दूर करने के लिए सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान प्रभु अपने प्रमेय बल का उपयोग करके, उस जीव को कल्याण मार्ग की ओर ले जाते हैं। जीव का सामर्थ्य है ही कितना? स्वरूप तो वह अणुमात्र है। वह प्रभु की प्रबल अविद्या से घिरा हुआ भी है। उसकी बुद्धि भ्रमित है। अतः दुःखरूप संसार को वह सुख रूप मानता है। जिसमें प्रवृत्त होना चाहिए, उससे निवृत्त रहता है। भगवान् के चरणों का आश्रय न लेने की स्थिति में जीव अनंत जन्मों तक मोहवश संसार चक्र के चक्कर लगाया ही करता है, किन्तु भगवदाश्रित भक्त की बात अलग है। कदाचित् उसकी बुद्धि में मोह के क्षण आ भी जावें, तब भी प्रभु उसकी रक्षा करते हैं। जिस प्रकार कोई बालक सर्प को हाथ में लेकर उससे खेलने की इच्छा करता है, तो भी उसके माता-पिता उसे सर्प से खेलने नहीं देते, वे उसे सर्प से दूर कर देंगे, इसी प्रकार संसार के मोह से प्रभावित होने वाले भक्त के हित का भगवान स्वयं विचार करते हैं

भय-अभय की इच्छा करने वाले भक्त को भगवान का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए। जीव अंश है। अल्प सामर्थ्यवान है। काल, कर्म और स्वभाव के बल के आगे वह प्रायः पराभव को प्राप्त होता है। माया की शक्ति अति प्रचंड है। प्रहलादजी ने नृसिंह भगवान की स्तुति में गाया कि आपका स्वरूप चाहे भयानक लगता है, परन्तु मुझे भय नहीं है। मुझे तो आपकी सुन्दर, मोहक माया का, संसार रूपी चक्की में पीसे जाने का, भय सताता है। प्रभु भयानक लगें तो भी भयानक नहीं हैं। माया रमणीय लगती है तो भी वह रमणीय नहीं है।

काम-क्रोध-लोभ-गीता में प्रभु ने काम, क्रोध और लोभ को नरक के तीन द्वार कहा है। नरक अर्थात् महादुःख। भक्तिमार्ग के उपासकों को इस महादुःख के द्वार से बचना हो तो काम-क्रोध-लोभ पर विजय प्राप्त करें। काम महाभक्षक राक्षस है। कितने भी भोग भोगने पर भी उसे तृप्ति नहीं होती। अग्नि में ज्यों-ज्यों अधिक से अधिक ईंधन डालें, त्यों-त्यों अग्नि अधिक भड़कती है। इसी प्रकार भोग से कभी काम तृप्त नहीं होता। क्रोध महापापी असुर है। काम से थोड़ी देर तो अल्प सुख का अनुभव होता है, किन्तु जिसे क्रोध होता है और जिस पर क्रोध किया जाता है उन दोनों को क्रोध जलाता है।

काम और क्रोध इन दोनों से लोभ अधिक पीड़ा देने वाला दोष है। क्रोध स्थायी रूप से दुःख नहीं देता। काम की भी अपनी अवस्था है। वह विशेष उम्र में तथा विशेष संयोगों में ही जलाता है, जबकि लोभ की कोई सीमा नहीं, कोई मर्यादा नहीं।

काम रूपी रावण को भगवान श्रीराम ने मारा। क्रोध रूपी शिशुपाल को भगवान श्रीकृष्ण ने मारा, परन्तु लोभ के दो रूप हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु को (हिरण्याक्ष-भोग, हरिण्यकशिपु-मोह) को मारने के लिए भगवान को भी दो अलग-अलग रूप श्री वराह और श्री नृसिंह अवतार लेने पड़े। जन्म से मृत्यु पर्यन्त लोभ जीवित रहता है।

काम को वैराग्य से, क्रोध को सहनशीलता से और लोभ को सन्तोष से नष्ट करना चाहिए। ये असुर मरेंगे तो ही सुखपूर्वक भगवान का भजन हो सकता है। जीव स्वभाव से ही दुष्ट है, यह बात

सत्य है, परन्तु यदि उद्धारक उसके दोष ही देखा करें तो बेचारे जीव का क्या होगा? इस सन्दर्भ में श्री महाप्रभुजी के सेवक भगवानदास सांचोरा की कथा उल्लेखनीय है। श्री गुसांईजी ने भगवानदास सांचोरा को श्रीनाथजी के भीतरिया की सेवा प्रदान की थी। वे ठाकुरजी के बाल भोग की सामग्री सिद्ध करते थे। एक दिन भगवानदास ने सामग्री सिद्ध की तो वह जल गई। उन्होंने वह जली हुई सामग्री ही प्रभु को भोग में पधरा दी। जब श्री गुसांईजी भोग सराने के लिए पधारे, तब उन्होंने यह जली हुई सामग्री देखी। तब श्री गुसांईजी भगवानदास पर नाराज हुए। उन्होंने उसे सेवा में से बाहर कर दिया। भगवानदास कोने में बैठकर रोने लगे कि अब मैं क्या करूँ? बाद में वे गोविन्द कुंड गये और श्री अच्युतदास से मिले। उन्होंने रोते हुए सारा प्रसंग अच्युतदास को सुनाया। इस पर अच्युतदास ने कहा – "सामग्री सावधानी से करना चाहिए। अब आप कोई चिन्ता न करें। श्री गुसांईजी तो परम दयालु हैं। फिर से तुम्हें सेवा में रख लेंगे। तुम गोविंद कुंड पर जाकर बैठो।" गोविन्द कुंड पर मध्याह्न संध्या करने के लिए श्री गुसांईजी नित्य पधारते थे। वहीं श्री अच्युतदास, जो अति वृद्ध थे और मानसी सेवा में लगे हुए थे, उन्हें दर्शन देने भी पधारते थे। जब श्री गुसांईजी अच्युतदास को दर्शन देने के लिए पधारे तो उन्होंने देखा कि अच्युतदास के नेत्रों से आँसू झर रहे थे। श्री गुसांईजी ने उनसे पूछा, "तुम्हें ऐसा क्या दुःख है कि रो रहे हो?" अच्युतदास ने जवाब दिया – "महाराज ! श्रीआचार्यजी ने जीव आपको सौंपे हैं। यदि आप भी जीव के दोष देखने लगे तो जीव का उद्धार कैसे होगा? आपको श्री महाप्रभुजी ने दैवी जीव सौंपे हैं। आपको तो कई जीवों को अंगीकार करना है। जीव तो दोष से भरे हुए ही हैं। यदि आप ही दोष देखने लगे तो जीवों का क्या होगा?"

श्री गुसांईजी ने अच्युतदास से कहा–"आप चिन्ता न करें। मैंने भगवानदास को शिक्षा दी है, बोधपाठ दिया है, उसे निकाला नहीं है। जीव के दोष न देखने की यह बात श्री आचार्यजी ने आपके द्वारा मुझे कही है, इसलिए आज के बाद हम किसी वैष्णव से न तो नाराज होंगे और न वैष्णव पर खीजेंगे। वे भगवानदास का हाथ स्नेहपूर्वक पकड़कर श्रीनाथजी के मन्दिर में ले गये । इस प्रसंग में जीव के स्वभाव और भगवान के स्वभाव का कैसा सुन्दर निरूपण है। यही सदैव ध्यान मे रखना चाहिए।

जीव को माँगना नहीं आता है। कुंभनदास की पत्नी ने माँगा था – "महाराज! आप महापुरुष हैं। मुझे लड़का नहीं है। आप कृपा करके बेटा देवें।" श्री आचार्यजी ने कृपा करके प्रसन्न होकर कहा–"तुझे सात बेटे होंगे।" स्त्री मन में बहुत प्रसन्न हुई। कुंभनदास ने पत्नी से कहा–"यह तुमने क्या माँगा? श्रीआचार्यजी प्रसन्न हुए थे तो श्रीठाकुरजी माँगती। वे तुझे ठाकुरजी देते।" स्त्री ने उत्तर दिया–"मुझे जो चाहिए था, वह मैंने माँगा और आपको जो चाहिए वह आप माँग लो।"

वास्तव में जीव को माँगना नहीं आता। बद्रीनारायण की यात्रा के समय कृष्णदास मेघन ने गिरती हुई शिला रोकी। महप्रभुजी ने उसकी परीक्षा करने के लिए कहा–"तू माँग। क्या माँगता है?" इस पर कृष्णदास ने मार्ग का सिद्धान्त हृदयंगम होने के लिए कहा, मुखरता दोष की निवृत्ति और अपने गुरु को यहाँ पधारने के और उसे शरण में लेने के लिए विनती की। श्री आचार्यजी ने तीसरी वस्तु नहीं दी।

उत्तमश्लोकदास श्री गोवर्धननाथजी की रसोई करते थे, सेवकों को प्रसाद ग्रहण करवाते समय अपने पैसे से घी मँगवा कर परोसते थे। श्री गुसांईजी ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा- "सेवक सेवा करते हैं, इसमें उन्हें बहुत मेहनत होती है। पहाड़ पर चढ़ते-उतरते थक जाते हैं। सेवकों के परिश्रम को देखकर, श्री ठाकुरजी को भी श्रम होता है। अधिक घी लेने से शरीर में ताकत आती है, जिससे सेवक अच्छे तरीके से सेवा करता है।" श्री गुसांईजी इस बात से प्रसन्न होकर कहने लगे- "उत्तमश्लोकदास! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ मुझसे जो माँगना हो, माँगो।" उत्तमदास ने अद्भुत वस्तु माँगी। उसने कहा- "महाराज! मैं आपके ऊपर कभी भी अप्रसन्न न होऊँ। मैं यही माँगता हूँ।" श्री गुसांईजी ने यह बात स्वीकार की। उत्तमश्लोकदासजी की बात का यह मर्म था कि इस समय गुसांईजी प्रसन्न हैं, लेकिन किसी समय सेवा में गलती हो गई तो वे मुझ पर अप्रसन्न होंगे। उस समय जीव-स्वभाव के कारण मेरा मन न बिगड़े, मेरी बुद्धि में दोष उत्पन्न न हो, यह बात महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए उत्तमश्लोकदास ने समझदारी से अद्भुत वस्तु माँगी थी।

जीव का स्वभाव है कि वह जल्दी ही दूसरों के दोष देखता है और दूसरे के दोष जल्दी स्वीकार भी कर लेता है। रामानन्द पण्डित ने अपनी स्त्री से कहा-"जल्दी गोबर उठा लो नहीं तो वैष्णव गोबर ले जावेंगे।" श्री आचार्यजी के प्राणप्रिय वैष्णवों के लिए ऐसी हीन भावना रखना जीव का स्वभावगत दोष ही है। वैष्णव को ऐसे दोषों के प्रति सावधान रहना चाहिए।

जीव में तो अनेक दोष समाएँ हुए ही हैं, लेकिन इतना आश्वासन उसे जरूर है कि प्रभु उसके दोषों की तरफ देखते नहीं है। भगवत् -कृपा जीव के गुणों का विचार करने से बढ़ती नहीं है और न उसके दोषों का विचार करने से घटती है। कृपा करना तो भगवान का स्वभाव है। वे जीव के गुण-दोष का विचार न करके सहजरूप से कृपा करते हैं।

हरि हौं सब पतितन को नायक।
को करि सके बराबरी मेरी इते मान के लायक।।
जो तुम अजामिल सों कीनी सो पाती लिख पाऊँ।
होय विश्वास भलो जिय अपने औरों पतित बुलाऊँ।।
सिमिट जहाँ तहाँ ते सब कोऊ आय जुरे इक ढौर।
अबके इतने आनि मिलाऊँ फैर दूसरी ओर।।
होडा होडी मन हुलसे करै पाप भरि पेट।
सबहिन ले पायन तर परिहौं यही हमारी भेंट।।
ऐसी केतिक बनाऊँ प्राणपति समरिन व्है भयो आडो।
अबकी बार निबेर लेहु प्रभु 'सूर' पतितन को ठांडो।।

दास्य

जीवाः स्वभावतो दासाः जीव स्वभाव से (भगवान का) दास है। **''ये केचन जीवभावं प्राप्तास्तेषां दास्यं परमो धर्मः''** -जिसने भी जीव भाव प्राप्त किया है, दास्य उसका परमधर्म है। ब्रह्मभाव होने से पूर्व सब में जीवभाव ही होता है। प्रभु निज-इच्छा से जीव का दासपना सिद्ध करते हैं, उस निजेच्छा से ही प्रभु जीव को दास रूप में स्वीकारते भी हैं।

सहजदासत्व - जीव का दासत्व सहज है। जीव चाहे देव, असुर या मनुष्य हो, जीव होने से, उनका भगवान के साथ अंशांशी भाव तो सहज ही है। जीव जो हो, जहाँ हो, वह सर्वसमय और सारे स्थानों पर भगवान का अंश तो रहता ही है। यह अंशांशी सम्बन्ध समस्त जीवों का भगवान के साथ सनातन संबंध है, इसलिए प्रत्येक जीव भगवान का सहज रूप में दास है। यदि जीव दास बनकर रहता है तो वह स्वधर्मस्थ है। यदि वह दासत्व भूलता है तो वह स्वधर्म से भ्रष्ट है। यह सुनिश्चित है कि जीव सहजदास है। श्री महाप्रभुजी ने प्रत्येक वैष्णव को यह बात समझाने का प्रयास किया है। वैष्णव नामों में 'दास' शब्द इसी कारण से लगाया जाता है। गोविन्द स्वामी पहले आंती नाम के गाँव में रहते थे। वहाँ उनके बहुत से शिष्य, सेवक थे। इस कारण वे गोविन्द 'स्वामी' कहलाते थे। उनके वैष्णव बन जाने के बाद कुछ सेवकों ने गोकुल आकर (उन्हें पहचान न सकने के कारण) उनसे ही पूछा -''आप गोविन्द स्वामी हैं?'' तब उन्होंने कहा - ''उन्हें मरे बहुत समय हो गया।'' उनका तात्पर्य था कि उनका स्वामीपना मर गया, अब तो वे 'दास' हैं।

प्रभु लौकिक स्वामी नहीं हैं। 'अंतःकरणप्रबोध' ग्रन्थ में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि **'लौकिक प्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन'** संसार में स्वामी अथवा प्रभु कहलाने वाले संसारी, प्राकृत जीव होते हैं। ये सेवक के दुःख से बेखबर रहते हैं। ये सेवक की उपेक्षा कर सकते हैं। परन्तु पुष्टिमार्गीय समर्पित जीव के प्रभु इन लौकिक प्रभु के समान नहीं हैं। उनके प्रभु श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण अर्थात् सदानंद फलरूप प्रभु। इन जीवों का अंगीकार लौकिक प्रभु की तरह अनित्य नहीं होता है। यह अंगीकार नित्य है, शाश्वत है। अंगीकृत जीव के अपराध-समूहों को क्षमा कर देना यह प्रभु का विनोद है, अर्थात् इसमें उन्हें किसी प्रकार का श्रम नहीं है। अतः प्रभु अंगीकृत जीवों के अपराध-समूहों को क्षमा करते ही रहते हैं।

दासत्व की कामना

माँगना तो उनका दासत्व माँगना। **दासभावादृतो नान्यत् काम्यं भवति कस्यचित्** किसी भी जीव के लिए दास भाव के अलावा कोई भी इच्छा उचित नहीं है।

पुष्टि भक्त वृत्रासुर की कामना में तो पूर्णतः दैन्य है -''**दासानुदासो भवितास्मि भूयः**'' प्रभु मुझे जन्मजन्मान्तर तक आपके दासो का भी दास बनावें।'' यह दासत्व एक जन्म के लिए नहीं। भगवदीय तो मुक्ति माँगते ही नहीं। प्रायः शरण में जाने वाले जीव तो आर्त होते हैं। जन्म-जन्मान्तर के संसार-दुःख से पीड़ित होते हैं, इसीलिए शरण में जाते हैं। परन्तु पुष्टिभक्त की भूमिका ही अलग है। ये तो भगवान और भगवदीयों के दासत्व में ही सारा सुख अनुभव करते हैं।

हरि के दास होना या हरि के दासानुदास होना पुरुषार्थ रूप भी है। इस दासत्व से ही भक्त के त्रिविध तापों की निवृत्ति होती है। आधिभौतिक (देह सम्बन्धी) आध्यात्मिक (अंतःकरण सम्बन्धी) आधिदैविक (यम, इन्द्र आदि देव संबंधी) ऐसे त्रिविध तापों को दूर करने वाले भगवान हैं। ''**तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः**''। जीव को बंधन करने वाली, क्लेश देने वाली, अविद्या, अहंता-ममता रूप माया को दूर करने वाले (मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते) भगवान हैं। इसलिए वे 'हरि' कहलाते हैं। श्री दयाराम ने गाया है -

''शुं करूं श्रीजी! सायुज्य पामी?
एकता मां तमो ना रहो स्वामी, मारे दासपणामां शी खामी?
व्रज व्हालुं रे वैकुंठ नहीं आवुं.... ''

दासत्व में आनंद है। इसीलिए दास को मुक्ति की कामना नहीं रहती। ज्ञान द्वारा मुक्ति मिलेगी। ज्ञान तो भगवान का स्वरूपगत धर्म है। धर्म से धर्मी का आश्रय उत्तम है। एकता में तुम न रहोगे स्वामी! मुक्ति में स्वामी-सेवक का भेद नष्ट हो जाता है। जीव और ब्रह्म की एकता अर्थात् सायुज्य, परन्तु भक्तों को ऐसा सायुज्य अच्छा नहीं लगता। इसलिए सेव्य-सेवक का भेद बना रहे इसके लिए भक्त 'अहम्' को संभालकर रखते हैं। प्रभु में लीन नहीं होने देते। यह अहम् अभिमान न हो जाय इसके लिए उसके आगे दास भाव का कवच लगा रखते हैं। भक्त अपने स्वरूप के संबंध में कोई विचार नहीं करता। उसके 'दासोहं' में ही सब कुछ समाविष्ट हो जाता है। इसी में सारी कृतार्थता आ जाती है।

फलात्मक दासत्व-दासत्व का सुख इतना आनंददायी है कि भक्त को उसे छोड़ना अच्छा नहीं लगता। भले ही इसके लिए सायुज्य का सुख छोड़ना पड़े।

दास्यभाव-प्रधान सेवा भक्ति में अंबरीष राजा के रहने और करने का ढंग रहनी और करनी दोनों ही ध्यान देने योग्य है। सर्व इन्द्रियों एवं सारी सम्पत्ति का भगवदर्थ विनियोग करने में इन्द्रियों और विषयों की सार्थकता है। परम भगवदीय राजा अंबरीष ने -''स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः.... मन का प्रभु के चरणों में, वाणी का हरि गुणगान में, हाथ मन्दिर की स्वच्छता के लिए, कान को प्रभु की कथा श्रवण करने के लिए, नेत्र भगवान के स्वरूप दर्शन के लिए, स्वयं के अंग का भगवत् -भक्तों के अंग स्पर्श करने के लिए, नासिका का तुलसी प्रसादी की गन्ध लेने के लिए, चरण को मन्दिर जाने के लिए और मस्तक को प्रभु चरणकमल में वंदन करने के लिए विनियोग करते थे। यही उनकी देह-इन्द्रियों की सार्थकता थी।

हरि की दासता सर्व पुरुषार्थरूपा है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सब पुरुषार्थ हरिदास होने में या हरिदासानुदास होने में समा जाते हैं।

(१) **धर्माधिकार रूप दास्य** -दास्य भाव युक्त भगवत् -स्मरण होना मन की धर्मनिष्ठा है। भगवान का गुणगान, दास्य भाव सहित भगवद् गुणों को गाया जाय, यह वाणी की धर्मनिष्ठा है और दास्य भावपूर्वक भगवत् -कार्य, सेवा-परिचर्या करना काया की धर्मनिष्ठा है। इन तीनों में सेवारूप धर्मनिष्ठा महान् है, क्योंकि इसमें स्वार्थ थोड़ा भी नहीं है। मन से भगवान का स्मरण करने में जीव को स्वमुख का किंचित् विचार रहता है। प्रभु का गुणगान करने में भी अपने लिए परमानंद का अनुभव होता है। भगवान् का स्मरण और गुणगान भी दास्य धर्म है, किन्तु इन दो धर्मों में स्वसुख का विचार मुख्य है, जबकि सेवा में तो स्वामी के सुख का विचार ही होता है-**सेवा तु यथा प्रभुसुखं भवति तथा क्रियते न तु, तत्राणुमात्रमपि स्वार्थपरत्वम्।** सेवाधर्म में सेवक अपने सुख का अणुमात्र विचार भी नहीं करता, इसलिए दास्य उत्तम धर्म-पुरुषार्थ है।

(२) **अर्थाधिकार रूप दास्य**-ब्रजभक्तों ने कहा था - **तन्नः प्रसीद व्रजिनार्दन तेघ्रिमूलं, प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः** भगवान ही भक्तों का अर्थ पुरुषार्थ है। भक्त कहते हैं कि, इस लोक और परलोक के सुख की इच्छा, भय और घर का त्याग करके श्रीकृष्ण के चरणारविन्द ही हमारी सम्पदा हैं, हमारा सर्वस्व है, ऐसा हम मानते हैं। आपकी प्राप्ति हमारी सम्पन्नता है और आपकी अप्राप्ति हमारी अकिंचनता है'' अतः भगवान के चरणों का दास होना अर्थ पुरुषार्थ है। 'तद्वारा पुरुषाणां य भविष्यति न चान्यथा।' ये दास्यरूप समृद्धि भगवदीयों का (गोपीजनों का) अनुसरण करके प्राप्त हो सकती है। (दास्य भाव से) गोपीजनों के द्वारा बताई हुई सेवा-रीति का अनुसरण करने से ही यह किसी को प्राप्त हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं अर्थात् भगवदीयों को भगवान की दास्य रूपी जो संपदा मिलती है, वह भगवदीयों का दास होने से ही मिल सकती है। भगवदीयों के चरणों में बैठने से, उनकी सेवा-टहल करने से, उनकी भक्ति-सेवा-स्मरण जीवन में उतारने से, उनका दास बनने से यह संभव है। भगवदीयों के प्रति अपने हृदय में दास भाव रखें तो सच्ची वैष्णवता सिद्ध होती है।

(३) **काम अधिकाररूप दास्य**-रासोत्सुक ब्रजभक्तों ने यह गाया कि, ''तत्सुन्दरस्मित निरीक्षण तीव्र कामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्'' हे दुःखहर्ता! आपके चरणों की सेवा की आशा करके हम सभी गोपीजन अपने पति, पुत्र आदि सहित गृह का त्याग करके आपके चरणकमल के मूल में आयी हैं। इसलिए हे पुरुषभूषण! आपके सुन्दर, मधुर स्मित देखकर उत्पन्न दुःसह काम से तप्त मन वाली हम हैं। हे प्रभु! हमारे ऊपर प्रसन्न होइए और हमें अपने दास्यभाव का दान दीजिए। कामाधिकार रूप दास्यभाव की कामना ब्रजभक्तों ने ही की है। अतः वर्तमान जीव को भी ब्रजभक्तों के दास होने से ही ब्रजभक्तों की कृपा से ही यह दास्य भाव सिद्ध हो सकता है; अन्यथा कदापि नहीं।

गावत शिव, शारद मुनि नारद, कमलकोशवासी न चखायो
यद्यपि रमा रहत चरननतर निगमन अगम अगाध बतायो
तरनीतनया तट बंसीवट निकट, वृन्दाविपिन वीथिन बहायो
सो रस रसिक 'दास परमानन्द' वृषभानु सुता कुच बीच बसायो

पुरुषभूषण रूप श्री हरि में जो कामभावात्मक दास्य रूप परमानंद रस है, उसका वर्णन तो

शिव, सरस्वती, नारदादि सनकादि मुनि और ब्रह्मा जैसे देवाधिदेव करते हैं। परन्तु यह रस उन्हें चखने के लिए नहीं मिलता। भगवान के चरणों का सतत आश्रय करके रहने वाली लक्ष्मीजी भी इस आनंद का स्वाद नहीं जानती है। वेद भी इस रस को अगम और अगाध कहते हैं। वह रस, वह आनंद प्रभु ने वृन्दावन के कुंज-निकुंजों में बहाया है। वह भगवदीयों के हृदय में ही निगूढ़ रस है, इसलिए भक्तों के दास को ही यह मिलता है, अन्य को नहीं।

(४) मोक्ष अधिकार रूप दास्य-"पुष्टिमार्गे हि मोक्षो भजनानंदानुभवः" वेणु गीत में श्री गोपीजनों ने गाया है -"इन्द्रियवालों के लिए कृष्ण के मुखारविन्द के दर्शन करना ही परमफल है। हम श्रुतिरूपा गोपीजन इस संबंध में प्रमाणरूप है। जिस मोक्ष को सब परमफल मानते हैं, वह परमफल नहीं है। पुष्टि मार्ग में तो निरंतर- 'संयोग-विप्रयोगात्मक रूप में सर्वथा-सर्वदा भजनानंद का अनुभव करना ही मोक्ष है। इसका अनुभव सायुज्य मुक्ति पाया हुआ जीव कभी नहीं कर सकता। यह अनुभव तो शरीरस्थ जीव अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण और अंतःकरणधारी जीव ही कर सकते हैं। (यह अनुभव निराकार, ब्रह्मानंद के अनुभव जैसा नहीं है) सर्वेन्द्रिय से भगवत् -भजन का (सेवा का) आनंद का अनुभव भगवान के दास के लिए ही संभव है। 'वक्षः श्रियैकरमणं च भवाय दास्यः' गोपियों ने दास भाव की ही कामना की है और दास भाव की प्रशंसा की है। पुष्टिमुक्ति का सुख दास या दासानुदास को ही मिलता है।

जग में सोई जीव बड़भागी।
श्री वल्लभ की शरण आयके, हरि की सेवा माँगी।।
श्री भागवत रस-पान करत नित, सतसंगत अनुरागी।
राखत दया सबै जीवन पर, लोक वासना त्यागी।
और बात मन में नहीं आवै, हरिसुं लगनी लागी।।
दास की विनती हरिपद पंकज, पकरत सोई सुहागी।।

इस संसार में भाग्यशाली किसे मानें ? सब अपने-अपने तरीके से सद्भाग्य की व्याख्या करते हैं। पुष्टि की दृष्टि से बड़भागी जीव वह है, जिसे श्री महाप्रभुजी की शरण मिली है। वही महा भाग्यशाली है। वल्लभचरण की शरण मिलने पर जो हरि-सेवा के अतिरिक्त अन्य कुछ माँगता है, वह मंदभाग्य है। जिसने हरिसेवा माँगी, वही परम भाग्यशाली है। जिसे नित्य भागवत का रसपान करने को मिलता है, वह जीव बड़ा भाग्यवान है। जो सब पर दया रखता है और लौकिक, वैदिक तृष्णाओं का त्याग करता है, वह जीव भाग्यशाली है। जिसे श्रीकृष्ण की लगन लग गई है और इसके अतिरिक्त किसी बात में मन नहीं जाता है, जो श्री हरि के चरण कमल को सदा पकड़े रख सकता है, वही जीव भाग्यशाली है। भगवान के दास के ये सौभाग्य के लक्षण हैं। साधारण व्यक्ति को भगवान का दासत्व मिलता ही नहीं है। यह सौभाग्य भाग्यवान को ही मिलता है। श्रीवल्लभाधिधानस्तनोतु निजदास्य सौभाग्यम्। निजदासस्य सौभाग्यम्। श्री वल्लभाधीश महाप्रभु हमें भी निजदासत्व का सौभाग्य प्रदान करें।

स्वाध्याय ३६

दीनता

कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना। अहंकारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत् ॥ सर्वत्र भगवत् -बुद्धि रखना और मन में दीनता की भावना रखनी चाहिए। वैष्णव को अहंकार नहीं करना चाहिए। मान की अपेक्षा को तो मुख्य रूप से त्याग देना चाहिए। दैन्य भाव से भगवान का भजन करने में पूर्ण सुरक्षा है। कामभाव (सख्यभाव) से भगवान के साथ सम्बन्ध होने से, इस संबंध का स्वभाव ही ऐसा है कि भगवान के साथ बराबरी एवं समानता का भाव उत्पन्न करवाता है। इस समानता के भाव में अपराध होने की पूरी संभावना है। जीव में मद एवं मान होने की संभावना रहती है। इस भावना से पतन की संभावना भी होती है, जबकि दास्यभाव में मद और मान जैसे भावों के प्रकट होने की संभावना ही नहीं होती है।

पश्चात्तापः सदा यत्र तत्सम्बन्धिकृतावपि।

वैष्णव भगवत्-सेवा करे। भावपूर्वक उत्तमोत्तम प्रकार से सेवा करे। फिर भी ऐसी दीनता और क्लेश तो सतत रखें कि मुझसे कोई सेवा नहीं होती है, मैं तो प्रभु को श्रम ही दे रहा हूँ। दीनता साधनरूपा भी है और फलरूपा भी है। भगवान के आविर्भाव से पहले दीनता होना उनके आविर्भाव का साधन है। इसलिए दीनता साधन भी है। भगवद् -आविर्भाव के बाद वही दीनता फलरूपा बन जाती है। भगवान के आविर्भाव के लिए दीनता ही साधन हैं।

आविर्भावे न सापेक्षं दैन्यं यत्र हि साधनम् ।
फल वियोगजं दैन्यं पुष्टिमार्गः स कथ्यते।।

पुष्टि मार्ग में भगवान के प्रकट होने में अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती, मात्र दैन्य ही साधन होता है। भक्त के ज्ञान, कर्म और भजनादि साधनों से पुष्टि प्रभु प्रकट नहीं होते हैं, क्योंकि वे साधनों के वशीभूत नहीं हैं। वे साधन-साध्य नहीं हैं। किसी भी साधन में ऐसी सामर्थ्य है भी नहीं कि भगवान को प्रकट होने के लिए विवश कर सके। निःसाधन दशा में भक्त के हृदय में प्रकट होने वाली केवल दीनता ही करुणावान् कृष्ण को प्रकट होने के लिए विवश कर देती है।

प्रभु को प्रिय है दीनता -

न हि साधनसंपत्या हरिस्तुष्यति कस्यचित् ।
भक्तानां दैन्यमेवेकं हरितोषणसाधनम् ॥

दीनता और विरह अवस्था में विशेष संबंध है। भगवान भक्त में दीनता प्रकट करने के लिए कई बार उसे विरह अवस्था में लाकर छोड़ देते हैं। इस ताप में परम दैन्य भाव प्रकट होता है। विरहात्मक दैन्य भक्त के अन्तःकरण को शुद्ध करता है। जिस प्रकार अग्नि सुवर्ण के दोषों को जलाकर उसे निर्मल

बना देती है, उसी प्रकार वैष्णव को विरहात्मक दीनता अहंतादिक दोषों से मुक्त करके शुद्ध बना देती है। दीनतापूर्वक भावना करनी चाहिए - "हे दया के सागर! मेरे प्रभु मुझ पर कृपा कब करेंगे? आप करुणा-सागर हैं तो फिर मेरी उपेक्षा क्यों करते हैं? एकमात्र प्रभु की ही शरण मानने वाला यह भक्त प्रभु को छोड़कर कहाँ जावे? हे नाथ! यदि आप मेरी उपेक्षा करेंगे तो आपकी ही प्रतिज्ञा भंग होगी। जो शरण में आता है, उसके गुण-दोष देखे नहीं जाते हैं। यदि हमारे दोष गिनने बैठेंगे तो आप सर्वशक्तिमान होने पर भी थक जाएँगे। आपके दर्शन, स्पर्श और आपकी वेणु का श्रवण कब होगा? हे गोपीजनवल्लभ! हे गोविन्द! हे व्रजजन-रंजन! हे दामोदर! हे गिरधर! हे नटवर! हमें दर्शन दो-हमें दर्शन दो। दर्शन दो प्रभु!" प्रभु भक्त के तीव्र-विरह ताप को सहन नहीं कर सकते हैं।

दीनता रूपी नमन

नमन-वंदन दीनता का क्रियात्मक रूप है। नमन के तीन प्रकार हैं-लौकिक, वैदिक और भक्तिमार्गीय। भगवान के चरणों में रहने वाले ऐश्वर्य आदि धर्मों को नमन करना लौकिक प्रकार है। भगवत् -रूप को नमन करना वैदिक प्रकार है और भगवान के चरण सुसेव्य हैं, यह जानकर स्नेहपूर्वक उनके चरणारविन्द को नमन करना भक्तिमार्गीय नमन है। '**माहात्म्यज्ञानं दुर्लभमिति तदर्थं प्रयासमकृत्वा, केवलं भगवते नमनं कर्तव्यम्**' -माहात्म्य ज्ञान के लिए बहुत प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि महात्म्यज्ञान तो दुर्लभ है, उत्तम तो यह है कि भगवान को केवल नमन करें और निवेदन करें-

यादृशोऽसि हरे कृष्ण! तादृशाय नमो नमः।
यादृशोऽस्मि हरे कृष्ण! तादृशं मां हि पालय॥

हे हरि! हे कृष्ण! आप जैसे हैं, वैसे आपको नमस्कार। हे हरि! हे कृष्ण! मैं जैसा हूँ, वैसे मेरा पालन कीजिए। दीनता छूटना वैष्णव के लिए बहुत बाधक है। दैवयोग से वैष्णव को यदि सम्मान मिलें तो भी दीनता नहीं छोड़ना चाहिए, गर्व नहीं करना चाहिए। सम्मान मिलने से, पुजवाने से कोई बड़ी बात, महत्ता नहीं होती, उलटा यह बाधक है। मुक्ति की अवस्था भगवदीयों को प्रिय नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि भगवदीयों की दीनता मुक्त अवस्था में नष्ट हो सकती है। मुक्ति के पश्चात् सारे संसार के सर्व दुःखों की निवृत्ति होने के बाद यह भाव होना कठिन है कि प्रभु की कृपा से ही मेरे दुःख दूर हुए हैं। अब मैं भगवान की कृपा से ही सुखी हूँ। मोक्ष में तो स्वामी-सेवक भाव रहना ही कठिन है। इसलिए भक्तों को 'सोऽहम्' प्रिय नहीं है, उन्हें तो 'दासोऽहम्' प्रिय है। कुंतीजी ने भगवान की प्रार्थना में कहा है-'हे प्रभो! मेरी तथा मेरे परिवार की जहर से, लाक्षागृह से, अग्नि से, नरभक्षी राक्षसों से, वनवास के अनेक दुःखों से, संग्राम में अनेक शस्त्रों से, दुष्टों की सभा में दुःशासन से, ब्रह्मास्त्र से आपने ही रक्षा की है। चारों ओर से आपने हमारी रक्षा की है।' प्रत्येक दुःख की निवृत्ति के समय में, सुख-प्राप्ति के समय में, भक्त दीनतापूर्वक भगवान की कृपा मानता है, अपनी बुद्धिमानी, चतुराई और परिश्रम का फल नहीं मानता है।

दीनता के साधन -

(१) स्वदोष-दर्शन -जीव अपने स्वभाव में रहने वाले दोषों का विचार करें तो उसके हृदय

के अहंकार का नाश हो जाएगा तथा दीनता प्रकट होगी। लेकिन स्वदोष देखना बड़ा कठिन है। "**स्वदोष परिज्ञानं भगवत्कृपयैव भवति, न स्वतः**" अपने दोषों का ज्ञान प्रभु की कृपा से ही होता है, अपने आप नहीं होता है।

(२) निःसाधनता-

निःसाधनत्वसिद्धयर्थं सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
सर्वथा साधनाभावे दैन्यभावो भवेदिति।।

सच्ची दीनता प्रकट करने में समर्पण, निःसाधनता और दीनता ऐसा क्रम है। सब कुछ भगवान को समर्पण कर देने से निःसाधनता आती है और बाद में दीनता आती है।

(३) स्वरूप-विचार - जीव अपने स्वरूप का विचार करता है तो दीनता स्वाभाविक रूप से प्रकट होती है। जीव भगवान का अंश है। भगवान पूर्ण हैं, जीव अपूर्ण है। जीव तिरोहितानंद है। उसके आनंद का तिरोधान हो गया है, इसलिए वह भगवान के समान होने का विचार भी नहीं कर सकता है। अपने प्रभु के अंश होने का विचार करते-करते दीनता का निर्वाह करना चाहिए। श्रीकृष्ण को अपने सखा मानने वाले अर्जुन को जब भगवान ने अपने विराट रूप के दर्शन कराए, तब दर्शन करने के बाद उसमें अभूतपूर्व दीनता प्रकट हुई। वैष्णव को बारंबार प्रभु की अनन्तता और स्वयं की अल्पता का विचार करना चाहिए।

(४) सामर्थ्य-विचार - अपनी क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति का सामर्थ्य बहुत कम है। भगवान सर्व शक्तिमान हैं, जबकि जीव सर्वथा अशक्त है। काल, कर्मादि उसे तृण की तरह नचाते हैं। फिर उसकी ज्ञान शक्ति भी अल्प है। प्रभु सर्वज्ञ हैं, जबकि जीव अज्ञानी है। इस क्षण के बाद क्या होगा, वह यह भी नहीं जानता है और जो होना है, उसे वह बदल भी नहीं सकता है। इसलिए अपनी असमर्थता का विचार करके भी दीनता को सम्हाले रखना चाहिए।

(५) स्वभाव-विचार-काम, क्रोध, हर्ष, शोक और ऐसे ही अनेक स्वभावगत दोषों के अधीन जीव अपने स्वभाव का विचार करके दीनता को प्राप्त होता है। पल-पल में अपने स्वभाव में विकार उत्पन्न होते हैं-गुण अल्प और दोष अनेक। कैसा है जीव का स्वभाव? पृथु राजा ने सनकादि मुनियों के सामने जो दीन भाव प्रकट किए थे, वे विचारणीय हैं। उसने मुनियो से कहा था कि मेरा राज्य, यह शरीर, शरीर से सम्बद्ध जो सब कुछ है, वह महानुभावों का प्रसाद है। अतः मैं आपको क्या दक्षिणा समर्पित करूँ? प्राण, स्त्री, पुत्रों, वैभव से युक्त ये भवन, राज्य, सैन्य, पृथ्वी व मेरा खजाना ये सब मेरा है ही नहीं, इसलिए इनकी भेंट किस प्रकार करूँ? इसलिए जिस प्रकार नौकर राजा की वस्तु राजा को भेंट करे, उसी प्रकार सारा का सारा आपके श्रीचरणों में अर्पित है।

दीनता की मूर्ति श्री प्रहलादजी कितने सुन्दर भावों को व्यक्त करते हैं -"घोर असुर जाति में मेरा जन्म हुआ है। मैं आपकी स्तुति किस प्रकार कर सकता हूँ? हे देव! देहाभिमान मुझे सताता है। संसार में मैं भटक रहा हूँ। आप मुझे दासत्व (दासभाव) का दान कब करोगे? आपके अनुग्रह से आपका नित्य दासत्व मिले, यही उत्तम है। अपने जीव की रक्षा तो कोई भी करता है, लेकिन वास्तव में सच्चे रक्षक आप ही हैं। (दीनता के भाव की रक्षा के लिए अपने दोषों को जानना बहुत आवश्यक है) हे वैकुण्ठनाथ! मैं पापों से दूषित हो गया हूँ। बहिर्मुख, अस्थिर, कामना से आतुर और हर्ष-शोक

तथा भय-तृष्णा के कारण बहुत पीड़ा का अनुभव कर रहा हूँ। मेरा मन आपकी कथा में लगता नहीं है। मैं तो दीन हूँ। आपकी गति का, आपके स्वरूप का मेरे मन में विचार किस तरह आ सकता है?

यदि सौभाग्य की अवस्था में प्रभु या गुरु से बहुत सम्मान मिले तो भी दीनता छोड़ना नहीं चाहिए। इसी में जीव का कल्याण है। श्रावण शुक्ल एकादशी की मध्यरात्रि को श्री गोकुल के गोविन्दघाट पर भगवान का प्राकट्य हुआ। श्री महाप्रभुजी को आज्ञा की कि आप जीव का मेरे साथ संबंध, ब्रह्मसंबंध करावें। आपके माध्यम से मुझे समर्पित करें। आप जिन जीवों को ब्रह्मसंबंध देंगे, वे निर्दोष हो जावेंगे। श्री ठाकुरजी ने वचन दिया कि आप जिन जीवों को अंगीकार कराओगे, उन्हें मैं कभी नहीं छोडूँगा। श्री महाप्रभुजी ने सूत का पवित्रा सिद्ध करके रखा था, वह प्रभु को धराया। फिर भी आचार्यजी ने, दामोदरदासजी जो थोड़ी दूरी पर सोये थे, उनसे पूछा-'दमला! तूने क्या कुछ सुना? तब दामोदरदासजी ने उत्तर दिया-'महाराज! मैंने श्री ठाकुरजी के वचन सुने तो सही, लेकिन समझे नहीं।' इस संवाद में दामोदरदास की दीनता समझने जैसी है। भगवान के वचन किसी को अपने आप समझ में नहीं आते। जब गुरु कृपा करे तभी समझ सकते हैं। दामोदरदासजी भगवान के दास नहीं, दासानुदास हैं। श्री ठाकुरजी के वचन ये समझते तो ये श्रीठाकुरजी के सेवक हैं, ऐसा कहलाते। श्रीआचार्यजी समझें और बाद में उनकी कृपा से ये समझें तभी ये श्री आचार्यजी के सेवक कहलाते हैं। हृदय में दृढ़ ज्ञान तो गुरुकृपा से ही होता है। इस घटना में स्वामी-सेवक भावना दर्शाई गई है। दामोदरदासजी श्री महाप्रभुजी की बराबरी कैसे कर सकते हैं? जो बात उनके आचार्यजी समझे, वह वे कैसे समझें? यह वैष्णवी दीनता वैष्णव के कल्याण के लिए उपयोगी है।

वल्लभ प्रभु अति दयाल, दीजै दरशन कृपाल,
दीन जान कीजे अपनो, दोष जिन विचारो।
हौं तो अपराधभर्यो, धर्म सबै परिहर्यो,
कियो न कछू भलो काज, जाहि चित्त धार्यो
दूरि परे पल-पल दुःख पावत हों प्राणनाथ,
तुम हीं तें होइ है प्रभु 'रसिक' को निवारो।
मेरो पकर्यो जु हाथ, बांध्यो पदकमल साथ
नाथ! हौं अनाथ ताहि भूल जिन बिसारौ॥

दीनता के बहुत सुन्दर भाव इस पद में बताये हैं। दीन भक्त इस तरह से स्वामी से व्याकुलताभरी पुकार करता है। हे वल्लभ प्रभु! हे अति दयाल! हे कृपालु! दर्शन देवें। मेरे दोषों का विचार न करें और मुझे दीन जानकर अपना बनावें। हे वल्लभ! मैं अनेक अपराधों से भरपूर हूँ। मैंने सारे धर्मों का त्याग कर दिया है। कर्महीन, धर्महीन मैं क्या मुँह लेकर आपके सामने आऊँ। मैंने कोई ऐसा सत्कर्म नहीं किया है, जिसे आप अपने मन में रख सकें। हे प्राण प्रिय महाप्रभुजी ! मैं आपसे बहुत दूर पड़ा हूँ। हे वल्लभ! क्षण-क्षण दुःख का अनुभव कर रहा हूँ। मेरे जैसे का उद्धार आप ही कर सकते हो, अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं है कि मेरा उद्धार कर सके। आप मेरा हाथ पकड़ें और अपने चरणकमल में स्थान देवें। मैं अनाथ हूँ, आपको मुझे सनाथ करना-यह बात आप भूलिएगा नहीं। हे नाथ! इस दीन पर दया करो। आपसे ही यह सनाथ है, आपके बिना यह अनाथ है। इसलिए मुझ दीन पर कृपा करो। ●

स्वाध्याय ३७

समर्पण

ब्रह्मसंबंध के समय का समर्पण साधनरूप समर्पण है। जब भगवत्सेवा में तनु-वित्त आदि प्रभु के सुख के लिए समर्पित किये जाते हैं, तब यह फलरूप समर्पण है।

साधनरूप समर्पण-

संसार के पदार्थ भक्त के लिए भक्ति में बाधक होते हैं, इसलिए कभी-कभी त्याग जैसे क्लिष्ट साधन के स्थान पर समर्पण जैसे भावात्मक रसात्मक साधन पर विचार करना अधिक योग्य है। यह श्रीवल्लभाचार्यजी की आज्ञा है। "**गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थं तन्नियुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः।**" वैष्णव को गृह का सर्वथा त्याग करना चाहिए। यदि घर का त्याग नहीं हो सकता हो तो भगवान की सेवा में उसका विनियोग करना चाहिए। घर, पत्नी, पुत्रादि, वैभव आदि समस्त को भगवान की सेवा में लगा देना चाहिए। इन सबका त्याग करने की अपेक्षा इनको प्रभु के कार्यों में लगा देने से प्रभु को प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार भक्त की इन पदार्थों के प्रति संसाररूपी आसक्ति दूर हो जाती है। जैसे-जैसे संसार से आसक्ति दूर होती जाती है, वैसे-वैसे श्रीकृष्ण में आसक्ति बढ़ जाती है। **व्यर्थ त्यागापेक्षया भगवति समर्पणमुत्तमम्** -श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि व्यर्थ त्याग करने की अपेक्षा भगवान को समर्पण करना उत्तम है।

निर्दोषता का साधन

ब्रह्मसंबंध होने पर जीव के उस समय तक के पाँचों दोषों की निवृत्ति हो जाती है, यह तो हमने देखा परन्तु वैष्णव के जीवन पर्यन्त के दोषों की निवृत्ति नित्य लौकिक-वैदिक समर्पण से ही सम्भव है। पुष्टिमार्ग के अनुसार वैष्णव को सर्व लौकिक एवं वैदिक प्रसंगों में समर्पण करते रहना चाहिए। पुत्र के विवाह के समय, अपने भोजन आदि के लिए किया गया (लौकिक) तथा यज्ञ के लिए तैयार किया गया अन्न (वैदिक) इनका समर्पण अवश्य होना चाहिए, ऐसी मर्यादा (जिसका उल्लंघन हो नहीं सकता ऐसी आज्ञा) है। प्रत्येक वस्तु का निवेदन आवश्यक है परन्तु साथ ही वह वस्तु निवेदनयोग्य, समर्पणयोग्य होनी भी चाहिए। भगवान के लिए प्राप्त किए गए पदार्थों में से अज्ञानवश भी यदि कोई उपयोग कर ले तो शेष पदार्थ 'सामिभुक्तम्' आधा भोग किया हुआ हो जाता है। ऐसे पदार्थ देवों के देव पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु को धराने योग्य नहीं होते। प्रारंभ में ही (स्वयं भोग करने के पहले) सारी वस्तुओं का प्रभु को समर्पण कर देना चाहिए।

प्रभु को समर्पित वस्तु का उपयोग किया जा सकता है। अन्य मतानुसार तो जो वस्तु प्रभु को समर्पित कर दी, उसका अपने द्वारा भोग नहीं हो सकता है। परन्तु भक्तिमार्ग, विशेषकर पुष्टि भक्तिमार्ग का दृष्टिकोण भिन्न है। भक्तिमार्ग में पहले निवेदन करने को कहा है। नवधा भक्ति-अन्तिम नवमी

भक्ति आत्मनिवेदन भक्ति ही है। **इष्टं दत्तं हुतं जप्यं मदर्थं यद् व्रत तपः** अर्थात् यज्ञ, दान, होम, जप, व्रत तथा तप जो कुछ भगवत्प्रीत्यर्थ हो, इससे भक्ति उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं। भक्तिमार्ग में निवेदन है ही। भगवान गीताजी में भी कहते हैं-भक्त भक्तिपूर्वक, प्रीतिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल या जल जो भी अर्पित करते हैं, उन्हें मैं अंगीकार करता हूँ। भक्त सेवक है और सेवक तो स्वामी के द्वारा भोग किये हुए अर्थात् भगवत् -उच्छिष्ट का ही उपयोग करता है। **सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्धयति** जैसा सेवकों का लोक में व्यवहार प्रसिद्ध है। अंत में भगवान के चरणों से प्रकट हुई गंगाजी में ऐसा सामर्थ्य है कि जो भी जल इसमें मिलता है, उसे गंगा रूप बना देती है। अपने जैसा निर्दोष और उत्तम गुणवान बना देती है। यदि भगवान के चरणों से प्रकट हुई गंगाजी में ऐसा सामर्थ्य है तो भक्तिमार्ग में तो भक्त का साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम के साथ संबंध होता है। वहाँ जीव निर्दोष बने, आत्म समर्पण से कृतार्थ बने तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है?

तदीयत्व का साधन

समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम् (बालबोध) - आत्मसमर्पण अर्थात् जो कुछ अपना हो उन सब कुछ का निवेदन कर दें। ऐसे समर्पण से जीव को भगवदीयत्व की प्राप्ति होती है। 'मेरा कुछ नहीं है सब कुछ प्रभु का है' यह भाव समर्पण भाव है। सर्व का समर्पण करने पर जीव की कोई सत्ता या स्वामित्व नहीं रहता। जीव को श्रवण-कीर्तन आदि जो साधन करता है, वे सब समर्पण भाव दृढ़ हो, इसलिए करना है। श्रवण भक्ति से कीर्तन भक्ति, कीर्तन भक्ति से स्मरण, उससे पादसेवन, पाद-सेवन से अर्चन-वंदन, उससे ही दास्य भक्ति, सख्य भक्ति और अंत में आत्म-निवेदन भक्ति सिद्ध होती है।

फलरूप समर्पण

'यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः। येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत्कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्' लोक में जो जो वस्तु क्लिष्ट नहीं परन्तु इष्ट कहलाती हो, अत्यन्त इष्ट जानी जाती हो, वह प्रभु को समर्पित करना चाहिए। स्वयं को (आत्मा को) जो-जो वस्तु क्लिष्ट नहीं परन्तु अतिप्रिय लगने वाली हो (जैसे दूध, शकर आदि) वह वस्तु प्रभु को समर्पित करना चाहिए। ये सब पदार्थ सन्मार्ग से प्राप्त किए हुए होने चाहिए, नहीं तो प्रभु उन्हें नहीं स्वीकारेंगे। दूसरों के निमित्त रखे हुए पदार्थ भी प्रभु को समर्पित न करें। जो पदार्थ चित्त में क्लेश उत्पन्न न करें परन्तु "मेरे प्राणप्रिय प्रभु को यह श्रेष्ठ पदार्थ-सामग्री मैं कब अर्पण करूँ" ऐसा चिरकाल से मनोरथ के रूप में अपने मन में चिन्तन हो रहा हो, जो अन्तःकरण को प्रिय लग रहा हो, सर्वथा सुख देने वाला उत्तम, आह्लादिक, देश-काल का ध्यान रखते हुए, सुख रूप हो, ऐसे पदार्थ प्रभु को समर्पित करने चाहिए। यह समर्पण आत्मनिवेदन रूपी नवमी भक्ति का एक स्वरूप भी है। भक्त अपने कर्म, अपने धन आदि सर्वस्व और अन्त में स्वयं को, अपनी आत्मा को भी समर्पण कर दे-यह भक्ति की पराकाष्ठा है, इसीलिए नवधा भक्ति में अन्तिम भक्ति आत्मनिवेदन रूप भक्ति है। भगवदीयों के लिए यह भागवत धर्म है।

कायेनवाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

शरीर, वाणी, मन, इन्द्रियों, बुद्धि, अहंकार के अनुसार-स्वभाव से मनुष्य जो-जो कर्म करे, उसे श्रीनारायण भगवान को समर्पण करना चाहिए। यहाँ समर्पण का कोई फल नहीं बताते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यह समर्पण ही फलरूप है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

श्रीमद् भगवद्गीता में एवं श्रीमद् भागवत महापुराण में भगवान ने अपने मुखारविन्द से स्नेहपूर्वक किए हुए समर्पण की महिमा गाई है। "जो मनुष्य पत्र, पुष्प, फल या जल, जो कुछ भी प्रेमपूर्वक भक्ति से मुझे अर्पित करता है, उसकी उस भक्तिपूर्वक अर्पित की हुई वस्तु को मैं अंगीकार करता हूँ। मैं यह अंगीकार इस भाव से करता हूँ कि भक्ति के कारण भक्त का मन शुद्ध होता है, उसके समर्पण में स्वार्थ नहीं होता है। भगवत्सेवा में प्रत्यक्ष रूप में श्रृंगार, भोग आदि निवेदन करने में, तथा भावनात्मक प्रकार से स्त्री, पुत्र गृह आदि भगवान को समर्पण करने में भक्त को एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह जो कुछ प्रभु को समर्पण कर रहा है, यह उन पर उपकार नहीं कर रहा है। '**भजने यत्र सेव्यस्यनोपकारकृतिः क्वचित्**' मैंने इतनी सेवा की, इतना समर्पण किया, ऐसा विचार होना ही नहीं चाहिए। वैष्णव कौ दीनतापूर्वक ऐसी भावना करनी चाहिए कि प्रभु मेरी सेवा स्वीकार करके, मेरी समर्पित वस्तुओं को स्वीकार करके, मेरी भावना का पोषण कर रहे हैं।

भगवान् की सेवा करने और समर्पण करने का अधिकार उनके अनुग्रह से ही प्राप्त होता है तथा वे कृपालु भगवान तो आत्माराम और आप्तकाम हैं इसलिए उन्हें अपने लिए तो किसी भी कारण या आवश्यकता से भक्त की किसी क्रिया अथवा पदार्थ की आवश्यकता ही नहीं है। '**साधवो हि महत्कर्म कृत्वा स्वयमेव तुष्यति, न तु प्रत्युपकारमपेक्षन्ते**' महापुरुषों का तो यह स्वभाव ही है कि महान् कार्य करके वे स्वयं ही प्रसन्न होते हैं। वे इसके बदले में किसी उपकार की, प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं रखते हैं। श्री दयारामभाई ने एक सुन्दर सिद्धान्त व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि दीनता के पात्र में मनरूपी मणि को रखकर भगवान् को भेंट करो। भगवान् को समर्पित करने के योग्य उत्तम भेंट मनरूपी मणि है, किन्तु इन भेंट का अभिमान न हो जाए, इसलिए इसे दीनता के पात्र में धरकर पधरावें तो कोई बाधा नहीं होती।

भगवान् को भावपूर्वक समर्पण करना आवश्यक है, किन्तु इस प्रभु-समर्पण का नित्य स्मरण भी आवश्यक है। इसलिए श्री महाप्रभुजी की आज्ञा है - '**निवेदनं तु स्मर्तव्यम्**' तदीय भगवदीयों के संग रहकर सर्वदा अपने द्वारा किये गये ब्रह्मसम्बन्धरूपी समर्पण का स्मरण करते रहना चाहिए। यही पुष्टिपथ का सर्वोत्तम साधन है। इस विषय में त्रिपुरदास कायस्थ का एक दिव्य प्रसंग स्मरण रखने और मनन करने योग्य है। त्रिपुरदास कायस्थ प्रतिवर्ष श्रीनाथजी को शीतकाल में धारण करवाने के लिए जडावर (वस्त्र) भिजवाते थे। उनका दगला बहुत सुन्दर होता था और इसी कारण श्री गुसांईजी त्रिपुरदास का दगला (वस्त्र) सर्वप्रथम श्रीनाथजी को अंगीकार करवाते थे। कई वर्षों तक यह क्रम चलता रहा। एक बार त्रिपुरदास को द्रव्य का संकोच आ पड़ा। आर्थिक तंगी के कारण उसने विचार किया कि प्रतिवर्ष तो मैं प्रभु को उत्तम दगला भिजवाता था, किन्तु इस बार तो कोई अर्थ-व्यवस्था

नहीं है क्या करूँ? उसके पास एक दवात थी, जिसकी स्याही लिखने के काम में आती थी। उसकी ढक्कन चाँदी का था। उसने वह ढक्कन बेचकर रंगीन खादी का एक थान खरीद लिया और वही श्रीनाथजी को भेटिया के माध्यम से भिजवा दिया।

प्रबोधिनी एकादशी (देवउठनी ग्यारस) के दिन श्रीगुसांईजी ने श्रीनाथजी को दगला उढ़ाया तो भी प्रभु ने कहा-'मुझे तो अभी भी बहुत ठंड लग रही है।' श्रीगुसांईजी ने दूसरी अंगीठी (सिगड़ी) जलाई और प्रभु को रजाई भी उड़ाई। फिर भी श्रीनाथजी ने कहा-'मुझे तो बहुत ठंड लग रही है।' तब श्रीगुसांईजी ने विचार किया कि अवश्य ही किसी वैष्णव की जड़ावर आई है, किन्तु लगता है कि वह आज प्रभु को अंगीकार (समर्पित) नहीं करवाई जा सकी है। जानकारी लेने पर ज्ञात हुआ कि त्रिपुरदास के द्वारा प्रतिवर्ष भेजी जाने वाली जड़ावर इस वर्ष नहीं आई है, उसके स्थान पर इस वर्ष खादी का थान आया है। वह भंडार में ही रखा हुआ है। तब श्रीगुसांईजी ने कहा - 'वह थान जल्दी से लाओ।' तत्काल दर्जी को बुलवाकर उससे रजाई तैयार की गई और वह प्रभु श्रीनाथजी को ओढ़ाई गई। तब श्रीनाथजी ने कहा-'अब ठंड लगना बन्द हुआ, गरमी आई है।' फिर तो उस शीतकाल में प्रभु ने पाँच-दस बार उस रजाई (दुलाई) को धारण किया था। इस प्रसंग के द्वारा प्रभु ने बता दिया था कि मेरा भक्त यदि प्रेमपूर्वक कोई वस्तु समर्पित करता है तो मैं उसे इसी प्रकार स्नेह से अंगीकार करता हूँ। इस विषय में वस्तु का विचार प्रभु नहीं करते। वे तो भक्त के भक्तिभाव को अंगीकार करते हैं। इस प्रसंग का वर्णन त्रिपुरदास ने निम्नलिखित पद में किया है -

नवरंग ललन बिहारी मेरो कहे, जाडो मोहि अधिक सताय।
पहरि कंवाई ओढ़ि लई फलगुल, तोहु सीत सतावत आय।
अचरज भये सुनि वल्लभ-नन्दन, कनक अँगीठी धरी मंगाय।
पुनि जिय सोचि मंगाई उठाई, भजि गई सीत हँसे जदुराय।
ऐसे परम कृपाल दयानिधि, बिसरत नहीं सुधि करत सहाय।
'त्रिपुरदास' गिरिधारी की बातें, कहा जाने कोउ देउ बताय।

समर्पण में भाव की प्रधानता तो होनी ही चाहिए। फिर भी उत्तमता का विचार उचित ही है। प्रभु को उत्तमोत्तम वस्तु अंगीकार करानी चाहिए। यही भक्तिमार्ग का सिद्धान्त है। इसी कारण एकबार श्री महाप्रभुजी को यह चिन्ता हुई कि प्रभु को तो उत्तमोत्तम वस्तु अंगीकार (समर्पित) करा कर सुख प्राप्त करना चाहिए। प्रभु को दोषयुक्त मध्यम वस्तु कैसे अंगीकार कराई जा सकती है? जीव तो स्वभाव से ही दोषयुक्त है। यद्यपि पुष्टि जीव दैवी जीव है इस दृष्टि से वह उत्तम है, किन्तु उसके स्वभाव में सहज, देशज, कालज, संयोगज, स्पर्शज आदि दोष तो आ ही गये हैं। इसलिए उसके अधिकार में मध्यमता आ गई है। मार्ग या सिद्धान्त और मर्यादा तो यही है कि प्रभु को उत्तम वस्तु ही अंगीकार करानी चाहिए। महाप्रभुजी की इस चिन्ता को दूर करने के लिए श्री प्रभु ने ब्रह्मसम्बन्ध का सिद्धान्त बताया। आपश्री ने आज्ञा की - 'आप जिस जीव का समर्पण कराएँगे, उसका मैं अंगीकार करूँगा।' वह जीव समर्पण से ही शुद्ध, उत्तम हो जाएगा। इस प्रकार प्रभु की कृपा हुई। भगवत्सेवा में समर्पित की जाने वाली वस्तु की उत्तमता का विचार करना चाहिए। दामोदरदास संभलवाला के घर एक बार

श्री महाप्रभुजी ने ठाकुरजी को भोग समर्पित करके बीड़ा धरते समय देखा कि पान तो हरे हैं, कच्चे हैं। आपश्री ने सहज ही नाराजी व्यक्त करते हुए दामोदरदास से कहा –'श्रीठाकुरजी उत्तमोत्तम वस्तु के भोक्ता हैं इसलिए श्रीठाकुरजी को कच्चे, हरे पान समर्पित नहीं करने चाहिए। प्रभु पके हुए पीले उत्तम पान ही समर्पित करने चाहिए।'

आगरा के माणिकचन्द और उनकी पत्नी ने श्री गुसांईजी के दर्शन किये तो उन्हें आपश्री के दर्शन साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम के रूप में हुए। उन्होंने श्रीगुसांईजी को सर्व समर्पण कर दिया। दोनों केवल एक-एक वस्त्र पहनकर घर के बाहर खड़े हो गये और बोले-'घर में जो कुछ भी है, वह सब श्रीगुसांईजी का है। सब कुछ ले जाओ। उन्होंने निजी उपयोग में आने वाले घोड़े, ऊँट आदि भी समर्पित कर दिये। फिर श्रीगुसांईजी की आज्ञा मानकर दस हजार रुपये लेकर व्यवसाय आरंभ किया। व्यवसाय करके बारह हजार रुपयों के तोड़ा समर्पित किये। स्वयं श्री गुसांईजी ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा था – 'या तो समर्पण राजा बलि ने किया था, या समर्पण माणिकचन्द ने किया है।' राजा बलि का समर्पण मर्यादामार्गीय था। उनमें प्रभु ने दान लिया था दान की वस्तु पुनः ली नहीं जा सकती है, किन्तु माणिकचन्द के द्वारा किया गया सर्वसमर्पण पुष्टिमार्गीय समर्पण था। पुष्टिमार्गीय समर्पण में दान करने की रीति नहीं है। यहाँ स्वामी-सेवक की रीति है-'सेवकानां यथा लोके व्यवहार प्रसिद्ध्यति।' सेवक का स्वामी को स्नेहपूर्वक समर्पण ही पुष्टिमार्गीय समर्पण है।

श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण मन में गति जानिए।
देह-इन्द्रिय-प्राण-दारागारादिवित्त-आत्मा, सकल विश्व के जानिए।
कृष्णदासनि नाथ लाल गिरिवरधरन चरण-रज वल्लभाधीश सिर आनिए।

भगवदीय श्री कृष्णदास के इस पद में समर्पण का उत्तम भाव प्रकट हुआ है। भगवदीय को मन में श्रीकृष्ण का ही स्मरण करते रहना चाहिए। प्रभु ही मेरे स्वामी हैं, मैं उनका दास हूँ। यह देह, इन्द्रिय, प्राण, पत्नी, घर, सम्पत्ति और आत्मा ये सब प्रभु हैं और प्रभु को ही फिर से समर्पित कर देने हैं। इन सभी पदार्थों पर अहंता-ममता का भाव जीव स्वयं के अज्ञान के कारण करता है। वास्तव में भगवदीय का यही मनोरथ रहता है कि श्रीकृष्ण मेरे स्वामी हैं। मैं मन, वचन और कर्म से उनका दास होकर ही रहूँ।

भगवान श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण विश्व का सिरजनहार जानना चाहिए। वे ही सबके कर्ता है। सब कुछ वे ही करते हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास रखें। विश्वास और समर्पण के बीच निराला सम्बन्ध है। जहाँ विश्वास पैदा होता है, वहीं जीव समर्पण करता है और समर्पित हो जाने पर वह दृढ़ विश्वास युक्त होकर जीता है। प्रभु किसी भी प्रकार से, किसी भी क्षण त्याग नहीं करेंगे, यह विश्वास ही भक्ति का प्राण है। श्री गिरिराजधारी श्रीनाथजी ही मेरे नाथ हैं। इन मेरे नाथ, मेरे सर्वस्व श्रीनाथजी के साथ सम्बन्ध कराने वाले श्रीवल्लभ के चरणारविन्द में मस्तक नमावें। श्रीकृष्ण ही हमारी गति हैं, श्रीकृष्ण ही आश्रय हैं। श्रीकृष्ण को ही सर्वस्व समर्पण।

●

स्वाध्याय-३८

शरणागति

अस्माकं तु गतिर्नान्या ' श्रीकृष्णः शरणं ममः ' हमारी अन्य कोई गति, अन्य कोई आश्रय नहीं है। श्रीकृष्ण के ही मैं शरण में हूँ।

शरण मात्र साधन ही नहीं है परन्तु सभी मार्गों में मुख्य भक्तिमार्ग के विकल्प रूप में यह स्वतन्त्र मार्ग भी है। जिसे भक्ति मार्ग में अधिकार नहीं है, उसके लिए मुख्य भक्ति मार्ग का अनुसरण करने वाला सर्वसुलभ अन्य उपाय प्रपत्ति मार्ग है। इस प्रपत्ति मार्ग के अधिकारी, सभी जीव हैं।

प्रपत्ति मार्ग में भगवान का एकमात्र अनन्य दृढ़ अवलंबन करना ही आवश्यक है। रावण की सभा में भी तभी तक ब्रह्मास्त्र से श्री हनुमानजी बँधे रहे, जब तक राक्षसों का विश्वास ब्रह्मास्त्र में था। जब अविश्वास हुआ कि ऐसा पराक्रमी वानर डोरी से कैसे बँध सकता है, इसे लोहे की जंजीरों से बाँधना चाहिए। ऐसा अविश्वास होते ही ब्रह्मास्त्र का प्रभाव नष्ट हो गया। प्रपत्ति मार्ग में भी दो बड़े बाधक तत्त्व हैं-अविश्वास और अन्याश्रय। भगवान में अविश्वास नहीं रखना चाहिए तथा भगवान के अलावा अन्य का आश्रय नहीं लेना चाहिए। **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** गीताजी के इस महावाक्य में शरणस्थ होने की आज्ञा तो है ही इसी के साथ **'माम एकम्'** मेरे एकमात्र की शरण में, कहकर अन्याश्रय त्याग की आज्ञा भी है। अनन्यता के बिना शरणागति सिद्ध नहीं होती है, इसीलिए एकमात्र प्रभु की शरण की आज्ञा है।

श्रीकृष्ण ही एकमात्र शरण स्थल हैं। उनके अनुग्रह से ही जीव की रक्षा सम्भव है। श्री प्रहलादजी दीनतापूर्वक निवेदन करते हैं- ''**बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह, नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।**'' बालक के लिए भी उसके माता-पिता शरण रूप नहीं हो सकते, क्योंकि स्नेहपूर्वक माता-पिता उसका पालन-पोषण करते हैं तो भी बालक को दुःख होता है, रोगी के लिए औषधि शरण रूप नहीं हो सकती, क्योंकि औषधियों को देते हुए भी रोगी की मृत्यु देखी गई है, उसी प्रकार समुद्र में डुबते हुए को नौका भी शरण रूप नहीं हो सकती, क्योंकि नौका भी कभी डूब जाती है और शरण में आने वालों को भी डुबा देती है।

संसार के सुख, सुरक्षा और स्वास्थ्य के साधन भगवान के अनुग्रह से ही फल देते हैं, सार्थक होते हैं। **'तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहांजसेष्टस्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम्'** भगवान यदि शरण' न लें, उपेक्षा करें तो यह स्पष्ट है कि सुख के सारे साधन व प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं।

माया-संतरण

''**स्वप्नो जागरणं चैव यथा ह्यन्योन्यवैरिणौ। विद्याऽविद्ये तथा स्यातां न तु सर्वात्मना लयः॥**''

स्वप्न और जागृति जिस प्रकार एक-दूसरे के विरोधी हैं। सत्वगुणों का उदय होने से विद्या अविद्या को दबा देती है। तमोगुण के प्रबल होने पर, अविद्या उदय होकर विद्या को दबा देती है। ये विद्या और अविद्या दोनों ही भगवान की शक्ति हैं और ये महामाया नाम की महाशक्ति की दासियाँ हैं।

जीव को स्वप्रयत्न से प्राप्त ज्ञान के द्वारा उसकी अविद्या का पूर्ण रूप से लय होता ही नहीं है। '**ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।**' महामाया ज्ञानी के चित्त को भी मोह में डाल देती है, इसलिए अविद्या का लय विद्या से हो सकता, उसका लय करने के लिए तो विद्या-अविद्या दोनों को अपने वश में रखने वाली महामाया को जीतना चाहिए। महामाया को जीतने का एक ही उपाय है "**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**" भगवान की शरण में जाना ही एकमात्र उपाय है- महामाया से संतरण का।

निर्भयता -

जीव को अनेक दिशाओं से भय होता है-काल, मृत्यु, शत्रु, रोग, राजा और दुष्ट लोग आदि अनेकों भयकारक परिबलों से जीव भयभीत रहता है। दैवी संकट, भौतिक उपद्रव और अपने कर्मो से एवं स्वभाव से उत्पन्न किए हुए दुःखों का भी उसे भय रहता है। इन भयों का निवारण करने के लिए अनन्य भाव से भगवान की शरण स्वीकारें, यही उपाय है। श्री उद्धवजी को बहुत उपदेश देने के बाद भगवान ने उन्हें अनन्य शरणागति का ही उपदेश दिया था -

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मयास्या ह्यकुतोभयः॥

सारे प्राणियों के आत्मा स्वरूप एकमात्र भगवान की सर्वात्मभाव से शरण में आने पर ही जीव सब ओर से निर्भय हो जायगा। शरण में आने पर भगवान ने गजेन्द्र की ग्राह से, द्रौपदी की दुष्ट कौरवों से, ब्रजभक्तों की इन्द्रप्रकोप से, अर्जुन और उत्तरा की ब्रह्मास्त्र से एवं प्रहलाद जैसे भक्तों की अनेक विपत्तियों से रक्षा की, उन्हें निर्भय बना दिया। ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। शरण में आने से ही जीव सब ओर से निर्भय हो जायेगा। संसार के सभी दुःखी जीवों को भगवान की कृपा प्राप्त नहीं है। '**भगवान स्वकृपां शरणागतेष्वेवार्पितवान्**' भगवान शरण में आये हुओं को ही अपनी कृपा अर्पित करते हैं अर्थात् प्रत्येक दीन पर भगवान की कृपा नहीं होती। अपितु जो दुःखी हो और भगवान की शरण में आया हो तो ही उस पर भगवान की कृपा होती है।

मनुष्य को अपने जीवन की हर प्रकार की कार्यसिद्धि के लिए भगवान की शरण में ही जाना चाहिए। यदि शरण भाव की निरन्तर भावना न टिके तो वैष्णव को सर्वात्मभाव से हमेशा 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस अष्टाक्षर मंत्र का जाप करना चाहिए।

जीवन में सत्संग आदि साधन प्राप्त न हो, तो भी शरणागति का भाव तो दृढ़ रखना ही चाहिए। '**अत एवास्ति नैश्चिंत्यं ऐहिके पारलौकिके**' श्री हरि ही हमारी एकमात्र शरण हैं, आश्रय हैं, इसीलिए हमें इस लोक और परलोक दोनों में निश्चिंतता है।

साधन और साध्य

शरण भाव के विषय में श्री हरिरायजी की उत्कृष्ट भावना देखिए -

अस्माकं साधनं साध्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
यत्स्वापत्स्वपि सदा स्वाचार्य चरणोदितम् ॥ शिक्षा पत्र २४.३१

अपना तो संपत्ति और विपत्ति दोनों में एक ही साधन और एक ही साध्य हैं। वह है -'श्रीकृष्णः शरणं मम'। यह शरणभाव स्थिर रखने वाला महामंत्र है, अपने आचार्य चरण का वचनामृत है।

सभी अधिकारी शरण के

शरणागति दुःखी जीवों का ही एकमात्र साधन है ऐसी बात नहीं है **'सर्वोपाधिविनिर्मुक्तोऽपि हरिं शरणमाव्रजेत्'** जो जीव समस्त उपाधियों से मुक्त हो गया हो उसे भी हरि की शरण में जाना चाहिए।

असाधनः साधनो वा न साधुः साधुरेव वा।
शरणादेव निखिलं फलं प्राप्नोत्यसंशयम्॥

जीव साधनरहित हो या साधनसम्पन्न हो, असाधु हो या साधु हो, वह चाहे जैसा हो फिर भी यदि वह भगवान की शरण में जावे तो सर्वप्रकार से निश्चित ही फल प्राप्त करता है।

भक्तिमार्ग में शरण ही साधन है और शरण ही फल है। अतः शरण रूपी साधन से शरण रूपी महाफल की प्राप्ति होती है। भगवान की अवतार दशा में तो साक्षात् भगवान की शरण संभव है ही परन्तु भगवान प्रत्यक्ष नहीं विराजते हों तो उस समय में अनवतार दशा में महापुरुष-सद्‌गुरु की शरण से भगवान् की शरण सिद्ध हो सकती है। तादृशी भगवदीयों की कृपा से भगवान की शरण सुलभ हो सकती है, ऐसा श्रीहरिरायचरण का दृढ़ विश्वास है। श्री महाप्रभुजी के उपदेश व सिद्धान्तों के अनुसार जो जीवन जीता है अर्थात् सच्चे वैष्णव का जीवन जीता है, उसे शरण भाव सिद्ध हो जाता है।

शरणागत परिपालन :- भगवान की शरण में आने वाले जीव पूर्ण विश्वास से शरण में आते हैं। शरणागत का अनादर करना दोष है। पूर्ण निर्दोष प्रभु में यह दोष कैसे हो सकता है? **'नूनं ह्यार्याः साधवः उपशम शीलाः कृपणः सुहृद् एवं विद्यर्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते'** शरणागत का अनादर करना यह दोष है। शान्त स्वभाव के दीन दयालु महात्मा पुरुष शरणागत परिपालन रूपी धर्म को करने में स्वयं के बड़े-बड़े स्वार्थों का नाश होता हो तो भी परवाह नहीं करते।

आर्तभाव से संकट के समय में दुःखी जीव जब भगवान की शरणागति लेता है तो प्रभु द्रवित हो जाते हैं। दंड देने के लिए तत्पर होने वाले उग्र प्रभु स्वयं की उग्रता को भी छोड़ देते हैं। नागदमन लीला का वर्णन करते समय सूरदासजी ने भगवान की शरणागत-वत्सलता पर बहुत बल दिया है। भगवान को आर्द्र बना देने वाली शक्ति शरण शक्ति ही है -

जब ही श्याम तन अति विस्तार्यो
चटचटात टूटत अंग जान्यो 'शरण शरण' अहिराज पुकार्यो....

यह वाणी सुनत ही करुणानिधि, तुरत गये सकुचाई
यही वचन सुनि द्रुपद सुता के, दीनो चीर बढ़ाई...
यही वचन गजराज पुकार्यो गरुड त्याग तहाँ धाये
यही वचन सुन लाक्षागृह में, पांडव जरत बचाये...
यह वाणी प्रभु सह न सकत हैं, ऐसो परम कृपाल
'सूरदास' प्रभु अंग सिकोर्यो, व्याकुल जान्यो व्याल....

भगवान नाग दमन लीला कर रहे थे। नाग ने कृष्ण को लपेटे में लेकर उन्हें डूबो देने के लिए पूरी शक्ति लगाई। तब प्रभु ने अपने स्वरूप को बढ़ाना प्रारम्भ किया। तब चटचट करके उसके अंग टूटने लगे। असह्य पीड़ा से पीड़ित नाग "शरण, शरण" पुकारने लगा, इन शब्दों को सुनते ही प्रभु तुरंत सकुचा गये। उन्होंने अपने बढ़ते अंगों को संकुचित कर लिया।

पीड़ित प्रपन्न के 'शरण! शरण!' ये शब्द सुनकर प्रभु सारी बातें भूलकर कृपामय बन जाते हैं। हस्तिनापुर की सभा में दुष्ट दुःशासन जब द्रौपदी का चीरहरण कर रहा था, तब असहाय अवस्था में द्रोपदी 'शरण शरण' पुकारने लगी, प्रभु ने तुरंत उसकी लाज रखने के लिए चीर बढ़ा दिया। त्रिकूट पर्वत का गजेन्द्र मगर के जबड़े में फँस गया, उसके साथी उसे छोड़ कर जल से बाहर चले गये, मरणासन्न, असहाय हाथी हिम्मत हारकर श्री हरि की शरण में गया तब प्रभु गरुड़ से ज्यादा गतिमान बनकर आ पहुँचे और गजराज की रक्षा की। लाक्षागृह में आग लगने पर व्याकुल पांडव भगवान श्री हरि की शरण गये। पांडवों की शरणागति के परिणामस्वरूप प्रभु ने उन्हें लाक्षागृह में जलने से बचाया।

प्रभु इतने दयालु हैं कि भक्त की 'शरण! शरण!' की पुकार को सहन नहीं कर सकते और भक्त का दुःख भगवान के लिए असह्य हो जाता है। स्वयं का कष्ट भूलकर भक्त के कष्ट को दूर करने दौड़कर आ जाते हैं। **'औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार! भावै बंदा बकसिये, भावै गरदन मार।'** भगवान की शरण में आते हुए जीव प्रार्थना करते हैं कि 'प्रभु! मैंने अपराध तो अनेक किये हैं, मैं दुष्ट हूँ। दुष्कर्म करते समय जरा भी थका नहीं, लेकिन आपकी शरण में आया हूँ। आप क्षमा करें या मुझे नष्ट कर दें, फैसला आपके हाथ में है। आप जिसमें प्रसन्न हैं, मैं उसी में प्रसन्न हूँ। **"राजी हूँ मैं उसी में जिसमें तेरी रजा है।"**

जो प्रभु के प्रति शरण भाव तथा भगवदीयों के प्रति दीनता का भाव रखता है, प्रभु उसकी सेवा से प्रसन्न होते हैं। गोविन्ददास भल्ला, बहुत श्रम लेकर सेवा करते थे, परन्तु भगवत्सेवा अहंकार-पूर्वक करते थे। इसका कारण भाव का निर्वाह भी नहीं हुआ और दीनताभाव भी न रहा परिणाम-स्वरूप सेवा छूट गई और जीवन का अन्त भी क्लेशपूर्वक हुआ।

चकई री! चल चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग
जहँ भ्रम निसा होति नहीं कबहुँ, सोई सायर सुख जोग
जहाँ सनक सिव हँस, मीन मुनि, नख रवि प्रभा प्रकास

प्रफुल्लित कमल निमिष नहिं ससि-डर, गुंजत निगम सुवास
जिहिं सर सुभग मुक्ति मुकताफल, सुकृत अमृतरस पीजै
सो सर छाँडि कुबुद्धि विहंगम, इहां कहा रहि कीजै
लक्ष्मी सहित होति नित क्रीड़ा सोभित 'सूरजदास'
अब न सुहात विषय रस छीलर, वा समुद्र की आस।

अरी! चकई तू चल भगवान के चरण-सरोवर में, जहाँ प्रेमियों के प्रेम का वियोग कभी होता नहीं है। जहाँ पर भ्रम-निशा कभी होती ही नहीं, जिससे की वियोग की स्थिति बने अर्थात् वहाँ हमेशा दिन ही रहेगा (रात्रि होने पर चकवा चकवी अलग-अलग हो जाते है)। जो भगवान के चरणों में रहे, उनके आश्रित रहे, उनके चरणों की शरण में रहे, उसे कभी कोई भ्रम या अज्ञान का अंधेरा बाधक होता ही नहीं।

अपने संयोग सुख का अपार सागर प्रभु के चरणारविन्द में ही है, जिसे भगवान के चरणों का आश्रय हो, उसे सदा मिलन का सुख होता है। उसे कभी भी वियोग का दुःख नहीं भोगना पड़ता है।

भगवान के चरणों की महिमा अपार है। उनके चरण-सरोवर पर सनकादिमुनि, शिवजी जैसे (परम) हंसों का नित्य निवास है। जैसे जल मछली का जीवन है उसी प्रकार मुनियों का जीवन ही चरण-सरोवर है। मुनि यदि प्रभु के चरणों से अलग हो जायें तो तड़फ-तड़फकर प्राण दे दें। प्रभु के चरण-नख की कांति का प्रकाश अर्थात् मिलन और अंधकार अर्थात् वियोग भक्तों के हृदय-कमल वहाँ हमेशा खिले रहते हैं। उन्हें चन्द्रमा का डर लगता ही नहीं, क्योंकि सूर्य अस्त हो और चन्द्र उदय हो, तो कमल को बंद होना पड़े। कमल की सुगंध में भ्रमर नित्य गुंजार करते रहते हैं। यह गुंजार वेद की ध्वनि है। प्रभु के चरणरूपी सरोवर पर मुक्तिरूपी मुक्ता-फल और चौतरफा अमृत जल का पान वही कर सकता है, जो पुण्यात्मा हो। ऐसे चरण-कमलों को छोड़कर कौन इधर-उधर भटकेगा। जो मूर्ख हो, मंदभाग्य वाला हो, वहीं इस अमृत-सरोवर का त्याग करेगा। जहाँ लक्ष्मीजी सहित सर्वशक्तियाँ लीला-विलास करती हैं उस परमानंद रूप अमृत सरोवर को छोड़कर विषय के गड्ढे के गन्धाते जल की कामना कौन करें? अतः अनन्यभाव से भगवान् श्रीकृष्ण की शरणागति ही आनन्द का साधन है। ●

हम किसकी शरण में जायें सभी तो मृत्यु से घिरे हुए हैं। जो निर्भय हो, उसी की शरण में जाना उचित है। भगवान के अतिरिक्त और कोई निर्भय दिखलाई नहीं देता। (सुबो १-८-९)

भगवान की शरण में जाने से ही हमारे हृदय में उत्पन्न हुआ भय नष्ट हो जाता है।
(सुबो १०-६-१)

भगवान की शरण लेने मात्र से सर्वत्र सब प्रकार से निर्भयता हो जाती है।
(सुबो १-१६-३२)

इसलिए सभी प्रकार के भय से मुक्ति के लिए भगवान ही एकमात्र शरणस्थल हैं।
(सुबो १०-३६-६)

षड्विधा-शरणागति

शरणागति के छः अंग हैं –

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रतिकूलविसर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनैवेद्य कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

भगवान के अनुकूल रहने का संकल्प, जो उनके अनुकूल न हो उसका त्याग, वे रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास, स्वामी के रूप में भगवान को स्वीकार करना, आत्मनिवेदन एवं दीनता, शरणागति के ये छः प्रकार हैं।

आनुकूलस्य संकल्प :

आनुकूलस्य संकल्पः अर्थात् भगवान के अनुकूल होकर रहने का संकल्प। भगवदीय को भगवत्-भाव में, भगवत् -सेवा में अनुकूल होकर रहने का संकल्प करना चाहिए। इस भावना में अनन्यता का बीज समाया हुआ है। श्रीकृष्ण के उपदेश को श्रवण करने के बाद अर्जुन ने इसी प्रकार की शरणागति स्वीकार की थी और कहा था, 'करिष्ये वचनं तव'। हे कृष्ण! अब मैं पाप पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नर्क के तर्क-वितर्क नहीं करूँगा। आप परब्रह्म हैं, इसलिए मुझे कुछ विचार करना शेष रहता ही नहीं। अब आप जो आज्ञा करेंगे, उसे मैं करने को तैयार हूँ। भक्त को भगवान की, शिष्य को गुरुदेव की और सेवक को स्वामी की आज्ञा के अनुकूल होकर रहना चाहिए। यही उसका स्वधर्म है उसी से प्रभु, गुरु, स्वामी प्रसन्न होते हैं।

'पति कहे सो कीजिए, आपहि ते बस होय' जिस प्रकार पत्नी अपने पति के सर्वथा अनुकूल होकर रहती है तो उसका पति स्नेहवश उसके आधीन हो जाता है। भगवदीयों का धर्म है कि भगवान को प्रसन्न करने के लिए यह जानना चाहिए कि प्रभु को क्या अनुकूल है और क्या अनुकूल नहीं है। प्रभु से कोई प्रार्थना (याचना) नहीं करनी चाहिए। किसी भी प्रकार का दुराग्रह भी नहीं करना चाहिए। प्रभु जो परिस्थिति पैदा करते हैं, उसमें स्वयं का कल्याण समझना चाहिए। अनन्यभाव से भक्ति करना चाहिए। शुद्ध भाव रखना चाहिए दुःखीजनों के प्रति दया का, करुणा का भाव रखना चाहिए। गुरु में निष्ठा रखने से भी प्रभु प्रसन्न होते हैं।

प्रतिकूल-विसर्जनम्

भक्त को चाहिए कि भगवान को प्रतिकूल लगे उसका त्याग करें। भगवान को अधर्म, अहंकार, असूया, अन्याश्रय और अन्यासक्ति अच्छी नहीं लगती है।

श्री महाप्रभुजी के वचनामृत हैं कि भगवान को धुआं अप्रिय है तथा उससे भी अधिक अप्रिय लगता है भक्त का द्वेषी। श्रद्धापूर्वक कोई मूर्ति का पूजन करे, परन्तु दूसरों के प्रति द्वेषभाव रखे तो उसकी की हुई सेवा-पूजा कभी सफल नहीं होती है। 'नार्थदा पुरुषद्विषाम्' दूसरे के प्रति द्वेष रहित होकर भगवान की पूजा करता है तो ही उसकी पूजा, सेवा, भक्ति सार्थक होती है। समुद्र-मंथन के प्रसंग में दैत्यों ने परिश्रम तो किया, अमृत की प्राप्ति के लिए, पुरुषार्थ तो किया, परन्तु वे भगवान से विमुख थे इसलिए उन्हें अमृत नहीं मिला। भगवान से प्रतिकूल रहे उसका पुरुषार्थ भी क्लेश में बदल जाता है। 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा' प्रभु को कपट, छल आदि दोष अच्छे नहीं लगते।

रक्षिष्यतीति विश्वासः

भगवान मेरी अवश्य रक्षा करेंगे, ऐसा दृढ़ विश्वास भक्ति का अंग है। भगवान ने शरणागत की रक्षा करने का व्रत लिया है। '**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मि इति याचिते अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद व्रतं मम**' कोई जीव एक बार शरण में आकर कहे मैं तुम्हारा हूँ तो मैं उसे सबसे निर्भय बनाता हूँ यह मेरा व्रत है। प्रभु के इस व्रत पर विश्वास करके भक्त निश्चिंत रहते हैं। भगवान सर्वत्र हमारी रक्षा करेंगे, ऐसा विश्वास अंबरीष, प्रहलाद जैसे भगवदीयों के सुन्दर भक्तिमय चरित्रों से समझ में आता है और विश्वास दृढ़ होता है।

'भगवान मेरी रक्षा करेंगे' ऐसे दृढ़ विश्वास से भक्त को भारी मानसिक शक्ति और दृढ़ संकल्प की प्राप्ति होती है। जीवन-पथ पर कदम-कदम शंका-कुशंका रहेगी तो मनुष्य सहज में ही थक जाएगा। वह कहीं गति नहीं कर सकेगा, उसे थोड़ी भी शांति नहीं मिलेगी। यह विश्वास उसे बल और सतत् उत्साह देता है। वास्तव में भगवान उसके विश्वास की रक्षा भी करते हैं। श्री गिरिराज धारण करते समय भगवान ने कहा था कि आप मेरे हो, मेरे परिवार रूप हो, तुम्हारी रक्षा करना यह मेरा धर्म है। भक्त की रक्षा करना यह भगवान का व्रत है, इसलिए भगवान सत्यव्रत हैं इसलिए इस व्रत का निर्वाह करेंगे ही '**कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् समर्थ**' प्रभु शरणागत की रक्षा करते हैं।

भर्तृत्वे वरणम्

भगवान ही मेरे स्वामी हैं। उनका मुझ पर पूरा-पूरा अधिकार है, यह भाव होना चाहिए। भगवान का स्वामी होना भक्त का अभेद्य कवच है। भक्त इस कवच में सुरक्षित रहकर निश्चिंत होकर भक्ति-साधना में निमग्न रहता है।

हमारे विठ्ठलनाथ धनी।
भवसागर से काढ़े कृपानिधि, राखे शरन अपनी...
रसना रटत रहत निशिवासर, शेष सहस्त्र फनी
'छीत स्वामी' गिरिधरन श्रीविट्ठल त्रिभुवन मुकुट मनी....

भर्ता पति के रूप में भगवान ही वरणीय हैं क्योंकि-

यमङ्गी कुरुते कृष्णः सदोषमपि तं क्वचित् ।
न जहाति जनं नित्यस्वीकृतिः कृपयाप्लुतः ॥

श्रीकृष्ण जिनको अंगीकार करते हैं, वह जीव दोषयुक्त हो तो भी वे निजजन का त्याग नहीं करते। भगवान की स्वीकृति, नित्यस्वीकृति है। भगवान तो स्वयं कृपा से भरपूर हैं। ऐसे पति कहाँ मिलेंगे? केवला शरणमार्ग में ही मिलेंगे।

आत्मनैवेद्य

आत्मनिवेदन करना शरणागति में ही संभव है। भक्त भगवान का पूर्ण अवलंबन स्वीकार करता है। स्वनिवेदन और स्वकीय सर्वनिवेदन इन दोनों रीतियों से भगवान को निवेदन करना चाहिए। शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय, बुद्धि तथा अहंकार के अनुसार चलते हुए स्वभाव के द्वारा मनुष्य जो-जो कर्म करता है, उस उसका भगवान को निवेदन करना चाहिए।

'**प्रीत्यै सर्वं तदर्पणम्**' देह आदि सब कुछ भगवान की प्रीति के लिए भगवान को निवेदन कर देना चाहिए। जाने या अनजाने में भी जो अमृत पी जाता है, वह अमर हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान से, अज्ञान से या अनन्यभाव से जो प्रभु को सर्वस्व निवेदन कर देता है वह प्रभु का बन जाता है। जीव को थककर, हारकर भी अन्ततोगत्वा भगवान को आत्मनिवेदन करना ही पड़ता है। '**सर्वथा भग्नोपाय एव भगवत्परो भवति**' जिसके सब उपाय नष्ट हो गए हों उसे प्रभु-परायण होना ही पड़ता है।

यत्कर्तव्यं भगवतैव तच्चेत् क्रियतेकृपया स्वव्रतविचारेण,
अस्मद् भाग्येन, तस्यैव वा कार्यार्थम् तदैव निस्तार, नान्यथा।

आत्मनिवेदी भक्त कहता है कि -'कृपा से भगवान के शरणागत रक्षारूपी व्रत का विचार करके अपने भाग्य के कारण या प्रभु के किसी कार्य के लिए जो कुछ करना है, वह प्रभु स्वयं भी करते हैं तभी पूरा पड़ता है अन्यथा नहीं हो सकता।'

कार्पण्य

भगवान को प्राप्त करने के लिए भक्त को आर्द्र हृदय से, दीनतापूर्वक आतुरतापूर्वक गिड़गिड़ाना पड़ता है। प्रभु कोई सरलता से हँसते, खेलते किसी को नहीं मिल जाते हैं। 'हँस-हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय' जिसने उसके विरह में वर्षों तक आँसू बहाये हैं। उनके दर्शन के लिए जिनकी आँखें पथरा गई है और जो उन्मत्त की तरह उन्हें पुकारते रहते हैं, उन्हें प्रभु मिले हैं।

भक्त के हृदय में कैसा कार्पण्य होना चाहिए। इसका निरूपण श्री हरिरायजी ने बहुत ही सुन्दर तरीके से किया है। ''न तो मुझ से भगवत्-सेवा होती है और न ही भगवत् -कथा का श्रवण होता है। न ही भावना है और न ही आश्रय है। चित्त हमेशा उद्वेग वाला रहता है, सत्संग दुर्लभ है, मेरी क्या गति होगी?'' ''हम दीन, दोषों से भरे हुए, भाग्यहीन, निःसाधन और विपरीत मति वाले हैं। दयां कुरु! दयां कुरु!! दया करो! दया करो!!''

जीव को विनयपूर्वक निवेदन करना चाहिए कि, ''मैं दीन अपराधों का भंडार, आश्रय हूँ, अकिंचन तथा अगतिक हूँ।'' 'त्वमेवोपायभूतो मे भव' हे प्रभु आप मेरे उपाय रूप बनिए। हे दीनवत्सल! इस असह्य और उग्र संसार-चक्र में पीसे जाने के भय के कारण मुझे अत्यन्त कष्ट हो रहा है, मैं अपने कितने ही कर्म बंधनों में बँधा हुआ हूं, इसलिए मैं स्वतंत्र नहीं हूं। हे नाथ आप अपनी शरण में मुझे

कब लेंगे? शरणागत भक्त को भगवान के पास आकर अपने दोषों का वर्णन करना चाहिए। दीन भाव के बिना शरणभाव सिद्ध नहीं होता। अपने अहंकार को तोड़ने के लिए तथा प्रभु की कृपालुता को पाने के लिए जीव को स्वदोषों का, अपने अपराधों का, अपने स्वरूप का दर्शन तथा उनका वर्णन करना चाहिए। यह शरण भाव के लिए आवश्यक प्रक्रिया है।

मों सम कौन कुटिल खल कामी
तुमसों कहा छिपी करुनामय, सबके अन्तरजामी
जिहि तन दियो ताहि बिसरायौ, ऐसो नोनहरामी
भरि-भरि उदर विषै को धावत, जैसे सूकर ग्रामी
सुनि सत्संग होत जिय आलस, विषयिनि संग बिसरामी
श्री हरिचरन छांडि विमुखन की, निसि दिन करत गुलामी
पापी परम अधम अपराधी, सब पतितन में नामी
'सूरदास' प्रभु अधम उधारन, सुनियै श्री पति स्वामी

श्री सूरदासजी ने, एक भगवदीय को किस प्रकार से भगवान के सम्मुख दीनता प्रकट करना चाहिए, इसका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि, 'हे करुणामय! कृपालु प्रभु! इस जगत में मेरे जैसा कपटी, दुष्ट जीव दूसरा और कौन होगा? मेरे जैसा विषयी जीव कोई नहीं होगा। आप तो सबके अन्तर्यामी हैं, आपसे क्या छिपा है?'

मेरे अपराधों को तो देखिए ! भगवान ने ऐसा उत्तम मानव शरीर दिया है और मैं उन्हें ही भूल गया। कैसा कृतघ्न हूँ! जैसे सुअर उसके मन भावते पदार्थों में ही मग्न रहता है वैसे ही मैं भी मात्र पेट भरने में और संसार के सुखों के ही पीछे दौड़ने में जीवन की सफलता मानता हूँ। मुझे भोग-विलास की बातों में और दुःसंग में ही सुख मिलता है, परन्तु मुझे सत्संग में रुचि ही नहीं है। सत्कथा में आलसी प्रमादी हूँ। कृपासागर प्रभु के चरणों को छोड़कर, मैं दुष्ट बहिर्मुख मनुष्यों की गुलामी कर रहा हूँ। मेरे जीवन की यह कैसी हीनता तथा दुर्दशा है।

मैं पापी हूँ। परम अपराधी हूँ और सारे पतितों में अग्रगण्य हूँ। हे कमलापति मेरे स्वामी! आपने लक्ष्मीजी को स्वीकार किया है न । लक्ष्मी चंचल प्रकृति की है, मनुष्य को अहंकारी बनाती है, फिर भी आपने उन्हें स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि यदि आप किसी जीव का उद्धार करना चाहें तो उसके दोषों को देखते नहीं। यह बात सत्य है। हे कृपानिधान प्रभु! मेरा भी उद्धार करो। कृपा करो, कृपा करो।

जीव दीनतापूर्वक शरणभाव रखे तो प्रभु उसे बिना परिश्रम के वह सिद्धि देते हैं, जो अति परिश्रम से भी नहीं मिलती। उज्जैन के पद्मा रावल श्री महाप्रभुजी की शरण में गये और प्रार्थना की कि, "महाराजाधिराज ! मैं तो मूर्ख हूँ, पढ़ा-लिखा नहीं हूँ। कुछ जानता नहीं, समझता नहीं। हमारी जाति के ब्राह्मण कर्मजड स्मार्त हैं। मैं आपकी शरण में आया हूँ। आपका सेवक बनने से वे मुझे दुःख देते हैं।" श्री महाप्रभुजी ने अपने चरणारविन्द का प्रसादी चंदन और चरणामृत पद्मा रावल को दिया। उसे मुख में रखते ही उन्हें वेद, पुराणों और शास्त्रों का ज्ञान हो गया। फिर तो वे बड़े-बड़े पंडितों को

शास्त्रार्थ में हरा देते थे। प्रभु की शरण से कैसी महानता मिलती है?

विष्णुदास छीपा की कथा भी मनन करने योग्य है। वे आगरा के पास एक गाँव में रहते थे। उनके पिताजी वस्त्र छापते और विष्णुदासजी आगरा जाकर बेचते थे। एक बार श्री आचार्यजी आगरा पधारे। साथ में कृष्णदास भी थे। छींट के वस्त्र श्रीमहाप्रभुजी को अच्छे लगे। विष्णुदास ने चारगुनी कीमत बताई। कृष्णदास ने कुछ न कहकर रुपिये गिन दिये। ऐसी धर्मभावना देखकर विष्णुदास श्री महाप्रभुजी की शरण में आये। उन्होंने प्रार्थना की, 'महाराज! मैं मूर्ख हूँ। इसलिए भागवत आदि ग्रन्थों का ज्ञान हो, आपके मार्ग का सिद्धान्त कुछ समझ में आवे, ऐसी कृपा करें।' श्रीआचार्य ने 'सेवाफल' ग्रन्थ विष्णुदास को सुनाया। इस ग्रन्थ का श्रवण करने से विष्णुदास को सारे शास्त्रों का ज्ञान हो गया। उन्होंने प्रार्थना की-'महाराज! सेवाफल ग्रन्थ के सुनने से सगरे शास्त्र पुराण को ज्ञान भयो, परन्तु सेवाफल ग्रन्थ को अभिप्राय समुझिवे में नाहीं आयो।' सेवाफल ग्रन्थ का श्रवण करने से सारे शास्त्रों का ज्ञान तो हो गया, परन्तु यह सेवाफल ग्रन्थ मेरी समझ में नहीं आया। तब श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि सेवाफल ग्रन्थ ऐसा ही कठिन है। तूने पूछा, यह अच्छा किया। फिर आचार्यजी ने सेवाफल की टीका करके उन्हें समझाई। तब पुष्टिमार्ग के समग्र सिद्धान्त विष्णुदास को हृदयारूढ़ हुए। वे आनंदित हो गए। श्रीवल्लभशरण का यह प्रताप है।

रे सठ, बिन गोविन्द सुख नाहीं।
तेरो दुःख दूर करिबैको, रिद्धि-सिद्धि फिरि फिरि जाही...
सिव विरंचि सनकादिक मुनिजन, इनकी गति अवगाही,
जगतपिता जगदीश सरन बिनु सुख तीनी पुर नाहीं
और सकल में देखे ढूंढे, बादर की सी छाहीं।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु, दुःख कबहूँ नहिं जाहीं।।....

हे शठ जीव! तू गोविन्द को भज, क्योंकि गोविन्द के बिना सुख नहीं है। जगत में उनके बिना कहीं भी सुख नहीं है। यदि तुझे भगवान की शरण नहीं मिली तो भगवत्-कृपा नहीं होगी। इतना ही नहीं तेरे दुःखों को दूर करने के लिए रिद्धि-सिद्धि आयी हो तो वापस फिर जावेंगीं। हाथ में आये हुए सुख, समृद्धि, सफलता सब वापस हो जावेंगे।

मैंने शिव, ब्रह्मा, सनकादि, मुनिजन के अभिप्राय को जाना। इन सबकी मनोवृत्ति भगवान श्रीकृष्ण में ही है। सारे देव उनको ही भजते हैं। वे सबके आश्रय हैं। इन जगतपिता जगन्नाथ श्रीहरि की शरण में गये बिना तीनों लोकों में कहीं भी सुख नहीं है।

इस जग में बहुत से दूसरे सुखों को मैंने टटोला है और उनका अनुभव भी लिया है, परन्तु मुझे तो वे सारे सुख बादल की छाया जैसे लगे। जैसे बादल की छाया क्षणिक सुख देती है, ऐसे ही संसार के अन्य सारे सुख क्षणिक ही सुख देते हैं। सूरदासजी का मत तो एक ही है कि भगवान के भजन के बिना दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति कभी भी नहीं हो सकती है।

•

स्वाध्याय ४०

निःसाधनता

साधन-निःसाधनता

जब लौकिक, वैदिक एवं अन्य सभी गौण धर्म दुष्कर हो गये हैं, ऐसी स्थिति में घोर कलिकाल में भी पुष्टिमार्ग में पुष्टिजीव कृपारूप मुख्य भगवत्-धर्म के सामर्थ्य से सरलता से संसार पार कर सकते हैं। निःसाधन जीव का भी कृपामार्ग में सरलता से उद्धार हो सकता है।

पुष्टिजीव का बल भगवान का प्रमेय बल ही है। प्रमेय बल भगवान का ऐसा बल है जिसमें काल, कर्म और स्वभाव जैसे कारणों के प्रभाव को भी हटा कर भगवान अपने अंगीकृत शरणागत जीव पर कृपा करके उसका उद्धार कर देते हैं। ऐसी भगवत्कृपा के ही कारण :-

'अहन्यापृतं निशिशयानमतिश्रमेण लोकं विकुंठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम् ॥' दिन में लौकिक व्यापार करते-करते अत्यन्त श्रमित होकर रात्रि को गाढ़ निद्रा में सो जाने वाले गोकुल के जीव हैं। परलोक सुधारने के जो साधन है उससे भी वे सदा वंचित ही हैं फिर भी भगवान् ऐसे निःसाधन, शरणस्थ, गोकुल के जीवों को, परमफल का दान करते हैं।

भगवान ऐसे कृपालु ही हैं कि साधनरहित, शरण में आये हुए जीवों को स्वयं अंगीकार करते हैं, उन्हें अपना बनाते हैं, उन्हें उभय फल का दान करते हैं। उभयफल अर्थात् उनके दुःखों को मिटा कर सुख की प्राप्ति कराते हैं।

अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥

पुष्टिमार्ग में लौकिक और वैदिक सिद्धियाँ, सर्व प्रकार के कार्य, किसी भी साधन की सहायता के बिना केवल हरिकृपा से ही होते हैं। यदि इन सिद्धियों के लिए जीव यत्न करे तो उल्टा विघ्न ही होता है।

भक्त की अभिलाषा को भगवान ही सिद्ध करते हैं। भक्त के हृदय में कोई कामना तभी उठती है, जबकि भगवान ने उसे पहले से ही सिद्ध कर रखी हो। इस प्रकार पहले फल सिद्ध होता है। फिर उसका साधन होता है। कृपामार्ग सर्वोत्तम मार्ग है, क्योंकि यहाँ सब सफल हैं, फल रूप ही हैं।

कृष्णभक्ति अमोघ साधन

न द्रष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन कृष्णमनामयम् ।
न मुक्तः सर्वथा यस्माद् गोप्यो गावस्तथाऽभवन् ॥

किसी भी योनि का जीव हो यदि वह उन गुणातीत भगवान् श्रीकृष्ण का भजन करता है, तो वह सर्वथा मुक्त हो ही जाता है। कृष्णभक्ति रूप साधन करने वाला जीव चाहे दैवी हो या आसुरी हो, चाहे पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र, चाहे जो भी हो, उसका उद्धार होता ही है। आज तक ऐसा उदाहरण देखने में नहीं आया कि कृष्ण-भजन करने वाले का उद्धार नहीं हुआ हो, उसे मुक्ति न मिली हो। पशु, पक्षी, हाथी, राक्षस ऐसे अनेकों निम्न कोटि के जीव जो अपनी ज्ञान-दृष्टि से अपने स्वरूप तथा प्रभु के स्वरूप को जानने में अक्षम थे, वे भी भगवान के संबंध से मुक्त हो गए। उन्होंने श्रीकृष्ण को प्राप्त किया है।

हम शरण लें, प्रभु वरण करें -

कठोपनिषद् एवं मुंडकोपनिषद् में एक सुन्दर मंत्र है जिसमें जीव की निःसाधनता का निरूपण स्पष्ट रूप में किया गया है -

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥'

प्रभु किसी को प्रवचन, तीव्र बुद्धि अथवा अत्यन्त ज्ञान से नहीं मिलते हैं। वे तो, जिसका वरण करते हैं, उसे ही प्राप्त होते हैं और उसी के समक्ष वे अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं।

भगवत् -प्राप्ति कराने में समर्थ कोई साधन हमारे पास नहीं है। प्रभु किसी साधन से साध्य नहीं हैं। यदि वे साधन-साध्य हों तो उनकी प्रभुता-विभुता कुंठित हो जाय और साधन की महिमा बढ़ जाय। ऐसा नहीं हो सकता। प्रभु साधन-साध्य नहीं हैं। भगवान कब और किसे मिलेंगे, यह सब उनकी मुक्त, स्वच्छन्द, इच्छाशक्ति पर निर्भर है। अगणित जीवों में से किसी एक जीव का प्रभु अपने कृपापात्र निजजन के रूप में वरण करते हैं और वह जीव धन्य हो जाता है, उस पर आत्यन्तिक सुख की वृष्टि हो जाती है।

तो क्या जीव को कुछ भी नहीं करना चाहिए? इसका कर्त्तव्य क्या है? साधन-बल तो चलता नहीं है परन्तु जीव के लिए तो एकमात्र अवलंबन शरणागति ही है। जीव को अहंकार को छोड़कर, नम्र भाव से प्रभु की शरणागति स्वीकार करना चाहिए। प्रभु जिस प्रकार रखें वैसे रहने के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। उनकी कृपा को सहेजने की तत्परता और पूर्णरूपेण समर्पित भाव शरणागत भक्त का लक्षण है। **यदि माधव के हाथ में वरण है तो मानव के हाथ में शरण।**

निःसाधनता

'समर्थो भगवान् साधनाभावेऽपि फलं दातुम्' जीव ने यदि साधन न किया हो तो साधन के अभाव में भी प्रभु फल का दान करने में समर्थ हैं।

साधनता भी तो भगवान् ने ही बनाई है और साधन-संबंधी नियम अर्थात् जीवों को यह साधन करना तथा इतना करना आदि नियम भी प्रभु ने ही बनाये हैं, उनके द्वारा बनाए हुए इन नियमों को

तोड़ने, बदलने आदि में वे समर्थ हैं ही। इसलिए वे निःसाधन जीव को भी मानो उसने साधन किया है, यह मानकर, फल का दान करना चाहें तो वे वैसा करने में समर्थ हैं।

ज्ञानादि साधनों का असाधनत्व

ज्ञान आदि साधनों के द्वारा भी भगवान को पूर्णतः जानना या प्राप्त करना संभव नहीं है। स्वयं श्रुतियाँ कहती हैं कि **'इहास्मिन् संसारे को वा भगवन्तं जानाति? यतो वयं श्रुतयोऽपि न जानीमः'** इस संसार में भगवान को कौन जान सकता है? क्योंकि हम श्रुतियाँ भी भगवान को नहीं जान सकती हैं। दुःख-निवारण के उपाय भी साधन रूप नहीं हैं।

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन् ।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः ।

जिस प्रकार किसी पुरुष के सिर पर भार असह्य लगने पर वह उस भार को कंधे पर ले लेता है, इससे उसका भार दूर तो हो नहीं सकता और न कम ही होता है। अपने त्रिताप को दूर करने के लिए जीव जो-जो साधन करता है सब इसी तरह व्यर्थ हैं।

'नैकान्ततः प्रतिकारः कर्मणां कर्म केवलम्' भक्तिरहित अथवा ज्ञानरहित कर्म से दुःखों की निवृत्ति नहीं हो सकती है। सारे प्रयत्न कर करके थके-हारे जीवों को अन्ततः निःसाधनता ही स्वीकारनी पड़ती है। 'श्रीनवरत्न' में 'अज्ञानात् अथवा ज्ञानात्' यह कहकर अज्ञानी एवं ज्ञानी दोनों की कृति में समता निरूपित की है। भगवान के विषय में तो आत्मज्ञान की अपेक्षा आत्मनिवेदन ही सार्थक है। ज्ञान से क्या मिलता है? जहाँ साधनों का ही अभाव हो वहाँ ज्ञानी को भी क्या फल मिल सकता है? अर्थात् ज्ञान-साधना भी काम नहीं आती।

निःसाधन के नाथ

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः

'चतुःश्लोकी' में श्री महाप्रभुजी ने प्रभु के लिए 'व्रजाधिप' शब्द का प्रयोग किया है। व्रज के अधिपति भगवान व्रजाधिप हैं। यहाँ निःसाधनता दर्शाने के लिए व्रज शब्द का प्रयोग किया गया। पूर्ण पुरुषोत्तम ही निःसाधन जीवों के पति हो सकते हैं। भगवान ने स्वयं गोकुल के नाथ अर्थात् अधिपति होना स्वीकार किया है। श्री गिरिराजजी को धारण करते समय **'तस्मात् मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् ।गोपाये स्वात्मयोगेन सोयं मे व्रत आहितः'** अर्थात् मैं ही जिनका नाथ हूँ तथा मैंने ही जिन्हें स्वकीय रूप में स्वीकार किया है, ऐसे गोकुल का मैं अपने आत्मयोग से रक्षण करता हूँ। यह मेरा व्रत है। ऐसा कहकर प्रभु ने व्रज को निःसाधन मानकर स्वयं उसके अधिपति के रूप में उसके रक्षक बने हैं।

निःसाधनता ही साधन

श्री हरिरायचरण पुष्टिमार्ग का लक्षण बताते हैं :-

सर्वसाधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम् ।
फलं वां साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥

जिस मार्ग में सर्व लौकिक तथा अलौकिक साधनों का अभाव ही पूर्णानंद श्रीकृष्ण रूपी फल की प्राप्ति में साधन रूप हैं, वह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है।

कृपा मार्ग में जीव की निःसाधनता किसी भी प्रकार सिद्ध होनी ही चाहिए। भगवान की लीला अद्भुत है। पुष्टिमार्गीय, जीव जब समस्त लौकिक-दैविक साधनों को त्याग कर भगवान की शरण में जाता है तो मर्यादामार्गीय साधन जीव को छोड़कर अपने आप चले जाते हैं।

कभी प्रभु जीव को क्लेशों का अनुभव कराकर साधन का त्याग कराते हैं, तो कभी उसे आनंद का अनुभव कराकर सारे साधनों को छुड़ा देते हैं। निःसाधनता का विचार करके ही आश्रय भाव का विचार करना चाहिए। आज ऐसा समय है जो कि सभी की बुद्धि नष्ट कर देता है। पग-पग पर दुःसंग आता है। हमारा कर्त्तव्य क्या है, यह समझना मुश्किल है। कालदोष से आज साधन सिद्ध नहीं होते। इतना ही नहीं अपितु उद्वेग, प्रतिबंध और लौकिक भोग उत्पन्न होते जाते हैं। यह सब होते हुए भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। यदि श्री वल्लभ के चरणों का दृढ़ आश्रय है तो पुष्टिमार्ग में स्थिति भी रहेगी और पुष्टिमार्गीय फल भी मिलेगा। लीला में श्रीस्वामिनी की सखी 'भद्रा' महावन की क्षत्राणी के रूप में अवतरित हुई। श्री महाप्रभुजी से नाम-निवेदन प्राप्त कर उसने अपने कर्त्तव्य संबंधी आज्ञा माँगी। श्री महाप्रभुजी ने भगवत् -सेवा करने की आज्ञा दी। तब वह कहने लगी-'महाराज! लीला में तो हमेशा आपकी सेवा की है। (आपश्री स्वामिनीजी के रूप में विराजते थे तब सेवा की है) अब मुझे भगवत् -सेवा करने के लिए क्यों कहते हैं? भगवत् -सेवा तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु (साक्षात्) चरणारविंद मिलना मुश्किल है। इसलिए मैं हमेशा आपके संग रहूँगी, आपके दर्शन करूँगी। मुझे एकमात्र आपके चरणारविन्द का ही आश्रय है। मुझे साधन में न डालें। मुझे तो आपके चरणकमल का ही आश्रय है। जिसे फलात्मक भाव सिद्ध हो जावे उसे वास्तव में साधन में पड़ने की आवश्यकता नहीं रहती।

निःसाधन भगवदीय के हृदय में ज्ञान के प्रकट होने के लिए उपदेश की भी आवश्यकता नहीं होती। प्रभुदास भाट तो बचपन से ही महामूर्ख थे। कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे। मथुरा में श्री महाप्रभुजी ने उन्हें सेवक बनाया था। भगवत्-सेवा करने की आज्ञा की थी। प्रभुदास से कहा-'महाराज! यह तो केवल आपकी कृपा है कि आपने प्रमेय बल से मुझे अंगीकार किया। मेरे जैसा दुःखी कोई नहीं था। फिर भी क्षण में ही आपने मुझे सुख के समुद्र का अनुभव करा दिया। अब यही विनती है कि मुझे कभी दुःसंग न रहे और आपके चरणों का ही दृढ़ विश्वास रहे (इन दोनों विनती में प्रभुदास ने बहुत मार्मिक बात की है कि दुःसंग न रहे और श्रीआचार्यजी का अर्थात् सद्गुरु के चरणों का दृढ़ विश्वास रहे तो वैष्णव को कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं। फिर तो सब प्रभु ही करते हैं। श्रीमहाप्रभुजी ने उनसे कहा कि सारी रीति तुझे अपने आप स्फुरित होगी। प्रपन्न जीव को निःसाधन भक्त की कृपा का फल मिलता है। साधन करने वाले को साधन के अनुसार ही फल मिलता है जबकि निःसाधन, दीन, स्नेही को तो भगवान की कृपा से ही असीम फल प्राप्त होता है।

ऐसे निःसाधनभाववाले दृढ़ाश्रयी जीव को तीर्थ का आश्रय भी अच्छा न लगे, यह स्वाभाविक है। प्रभुदास ने सेवा और सत्संग में ही जीवन व्यतीत किया। सारा लौकिक-वैदिक छोड़ दिया। ऐसा करने के कारण वैष्णव उनकी प्रशंसा करते थे, लेकिन जाति के लोग निन्दा करते। प्रभुदास ने इस

पर ध्यान नहीं दिया। जब वे वृद्ध हो गये, अंतसमय पास में आया तब उन्हें देह का भान न रहा। जाति के लोग उन्हें '**पृथोदक तीर्थ**' ले गये। जब सहज ही उनकी चेतना लौटी तो उन्होंने आँखें खोलीं। 'पृथोदक तीर्थ' देखा तो उन्होंने अपने स्वजनों को ठपका देते हुए कहा-'यह पृथोदक तीर्थ कहा मो को कृतार्थ करेगो? हों तो श्रीआचार्य महाप्रभु को सेवक हों।' वल्लभ के सेवक को तीर्थाश्रय करने की जरूरत ही क्यों? आप मुझे वर्षभर यहीं रखो तो भी मेरे प्राण नहीं निकलेंगे। आप मुझे वापस सिंहनद ले चलो। वहाँ श्रीठाकुरजी के दर्शन करूँगा अन्यथा मेरी देह नहीं छूटेगी। ऐसा ही हुआ। भगवदीय उनकी प्रशंसा करने लगे "प्रभुदास धन्य हैं। बड़े भगवदीय हैं, जिन्होंने तीर्थ का आश्रय न लिया। श्री ठाकुरजी का ही आश्रय लिया।"

भगवदीय को भगवदाश्रय के अतिरिक्त किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कर्मदोष की निवृत्ति के लिए स्वभाव-परिवर्तन के लिए और कलिकाल के प्रभाव से मुक्त होने के लिए भी किसी लौकिक-वैदिक साधन को करने की आवश्यकता नहीं है।

जब लग यमुना गाय गोवर्धन, जब लग गोकुल गाम गुसांई
जब लग श्री भागवत कथारस, तब लग कलियुग नाहिं
जब लग है सेवारस जग में, नंदनंदन सो प्रीत बढ़ाई
'परमानंद' तासों हरि-क्रीड़त, श्रीवल्लभ चरणरेणु जिन पाई...

इन सब अलौकिक संबंधों से ही कलि का प्रभाव दूर रहता है। जब तक भगवदीयों के आश्रय यमुनाजी, गाय, गिरिराज, श्री गोवर्धन है एवं उनके साथ संबंध है तब तक भक्तों पर कलियुग का प्रभाव नहीं होगा। श्री गोकुलवास ब्रजवास हो, श्रीवल्लभ अथवा वल्लभनंदन का आश्रय हो, जब तक भगवदीयों को श्रीमद् भागवत कथा का रसपान करने का अवसर मिलता है, तब तक उन्हें कलियुग से डरना नहीं चाहिए। यदि ये आश्रय हैं तो कलियुग उनका क्या बिगाड़ सकता है?

पुष्टि-सृष्टि में भगवदीयों के घरों में जब तक सेवारस है। भक्तों के हृदय में नंदनंदन श्रीकृष्ण के प्रति प्रीति है जिन्हें श्रीवल्लभ की चरणरज मिली है या उनके चरणों का दृढ़ आश्रय मिला है, उसके कलिदोष के निवारण की बात ही क्या करें? उसके साथ तो प्रभु स्वयं खेलते आते हैं, उसके साथ बोलते, चालते एवं घूमते-फिरते हैं। ऐसे उत्तम सुख की प्राप्ति भगवदीयों को भगवान् के आश्रय से अथवा भगवान के संबंधियों के आश्रय से होगी। शरणागति निःसाधनता है। दीनता निःसाधनता है। सच्चा स्नेह निःसाधनता है। प्रभु को निःसाधन भक्त बहुत प्रिय हैं। ●

राग मलार

श्याम गरीबनि हूँ के गाहक।
दीनानाथ हमारे ठाकुर, साँचे प्रीति निबाहक।
कहा बिदुर की जाति-पाँति कुल प्रेम-प्रीति के लाहक।
कहँ पांडव कै घर ठकुराई? अरजुन के रथ वाहक।
कहा सुदामा के धन हो? तो सत्य-प्रीति के चाहक।
'सूरदास' सठ, ताते हरि भजि आरत के दुख दाहक।।

श्रद्धा

श्रद्धा-विश्वास

'विवेक धैर्याश्रय' ग्रन्थ में श्रीवल्लभ कहते हैं-

अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः॥

विश्वास रखने वाले के लिए सब सफल है। विश्वास न रखने वाले को कुछ भी फल नहीं मिलता। इसलिए अविश्वास कभी भी नहीं करना चाहिए। भगवान् में, भगवान् की कृपालुता में, शरण मार्ग में कभी अविश्वास नहीं करना चाहिए। शरणागति में तो अविश्वास सर्वथा बाधक है। भगवान को प्राप्त करने में जो अनेक कठिनाइयाँ हैं, बाधाएँ हैं उन सर्व बाधाओं में से सबसे प्रमुख बाधा अविश्वास है।

सूत्र के धागे में ब्रह्मास्त्र की भावना से हनुमान जी बँध गये। जब रावण को ऐसा अविश्वास हुआ कि इस सूत के धागे से इस वानर बलवान् योद्धा को पकड़े रखना संभव नहीं होगा। ऐसा अविश्वास होते ही हनुमानजी ने बन्धन तोड़ डाला। अविश्वास के कारण तो ब्रह्मास्त्र जैसा अस्त्र भी व्यर्थ हो गया। शरणधर्म में अविश्वास होने के कारण अन्य धर्म से सम्बन्ध जोड़ने पर शरणधर्म नष्ट हो जाता है।

विश्वास में चातक जैसी दृढ़ भावना करनी चाहिए। चातक पक्षी स्वाति नक्षत्र का ही जल पीता है। दृढ़ निश्चय करके बैठता है, उसके इस निश्चय एवं विश्वास के कारण स्वाति नक्षत्र में वर्षा होती है इसलिए दृढ़ विश्वास रखना चाहिए।

भगवान सर्वत्र सर्वरक्षक हैं यह कथन ठीक ही है कि - **'स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे'** जो भगवान गर्भ में रक्षा करते हैं, वे सर्वत्र रक्षा करेंगे। भक्त को स्वकृत समर्पण में तथा भगवत्कृत अंगीकार में संपूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। **'यदंगीकृत जीवनानां न दुःखं लेशतोपि हि'** प्रभु ने जिनका अंगीकार किया है, उन्हें लेशमात्र भी दुःख नहीं होता है। प्रभु सदानंद हैं। स्वरूप से, स्वभाव से, संबंध से और सर्व कार्यों से आनंदरूप ही है। उनसे संबंध होने के बाद जीव को दुःख कैसे रहेगा?

'चतुःश्लोकी' में श्रीमहाप्रभुजी का ऐसा मन्तव्य है कि, भक्त का रक्षण तथा भक्त के परम गोपनीय भाव, संरक्षणीय भाव का प्रभु रक्षण करेंगे ही।

'कर्त्तव्यं स्वयमेव करिष्यति' प्रभु का कर्त्तव्य तो प्रभु अच्छी तरह करेंगे ही। जीवों को ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि अपने से चाहे स्वधर्म पालन में कदाचित् प्रमाद हो जाय परन्तु प्रभु तो अपने कर्त्तव्य का निर्वाह अप्रमत होकर करते ही हैं। अपना धर्म ही है कि हम अपने धर्म का निर्वाह निष्ठापूर्वक करें। शेष श्रद्धापूर्वक प्रभु पर छोड़ दें।

श्री भागवतजी में एक सुन्दर प्रेरणादायी सूक्ति रत्न है -

पथिच्युतं तिष्ठति दिष्ट रक्षितं, गृहे स्थितं तद्धिहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने, गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति।।

ईश्वर ने जिस की रक्षा करने का निश्चय किया है, वह वस्तु रास्ते में पड़ी रहे तो भी यथावत् सुरक्षित रहती है और ईश्वर जिसका नाश करना चाहता है वह वस्तु घर में सुरक्षित रखी हो तो भी उसका नाश हो जाता है। इसी प्रकार प्रभु ने जिस पर कृपा दृष्टि की है वह अनाथ हो, वन में हो, तो भी वह जीवित रहता है। जब उनकी कृपा न हो तो, घर में सुरक्षित भी नष्ट हो जाता है।

रक्षण और सुख के बाहरी उपाय महत्त्वपूर्ण नहीं हैं मुख्य तो यह है कि प्रभु ने क्या करना निश्चित किया है। इसलिए प्रभु जो करेंगे ठीक करेंगे यही श्रद्धा मनुष्य के जीवन में बड़ी शक्ति है।

न पूरयेत किमुदरं सेवकानां कृपानिधि?

प्रभु मेरे योग-क्षेम का वहन करेंगे। यह श्रद्धा ही भगवदीयों को भगवान् के सन्मुख समर्पित रखती है। जो भगवान के हैं उन्हें केवल उदर-परायण होना योग्य नहीं है। जो प्रभु के सेवक हैं क्या उनका भरण-पोषण कृपानिधि नहीं करेंगे? विश्वंभर भगवान अपने पर विश्वास रखने वाले भक्त का भरण-पोषण अवश्य करते हैं। ऐसी श्रद्धा न हो तो वैष्णव का प्रभु के सन्मुख समर्पित रहना मश्किल है। विश्वास होगा तो सब हो जाएगा। विश्वास को ही सद्भाव कहा है। इस सद्भाव से सब कुछ सिद्ध होगा। मेरे प्रभु में सब कुछ करने का सामर्थ्य है - ऐसा विश्वास वैष्णव की भक्ति का आधार स्तम्भ है। तप, व्रत, धर्म ऐसे साधन नहीं कर सकने वाले वैष्णव भी यही विश्वास रखते हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान होने के कारण मनुष्यकृत साधन की अपेक्षा नहीं रखते हैं। जीव यदि प्रभु तक जा नहीं सकता हो तो प्रभु उस तक स्वयं पधारेंगे। जीव ज्ञानादि साधनों से स्वयं का ऊर्ध्वीकरण न कर सके तो प्रभु का प्रादुर्भाव होता है और भक्त और भगवान का मिलन सर्जित होता है इसलिए दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। भगवान ने कहा है कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति' मेरे भक्त का नाश मैं होने नहीं देता। इस भगवद् वाक्य पर वैष्णव को दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। भगवान भक्त की रक्षा करते हैं इस पर अविश्वास हो तो यह जीव के स्वभाव का दोष है।

श्रद्धा अशक्य को शक्य बनाती है। भगवान या श्री महाप्रभुजी के चरणों में दृढ़ आश्रय हो, दुःसंग दोष से मन कमजोर न हो, काल-दोष से मन में अविश्वास जागा न हो, स्वभाव दोष से मन में अहंकार उत्पन्न न हुआ हो तो अपने को अशक्य लगने वाला कार्य भी शक्य बनता है।

अयमेवाऽस्य मार्गस्य मूल आश्रयसाधकः

पुष्टि भक्तिमार्ग का मूल है विश्वास। जैसे वृक्ष का आधार मूल है उसी प्रकार, इस मार्ग का आधार प्रभु का विश्वास है। विश्वास में कमी होने पर भगवान् के प्रति आश्रय-बुद्धि भी शिथिल रहती है। प्रभु में श्रद्धा-विश्वास न होना यह भी एक आसुरी लक्षण है। दुष्टों का संग करने से भगवान् के प्रति श्रद्धा कम होती है, बुद्धि में भ्रम होता है और अंत में जीव में बहिर्मुखता आ जाती है।

भगवद्-भजन में श्रद्धा का बहुत महत्व है। उपासकों को उपास्य स्वरूप पसंद करने में कोई विशेष स्वरूप के लिए आग्रह नहीं होता है। भगवान का जो स्वरूप भक्त को प्रसन्न करने वाला लगे

वह पसंद करे, लेकिन श्रद्धापूर्वक भजन करना अनिवार्य है। भगवान ने कहा है कि "जो-जो भक्त जिस-जिस स्वरूप को श्रद्धा से भजने की इच्छा करता है, मैं उसकी श्रद्धा को उसमें स्थिर करता हूँ।" भगवान श्रद्धा से ही फल देते हैं। साधक के साधन में त्रुटि रह जाय तो क्षम्य है, परन्तु उनकी श्रद्धा में तनिक भी कमी नहीं आनी चाहिए। 'अदृढं च हतं ज्ञानम्' ज्ञान में दृढ़ता न हो तो वह नष्ट हो जाता है। श्रवण करने में यदि प्रमाद किया हो तो श्रवण किया हुआ नष्ट हो जाता है 'संदिग्धो हि हतो मंत्रो' मन्त्र का कितना ही जप किया हो, लेकिन जप करने वाले हृदय में मंत्र की शक्ति में श्रद्धा, विश्वास न हो तो मंत्र-जप नष्ट हो जाता है। 'विश्वासो गुरुवाक्येषु' वैष्णव का गुरु-वाक्य में विश्वास होना चाहिए। उसके लिए तो गुरुवाक्य ही ब्रह्मवाक्य है। श्री नारद जैसे गुरुजन पर भक्त प्रहलाद ने श्रद्धा रखकर कितने कष्ट सहन किये थे। प्रहलाद को मार डालने के लिए उसके दुष्ट पिता हिरण्यकशिपु ने उस पर दैत्यों से हमला करवाया, जहरीले सर्पो से कटवाया, कृत्या राक्षसी उस पर छोड़ी, उसे पर्वत के शिखर से गिराया गया, शंबरासुर राक्षस से माया का प्रयोग करवाया गया, अंधेरी कोठरी में बंद कर दिया गया, जहर दिया, भूखा रखा गया। प्रहलाद को जल में, तेज ठंड में, वायु में, धधकती अग्नि में और समुद्र में बारबार डाला, परन्तु इनमें से किसी भी उपाय से भक्त प्रहलादजी को वह डरा न सका, उनकी भक्ति छुड़ा न सका, उसे मार नहीं पाया। यही विश्वास की अमोघ शक्ति है।

भगवान् कहते हैं - 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' श्रद्धावान् , तत्पर एवं जितेन्द्रिय मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करके तत्काल परम शान्ति को प्राप्त करता है। जो शांत है वही सुखी है। अज्ञानी और अश्रद्धालु, संशयात्मा का विनाश ही होता है, उन्हें इस लोक या परलोक में सुख नहीं मिलता। श्रद्धाविहीन मनुष्य के जीवन में विवेक का उदय नहीं हो सकता। वह ज्ञान अथवा भक्ति रूप साधन कर ही नहीं सकता। उसके जीवन में कोई निष्ठा, स्थिरता अथवा लक्ष्य नहीं होता। अविश्वास तो अभिशाप है और विश्वास वरदान है।

खेरालु के जगन्नाथ जोशी ने एक दिन श्रीठाकुरजी को शृंगार धराया और वागा पहिराया। फिर राजभोग का थाल सजाकर भोग धरा तथा बाहर आये। तब उनके मन में ऐसा हुआ कि श्रीठाकुरजी वागा पहिन कर आरोगेंगे तो थाल छुआ जावेगा। प्रभु तो अन्तर्यामी हैं। जोशी के मन की बात जान गये। ऐसी भावना समझ कर थाल को लात मारकर चौकी के नीचे गिरा दिया। जगन्नाथ जोशी को शंका हुई कि जरूर मुझ से कोई बड़ा अपराध हुआ है, नहीं तो श्रीठाकुरजी ऐसा नहीं करते। उसके मन में बहुत आतुरता और दीनता आ गई। प्रभु ने कहा -'तू थाल छुआने से डरता है, तो मेरे सामने धरता ही क्यों है?' जगन्नाथ जोशी ने खूब क्षमा-याचना की, दीनता दिखाई। तब प्रभु ने क्षमा किया। श्री ठाकुरजी के स्वरूप तथा लीला में असंभावना या विपरीत भावना नहीं करनी चाहिए। भगवान् के सामर्थ्य और माहात्म्य में हीन भावना करना, शंकालु होना अपराध है। कभी-कभी भगवदीय में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए माहात्म्य प्रकट करना पड़ता है। उत्तम भगवदीय के लिए यह जरूरी नहीं है, परन्तु साधारण भक्तों को माहात्म्य-ज्ञान के बिना श्रद्धा-विश्वास होते नहीं हैं। ऐसे प्रसंग में श्रीठाकुरजी, श्रीमहाप्रभुजी या भगवदीयों ने अपने माहात्म्य को प्रकट किया ऐसे बहुत से प्रसंग हैं।

रामदास मेवाड़ा मेवाड़ में रहते थे। वे रणछोड़जी के दर्शन करने पिताजी के साथ गये थे। वहाँ

श्रीमहाप्रभुजी के भी दर्शन हुए। रामदास की इच्छा हुई कि महाप्रभुजी के सेवक बनें, परन्तु उनके पिताजी में सेवकभाव नहीं जगा। वे कहने लगे– 'ये ब्राह्मण हैं और हम भी ब्राह्मण हैं। फिर सेवक किसके बनें? रामदास पिताजी से छिपकर श्री महाप्रभुजी से मिलने गये। उन्होंने कहा–'महाराज! मेरा मन आपका सेवक बनने का है और पिताजी भी सेवक बनें तो भगवत् –धर्म बने तथा घर में झगड़ा न हो। इसलिए मेरे पिता को कोई ऐसा माहात्म्य बताइए कि वे आपके सेवक बन जाएँ। वे अज्ञानी जीव हैं और अहंकारी भी हैं इसलिए कोई चमत्कार दिखावें तो वे सेवक बन जाएँ।'

श्री महाप्रभुजी ने कहा –'तू दैवी जीव है और तेरे पिता साधारण हैं पर वे तेरे कारण कृतार्थ होंगे। तू ही तेरे पिता को माहात्म्य बताना। तू जो बात कहेगा वह सत्य होगी।'

कुछ समय के बाद पिताजी रसोई बना रहे थे तो हाथ जल गया। रामदास ने पिता की श्री महाप्रभुजी में श्रद्धा हो, इस दृष्टि से माहात्म्य प्रकट करने का अच्छा मौका समझकर हाथ में जल लेकर कहा– 'श्री आचार्यजी साक्षात् भगवान् हो तो इस जल से हाथ अच्छा हो जायेगा और यह बात सत्य न हो तो अच्छा नहीं हो'। पिता का हाथ अच्छा हो गया। फिर भी रामदास का पिता माना नहीं। उन्होंने कहा–'बेटा तू पागल हो गया है। ये तो मेरे भाग्य में ऐसा ही लिखा था। मेरे पुण्य से ही ठीक हुआ हूँ।' हाथ ठीक हो जाय तो सेवक बनने का पिता ने वचन दिया था। वे बदल गये। तब रामदास ने क्रोधित होकर कहा–'अभी ही आप बदल गये! अब अंधे हो जाओ!' पिताजी दोनों आँखों से अंधे हो गए। अब वे आचार्यजी के सेवक बनने को तैयार हो गए और श्री महाप्रभुजी के चरणामृत से उन्हें फिर दिखने लगा। इसी को कहते हैं चमत्कार बिना नमस्कार नहीं। उत्तम दैवी जीवों का तो भगवान में, गुरु में, भगवदीयों में सहज प्रेम होता है, उन्हें माहात्म्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। उत्तम कोटि के दैवी जीव को भगवान की लीला में, गुरुदेव की कृति में, और भगवदीयों के आचरण में दोष–बुद्धि होती ही नहीं है। वैष्णव से कभी भी हीन कार्य होता ही नहीं है और कदाचित् भगवदीयों से खराब काम कुछ हो गया हो तो भी मन में दोष बुद्धि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि भगवदीय खोटा काम नहीं करता है, यह मानना चाहिए। ऐसे प्रसंग में भगवतकृति जाननी और जीव मात्र पर दया रखनी।

चरन शरण ब्रजराज कुँवर के
हम विधि-अविधि कछु नहीं समझत, रहत भरोसे श्री मुरलीधर के
रहत आसरे ब्रज मंडल में, भुजा छांह श्री गिरिवरधर के
प्रभु मुकुंद माधो सुखदायी, हाथ बिकाने श्रीराधा वरके

भगवदीय भगवान में शरणभाव रखें यही उनकी कृतार्थता है। शरण भाव में निःसाधनता मुख्य है। भक्त कहते हैं कि हम विधिनिषेध में कुछ समझते नहीं। धर्मशास्त्र के नियम–यह करो और यह मत करो–यह हम कुछ जानते नहीं। हम तो केवल श्रीमुरलीधर के भरोसे, उस पर विश्वास रखकर, चिन्तामुक्त होकर जी रहे हैं। श्री गोवर्धनधारी के वरद, अभयप्रद, श्रीहस्त की छत्रछाया में, उनके आश्रय में ब्रजमण्डल में रहते हैं। सारे सुखों को देने वाले माधव मुकुंद श्री हरि के हम निःशुल्कदास हैं। उनके हाथ बिके हुए हैं। हम उनके हैं, उनके दास हैं। यही हमारे जीवन की धन्यता है।

स्वध्याय ४२

विरह-ताप-क्लेश

'तापक्लेशैरयं मार्गः श्रीमदाचार्यरूपितः' श्रीवल्लभ-प्रणीत पुष्टिमार्ग तापक्लेश का मार्ग है। **'अतिक्लेश एव भगवदागमनं न स्वास्थ्ये'** भक्त के मन में जब अतिशय दुःख हो तब ही भगवान् का आगमन होता है, स्वस्थता में, प्रसन्नता की स्थिति में नहीं।

हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हँसी खेले पिऊ मिले, तो कौन दुहागिनि होय।

भगवान् के दर्शन के लिए जिसने अश्रु बहाये हों, विलाप किया हो, उसे ही वे मिले हैं। प्रेमपंथ हँसने-खेलने का पंथ नहीं है। हँसते-खेलते यदि भगवान मिल जाते तो किसी को भी मिल गये होते, किन्तु प्रियतम को पाने के लिए भक्त को भारी व्यथा के बीच से गुजरना होता है। यह विरह-व्यथा सांसारिक दुःखों की तरह कड़वी और दुःख रूप नहीं होती। व्यथा तो तीव्र होती है, परन्तु मधुर होती है। पीड़ा तो है परंतु मजेदार पीड़ा है। संसार के मीठे सुखों की अपेक्षा भक्ति का यह दुःख ही भगवान् से माँगना उत्तम है।

तापात्मक भक्ति

भावात्मक श्रीहरि की सदैव विरह भाव से भावना करनी चाहिए। श्रीकृष्ण कृपानिधि हैं। श्रीकृष्ण का मुखारविन्द ही अग्निरूप, श्रीवल्लभ के स्वरूप से प्रकट हुआ है। श्री महाप्रभुजी अग्निस्वरूप हैं इसलिए पुष्टिमार्ग में शीतल भक्तिभाव को उचित नहीं माना है।

साधन

पुष्टिभक्ति तापात्मक होने से दुर्लभ है। यह मर्यादा भक्ति की तरह शीतल भक्ति नहीं है। शीतल भक्ति, चरणाम्बुजा भक्ति तो श्रवण-कीर्तनादि साधनों से सिद्ध हो सकती है, किन्तु तापात्मक दुर्लभ भक्ति तो भगवान के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है। **'यस्मादधरामृत सेवनात्'** प्राणप्रिय प्रभु के अधरामृत पान से, करुणापूर्ण कृपा-कटाक्ष से ही यह भक्ति सुलभ है। विरहात्मक भाव सिद्ध करने के लिए श्री महाप्रभुजी के चरणों में दृढ़ आश्रय करना चाहिए। ये दृढ़ आश्रय उनके वचनामृत में दृढ़ श्रद्धा रखने पर ही सिद्ध होगा। ऐसी श्रद्धा का साधन तादृशीजनों की सेवा है। जब तक तादृशी भगवदीयों की सेवा नहीं होती तब तक श्रीमहाप्रभुजी के वचनामृत श्रवण करने में भी श्रद्धा नहीं होती। तादृशी भगवदीय दुर्लभ हों तो श्री भागवतजी का पाठ करना अथवा दीनतापूर्वक श्री हरि का स्मरण करना चाहिए।

विरह भक्ति

यत्र स्वतंत्रता भक्तेराविर्भावानपेक्षणात् ।
सर्वानुभवरूपत्वं पुष्टिमार्गः स कथ्यते।। पुष्टिमार्गलक्षणानि-८

पुष्टिमार्ग में आविर्भाव की अपेक्षा के बिना वियोगावस्था में भी भगवद् गुणगानरूपा भक्ति से स्वरूपानन्दरूपी फल का दान देने की स्वतंत्रता है। भगवद् गुणगान प्रेमपूर्वक हो तो उसके द्वारा ही भक्त को भगवान् की सभी लीलाओं का अनुभव हो जाता है।

तीव्र विरह की दशा में होने वाली भक्ति स्वरूप-आविर्भाव-निरपेक्ष स्वतंत्र भक्ति बन जाती है।

भक्ति के दो प्रकार हैं-संयोग भक्ति और विरह भक्ति। संयोग भक्ति में भगवान् प्रकट रूप में बाहर विराजें ऐसा आग्रह रहता है। यह बात भगवान् और भक्त दोनों को बंधन कारक है, श्रमरूप है। परन्तु विरह भक्ति में भगवान् की प्रकट, बाह्य स्थिति के लिए दुराग्रह नहीं होता। विरह भक्ति का प्रभाव ऐसा है कि भगवान् की समग्र लीलाओं का अनुभव हो सकता है, जबकि संयोग भक्ति में जो लीला प्रभु करते हों उसी का अनुभव होता है अन्यथा नहीं।

स्वतंत्र भक्ति निरोधात्मक है और दुर्लभ भी है। इस भावात्मक भक्ति में भगवान भक्त के हृदय में 'भावात्मक निवास' करते हैं। **'नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धिशायिनम्'** हृदयरूपी शेषशय्या पर विराजते हुए प्रभु सारी लीलाएँ कर रहे हैं। इस स्वतंत्र विरहरूपा भक्ति में भगवान् के प्रकट हुए बिना ही सारी, लीलाओं का हृदय में अनुभव होता है।

यूँ तो यह भक्ति फलरूपा ही है, फिर भी सर्वात्मभाव में तो ऐसी फलरूप हो जाती है कि 'स चानपेक्षितारूपो यत्र नापेक्षिता हरेः।' इस भक्ति भाव में अपेक्षा, इच्छा जैसी कोई वस्तु नहीं है।

जेहि पाए वैकुंठ अरु, हरि हू की नहीं चाहि।
सोई अलौकिक शुद्ध, सुभ सरस सुप्रेम कहाहि।।

श्री रसखान विशुद्ध प्रेम की व्याख्या भी ऐसी ही करते हैं कि जिस प्रेम को प्राप्त करने के बाद वैकुंठ की तो क्या स्वयं भगवान् की भी कामना नहीं रहती है। इसे ही अलौकिक, शुद्ध, मंगलमय, रसमय प्रेम कहते हैं।

भगवत् -प्राप्ति में विरह-ताप ही साधन बन सकता है क्योंकि ज्ञान समस्त दोषों को जलाकर भस्म कर सकता है, परन्तु **'तथापि न प्रभोः प्रादुर्भावे यत्प्रतिबंधकम्'** प्रभु के प्रादुर्भाव के प्रतिबंध दोषों का नाश नही कर सकती। श्री महाप्रभुजी के सान्निध्य से क्रमशः श्रीकृष्ण के दर्शन की इच्छा, आर्ति और ताप प्रकट होते हैं। इस विरह-ताप से भगवत् -प्राकट्य के प्रतिबन्ध रूप दोषों का समूह एक क्षण में नष्ट हो जाता है।

नित्य भगवत् भगवदीयों लीला का अनुभव जिन भगवदीयों को होता है ऐसे तादृशी भाव की उच्च भूमिका में पहुँचे हुआ को भी सतत ताप क्लेश रहता है। यह ताप क्लेश मात्र विरह का परिणाम हो, ऐसा नहीं है, ये तो भक्ति की परम अवस्था है, यह ताप क्लेश सतत विद्यमान रहने का कारण यह भी है कि भक्त में अभिमान न रहे और सदा दीनता का भाव बना रहे।

श्री हरिरायजी महाप्रभुजी ताप क्लेश के दो स्वरूप मानते हैं-कामात्मक और सर्वात्मभावात्मक ताप क्लेश। काम भावनात्मक ताप क्लेश में यह अपेक्षा रहती है कि भगवान् तापक्लेश को शान्त करने के लिए पधारें। यह ताप क्लेश प्रभु के दर्शन, स्पर्श, मधुर संभाषणादि से शांत हो जाता है। जबकि सर्वात्मभावात्मक ताप क्लेश तो फलात्मक अवस्था होने के कारण यह अवस्था सदा रहती है। भगवान के दर्शन, स्पर्श आदि से तो यह दुगना अनुभव होता है। इस मार्ग में भक्त को आर्त होकर विरह भावना का अनुभव करना होता है। इसके लिए प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। समय आने पर प्रभु स्वयं ही कृपा करेंगे।

फलात्मक विरह

श्री हरिरायजी महाप्रभुजी के मन्तव्यानुसार विरह दशा ही फलदशा है। स्नेह की प्रगाढ़ -दशा में अनुभव होने वाला प्रभु के प्रति विरह परमफल है। सामान्य रस दृष्टि में ऐसी मान्यता है कि, संयोग अर्थात् सुख और वियोग अर्थात् दुःख, लेकिन इस रसात्मक भक्ति में ऐसा नहीं है।

यत्र वा सुख-सम्बन्धो वियोगे संगमादपि।
सर्वलीलानुभावेन पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥

पुष्टिमार्ग में विरहावस्था में- भगवत् लीला के स्मरण मात्र से ही भक्त के हृदय में समग्र भगवत् लीला का अनुभव होता है और संयोगावस्था की अपेक्षा विरहावस्था में विशेष सुख का अनुभव होता है।

मेरे स्वामी, मेरे प्रभु मुझे अपने आनंदमय स्वरूप के दर्शन कब करोवेंगे ऐसी स्वरूप दर्शन की इच्छा, उत्कट कामना प्रत्येक वैष्णव को अपने हृदय में स्थापित करनी चाहिए। इसी का नाम प्रेम भाव है। स्वरूप-दर्शन की उत्कंठा जितनी अधिक होगी उतना ही प्रेमभाव अधिक होगा। यह प्रेमभाव हमें अन्यराग से अन्य के प्रेम से, निवृत्त कर देता है, फिर तो दर्शन की आर्ति अधिक उत्कट हो जाती है।

जिस ताप क्लेश में देह तथा गृह आदि के कार्य विस्मृत हो जाते हैं, प्रभु के प्रति अधिक से अधिक आर्ति बनती है, यह आसक्ति भाव है।

यह आसक्ति भाव और तीव्र होते ही तापात्मक व्यसनभाव जागृत होता है। सारे जगत् की विस्मृति करवा दे ऐसा परिताप उद्‌भूत होता है।

इस त्रिविध तापात्मक भाव के लिए कोई साधन नहीं है, केवल निःसाधनता सिद्ध हो जाने पर ही यह प्राप्त होता है।

'स्वानंदसिद्धये राति निजार्ति दर्शनादिषु' भगवान् श्रीकृष्ण जब अपने सेवक को आनंद का दान करने का विचार करते है, जब वे पहले अपने सेवक के हृदय में भगवत् -दर्शन के लिए ताप उत्पन्न करते हैं- यह ताप क्लेश भक्त के हृदय में भगवत् -इच्छा से ही प्रकट होता है। यह भगवत् -कृपा का प्रथम संकेत है।

श्रीस्वामिनीजी ने भगवान् के विरह में जो वचन बार-बार कहे - जैसे 'हा नाथ रमानाथ क्वासि क्वासि महाभुज!' ऐसे वचनों को चित्त में धारण करना चाहिए।

सेवा स्मरण आदि समस्त साधन आर्ति तथा आतुरता से करने चाहिये इस आर्ति एवं आतुरता से ही पुष्टि मार्ग में प्रवेश होता है।

पुष्टिमार्गीय फल का संबंध आर्ति-आतुरता के साथ इतना अधिक है कि आर्ति जितनी अधिक होगी, फल उतना ही समीप होगा।

प्रेमी भक्त के हृदय का विरहताप ही प्रभु के आविर्भाव का कारण बनता है। जिन जीवों को प्रभु ने स्वयं अंगीकार किया है उन्हें अपने विरह में संतप्त देखकर वे विकल हो जाते हैं और तत्काल प्रकट हो जाते हैं। ताप की तीव्रता जितनी अधिक होगी भगवान् का प्राकट्य उतनी जल्दी होगा।

श्री महाप्रभुजी श्रीमुख से कहते हैं 'दमला! ये मार्ग तेरे लिए प्रकट किया है।' वैष्णव के हृदय में यदि इस मार्ग की स्थापना हो तो आगे यह वैष्णवों में फैलेगा। एक प्रसंग में दामोदरदासजी ने पुष्टिमार्ग का स्वरूप एक छोटी सी वार्ता में समझा दिया है।

एक समय श्री गुसांईजी बैठक में बिराजे थे। कुंभनदास, गोविन्ददास जैसे कई वैष्णव एकान्त में उनके साथ हँसने-बोलने के लिए बैठे थे। उस समय दामोदरदास वहाँ आये। श्री गुसांईजी ने उनका बहुत आदर-सन्मान किया। दामोदरदासजी ने दण्डवत् करके श्री गुसांईजी से कहा-'महाराज! अपना मार्ग निश्चिंतता का नहीं है। यह मार्ग तो अत्यंत कष्ट का है, आतुरता का है, दुःख का है।' श्री गुसांईजी ने कहा-'आप धन्य हैं। आपने सत्य बात कही। परन्तु जब श्रीआचार्यजी की कृपा होगी, तभी कष्ट आतुरता होगी। यह मार्ग तो श्रीआचार्यजी के अनुग्रह के बिना प्राप्त नहीं होता।'

श्री दामोदरदासजी के मुँह से श्री महाप्रभुजी के वचनामृत प्रकट हुए थे। स्वरूप से श्री दामोदरदासजी भले ही अलग हों परन्तु उनमें श्री महाप्रभुजी का आवेश अष्ट प्रहर रहता था। इसलिए यह पुष्टि मार्ग विरह का मार्ग है, यह स्पष्ट है। इस मार्ग में विरह से ही शुद्धि है और विरह से ही सिद्धि है।

प्रयाग में रहने वाले आनंददास और विश्वंभरदास दोनों भाई बाल्यकाल से ही विरक्त दशा में रहते थे। माता पिता जो नये वस्त्र देते उन्हें वे त्रिवेणी के कीचड़ में गंदा करके पहनते थे। माता-पिता गहने आदि पहनाते तो साधु-संतों को दे आते। माता-पिता नाराज हो, गाली दें तो भी कुछ नहीं कहते। थोड़े समय बाद विरक्ति के कारण घर छोड़कर वे निकल गये। कभी यमुनाजी के किनारे, जीवन की व्यर्थता-संबंधी दुखित विचारों में दोनों भाई रुदन करते-करते मूर्च्छित होकर गिर पड़े। अर्द्धरात्रि में श्रीठाकुरजी ने श्रीमहाप्रभुजी से कहा कि, 'दो क्षत्रिय बालक यमुनाजी के उस पार रेती में पड़े हैं। उन्हें मेरे लिए बहुत वेदना है। इसलिए आप पधारकर उन्हें अंगीकार करें। अन्यथा उनका शरीर छूट जाएगा।'

श्री महाप्रभुजी श्रीकृष्णदास मेघन वगैरह को जगाकर उसी समय यमुनाजी के दूसरे किनारे पधारे। दोनों आचार्यजी की शरण में आकर कहने लगे-'महाराज! हमें अंगीकार करें।' श्री महाप्रभुजी ने कहा-'प्रातः नाम दूँगा।' तो दोनों ने कहा-'महाराज! सुबह तक देह रहे या न रहे, इस देह का क्या भरोसा है? हम दोनों ने आज कुछ खाया-पिया नहीं है, उपवास ही किया है इसलिए आप विलंब न

करें। श्रीठाकुरजी की कृपा से आपके दर्शन हुए। सुबह तक बुद्धि कैसी हो जाय क्या पता?'

श्रीआचार्यजी ने उत्तर दिया-'तुम्हारी बुद्धि कभी बिगड़ेगी नहीं। तुम उत्तम जीव हो। खान-पान किया हो तो भी तुम (आतुरता-उत्कटता के कारण) शुद्ध हो।' फिर आपश्री उनका नामसंबंध एवं ब्रह्मसंबंध कराकर, नाव से लौट आये।

माधवदासजी की कृपा से जिस वेश्या का उद्धार हुआ था, उसके घर में भी लालजी की सेवा पधराई थी। अड़चन के दिनों भी वह सेवा नहीं छोड़ती थी। इसलिए वैष्णवों ने उनके साथ व्यवहार छोड़ दिया। एक बार गुसांईजी ने पूछा-'अड़चन में सेवा क्यों करती हो?' इस पर उसने उत्तर दिया- 'महाराज! जितने शरीर में रोएँ हैं उतने पति लौकिक में हुए। आपकी कृपा से सब से संबंध टूटा। अब आपने जो अलौकिक वर दिया है, उसके बिना मैं कैसे रह सकती हूँ। आप तो अन्तर्यामी हैं। एक क्षण का भी प्रभु से अन्तराय सहन नहीं हो सकता है। श्रीगुसांईजी उसका विरह-ताप-क्लेश देखकर प्रसन्न हुए और कहा-'जैसा करती हो करती रहो। जल्दी जाओ, तुम्हारे ठाकुरजी तुम्हारे लिए बैठे होंगे।' दोनों वैष्णवों से श्रीगुसांईजी ने कहा-'यह जो करती है, करने दो। उसे कुछ कहो मत। परन्तु उसकी देखादेखी मत करना।'

भगवत् -स्वरूप में अति तीव्र आसक्ति और विरह के तीव्र ताप का उत्तम दृष्टान्त गज्जन धावन का है। उनके माथे विराजते श्री नवनीतप्रियजी के स्वरूप में उन्हें इतनी प्रीति हो गई थी कि सेवा करने की रीति तक भूल जाते थे। प्रभु की प्रेरणा से गज्जन धावन श्री नवनीतप्रियजी को लेकर श्रीगोकुल पधारे। वे वहाँ ठाकुरजी के सन्मुख बैठे रहते। सेवा और अनोसर में भी वे ठाकुरजी के सन्मुख मन्दिर में रहते थे।

एक बार श्री अक्काजी ने बीड़े के लिए उन्हें पान लेने भेजा। आज्ञा होने से गज्जन धावन पान लेने गये तो सही परन्तु मन्दिर के बाहर निकलते ही ऐसा विरह चढ़ा कि एक दुकान पर ही गिर पड़े। इधर श्रीठाकुरजी कहने लगे-"गज्जन धावन आवे, तब ही राजभोग आरोगूँ।" गज्जन धावन आये तब ही श्रीठाकुरजी ने आरोगा। भक्त को भगवान के लिए ऐसा विरह हो तो भगवान को भी भक्त के लिए विरह तो होगा ही।

हा नाथ! हा कृपानाथ! गोपीनाथ! दयानिधे! व्रजनाथ! रमानाथ! निजनाथ! जगत्पते! गोकुलाधीश! गोपीश! व्रजाधीश! व्रजप्रिय! व्रजानन्द! निजानन्द! गोकुलानन्द! गोप्रिय! हा कृष्ण! हा दया सिन्धो! हा राधावर! हे परम सुन्दर! मैं दीन हूँ तथा श्री निजाचार्य के चरणों के आश्रित हूँ। भयानक दुष्ट दोषों से भरा हूँ, भागयहीन हूँ। मैं निःसाधन, साधनरहित हूँ! प्रभो! मुझ पर दया करो, दया करो -

हा कृष्ण! हा कृपासिन्धो! हा राधावर! सुन्दर!
दीनेषु सततं श्रीमन्निजाचार्याश्रितेषु च!!
दुष्टेषु दोषपुष्टेषु भाग्यरुष्टेषु मत्प्रभो!
निःसाधनेषून्मतिषु दयां कुरु दयां कुरु।। *शिक्षापत्र १३/७-८*

स्वाध्याय ४३

संयोग - विप्रयोग

भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप रसात्मक है। इस रस का अनुभव भक्तों को दो तरह से होता है। संयोगानुभव में और वियोगानुभव रूप में। भगवान् जब भक्त की प्रत्यक्ष दृष्टि में बाहर बिराजते हैं तो उसे संयोग अवस्था कहते हैं और जब भगवान् बाहर से अन्तर्धान होकर भक्त के हृदय में पधार जाते हैं तब वह अवस्था वियोग अवस्था कहलाती है। संयोग में प्रभु प्रत्यक्ष हैं और वियोग में परोक्ष। जहाँ संयोग में बाह्य रमण और बाह्य सुख है, वहीं विप्रयोग में आन्तर्रमण और अंतःसुख है।

संयोग और वियोग-इन दोनों अवस्थाओं में भक्त का भगवान के साथ संबंध रहता है। भक्त और भगवान का संबंध विच्छेद तो संभव नहीं। दोनों स्थितियों में संबंध तो है ही केवल भगवान् की उपस्थिति में ही अन्तर है।

रसात्मक संबंध

सम्बन्धः साधनं यत्र फलं सम्बन्ध एव हि।
सोऽहि कृष्णेच्छया जातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥

भगवान् के साथ देह से उत्पन्न हुआ संबंध और भाव से उत्पन्न हुआ संबंध ही साधन है और यह संबंध भी भगवत् -इच्छा से होता है। भगवान् के साथ सर्वेन्द्रियों का संबंध होना फल है, और यह फल भी उनके साथ होने वाले देहात्मक एवं भावात्मक संबंध का ही फल है इसलिए प्रभु के साथ कैसा सम्बन्ध संभव है, यह बात बड़ी महत्व की है।

जब प्रभु स्वेच्छा से भक्त को संयोग सुख देने के लिए पधारते हैं, तब भक्त का भगवान् के साथ, देह-संबंध है। यह देह-संबंध प्रभु के अधीन है और वह अमुक कालावच्छिन्न (निश्चित काल तक के लिए) है जबकि भाव सम्बन्ध नित्य एवं स्वाधीन है। भगवान् साक्षात् हों या परोक्ष हों तो भी भाव-संबंध में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता।

'रसौ वै सः' उपनिषद् ब्रह्म को रस रूप कहते हैं। रस दो प्रकार का है-'संयोगो विरहस्तथा' संयोग और वियोग। इसी तरह रसात्मक पुरुषोत्तम के स्वरूप में दो प्रकार-द्विदल सिद्ध होते हैं-पूर्व दल अर्थात् संयोग रस और उत्तर दल अर्थात् वियोग रस।

रस रूप भगवान् का पूर्वदलात्मक रूप अर्थात् संयोग रूप लोकवेद में प्रसिद्ध स्वरूप माना जाता है। यह स्वरूप जगत् का कारण रूप है। यह वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इस तरह चार व्यूह सहित है। परम अद्भुत है।

वासुदेव व्यूह से भगवान् मुक्ति का दान करते हैं, जिसे मुक्ति की योग्यता न हो ऐसे जीव को

भी वे स्वकृपा से मुक्ति का दान करते हैं। परन्तु वासुदेव व्यूह का इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य तो उत्तर दलात्मक अर्थात् इसके आधाररूप भावस्वरूप श्रीकृष्ण रस के आधार रूप होने का है। वासुदेव व्यूह को शुद्ध सत्वात्मक कहते हैं और '**शुद्धे सत्वे स्थितिर्हरेः**' शुद्ध सत्व में ही भावरूप रसरूप भगवान् विराजते हैं।

भगवान् का विप्रयोगात्मक, उत्तर दलात्मक, भावात्मक स्वरूप '**भक्तैक हृदयस्थितः**' गूढ़ भावात्मक होने से वे भक्तों के हृदय में ही बिराजते हैं। उसे जानने के लिए अन्य सारे प्रमाण निरर्थक-निष्फल हैं। उन्हें अनुभूति से ही जान सकते हैं। भक्त का हृदय ही वासुदेव व्यूह है। शुद्ध सत्व अर्थात् भक्त का हृदय निर्मल, अन्तःकरण विशुद्ध होते ही उसे भगवान् का अनुभव होने लगता है।

अधिकार के अनुसार ही प्रभु अपने भक्तों को विरह का अनुभव कराते हैं। विरह अनुभव कभी सुखरूप, फलात्मक रूप में अनुभव होता है, तो कभी दुःखरूप में भी अनुभव होता है। जैसे भगवान की तिरोधान लीला के बाद भी उद्धवजी जैसे महान् भक्त भी भूतल पर जीवित रहे, किन्तु कुंतीजी को भगवान् का यह समाचार मिलते ही उन्होंने प्राण छोड़ दिये। विरह का अनुभव तो इन दोनों को हुआ था परन्तु अधिकार के अनुसार उनके परिणाम भिन्न हैं।

फलात्मक संयोग और फलात्मक विप्रयोग इन दोनों के फलात्मक होने से उच्च कोटि के भक्त ही भगवत्कृपा से उसका अनुभव कर सकते हैं।

प्रकट रूप

भगवान् की रसानुभूति भगवान के साक्षात् प्रकट स्वरूप से ही होती है। ऐसे तो भगवान् अन्तर्यामी हैं और सर्वत्र व्याप्त भी हैं, परन्तु उनकी अन्तर्यामी के रूप में स्फूर्ति होने से अर्थात् वे सर्वत्र सर्वव्यापी हैं ऐसे ज्ञान के उपदेश से भगवान् के रस की वैसी अनुभूति नहीं होती जो कि सत्संग से अथवा बाहर प्रकट साक्षात् भगवान के संबंध से होती है। अन्तर्यामी (भगवान का हृदयस्थ स्वरूप) और सर्वव्यापी, प्रभु का संयोगात्मक एवं विप्रयोगात्मक अनुभव नहीं हो सकता है। केवल उनका ज्ञान हो सकता है।

किसी भी भोग्य को मानसिक रूप से भोगने में और वास्तविक रूप में भोगने में बहुत अन्तर है। प्रभु संयोग-विप्रयोग रूपी रसात्मक अनुभूति के लिए उनकी बाह्य स्थिति, बाह्य प्राकट्य अनिवार्य है। "**भिन्नतया बहिः स्थिति एव विषयो रसजनकः।**" भिन्न प्रकार से बाहर रहा हुआ विषय ही रस उत्पन्न करता है।

इसीलिए योगी भी, जब परब्रह्म का कृष्ण स्वरूप बाहर प्रकट होता है तब, समाधि का त्याग करके उनका दर्शन करते हैं। भगवान् के स्वरूप का रसात्मक बाह्य दर्शन संभव न होने पर वे समाधिस्थ हो जाते हैं और आन्तरदर्शन करते हैं -

प्रकट मले सुख थाय, श्री गिरिधर प्रकट मले सुख थाय,
अन्तरजामी अखिलमां तेथी, कहो कोनुं दुःख जाय...?
तेल बिना स्फूट तिल पूरे थी, दीपक केम प्रकटाय?
प्रकट पावक बिना काष्ट ने भेटे, शीपेरे शीत समाय....

पृथ्वी चाटे तृषा टले नहीं, अन्तर्जल श्रुति गाय
दिवासली, पाषण स्पर्शथी को कहे ज्वाला जणाय...
सुरभि पेटमां पय तेमां घृत तेथी, पुष्टि न पामे गाय
दोही मथी माखण तावे, सर्व भक्षण सुखदाय...!
व्यापकथी वातो नव थाय, ते विना जीव अकलाय
रसियाजन मन रंजन नटवर 'दया' प्रीतम व्रजराय...
प्रटक मले सुख थाय..

कुछ सुन्दर एवं हृदय स्पर्शी उदाहरण देकर श्री दयाराम भाई भक्तों की भगवान् के प्रकट स्वरूप के बारे में भावना को व्यक्त करते हैं। जहाँ तक भगवान् भक्त को प्रकट व्यक्तस्वरूप में नहीं मिलते, वहाँ तक भक्त को भक्ति का फलात्मक सुख मिलता ही नहीं है। 'ईश्वर! सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' भगवान् अन्तर्यामी रूप से प्रत्येक के हृदय में विराजते हैं। वे आनंद रूप भी हैं। वे आनन्दरूप भगवान अन्दर विराजमान होने पर भी जीव को उस आनंद की अनुभूति क्यों नहीं होती? इसका एक ही कारण है कि भगवान हृदय के अन्दर लीला पुरुषोत्तम के रूप में नहीं वरन् अव्यक्त अन्तर्यामी रूप में ही विराजमान हैं।

अव्यक्त का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, यह प्रमाणित करने के लिए दयाराम भाई कुछ सुन्दर उदाहरण देते हैं। दीपक की बत्ती में तेल डालने से दीपक जला सकते हैं। तिल में से तेल निकलता है, परन्तु यदि तिलों को दीप में डाल दें तो कोई दीपक नहीं जलेगा। सब जानते हैं कि काष्ठ में अग्नि है, किन्तु वह अग्नि अव्यक्त है। काष्ठ का उपयोग करें तो ठंड नहीं भाग सकती। गरमी का अनुभव लकड़ी से नहीं होगा। जब तक की काष्ठ को घर्षण करके अग्नि पैदा नहीं करते या अन्य अग्नि से प्रज्ज्वलित नहीं करते तब तक काष्ठ से अग्नि दिखाई नहीं दे सकती। काष्ठ में अग्नि कहने के लिए ही है। इसी प्रकार भूमि में जल रहता है, जब तक भूमि खोदकर जल तक पहुँचते नहीं तब तक पृथ्वी के अन्दर का जल पृथ्वी को चाटने से किसी की तृषा शांत नहीं कर सकता। चकमक पत्थर में अग्नि है, दिया-सलाई में अग्नि है, ज्वाला छुपी हुई है, लेकिन उसका अनुभव नहीं कर सकते। इनसे अग्नि तो बिना घर्षण से प्रकट नहीं हो सकती।

अन्दर स्थित अव्यक्त की उपस्थिति तब तक प्रभावकारी नहीं होती, जब तक कि वह व्यक्त न हो। इसका सुन्दर उदाहरण है कि गाय के थनों में दूध है। दूध में मक्खन भी है। मक्खन पुष्टि दायक रस है। जब गाय में ही दूध और मक्खन दोनों हैं तो गाय को इससे पोषण क्यों नहीं मिलता ? गाय भूखी क्यों होती हैं? गाय को पोषण तो तभी मिलेगा जब उसका दूध निकाला जावे और दूध मथ कर मक्खन निकाला जावे और वह मक्खन गाय को फिर खिलावें।

जो अव्यक्त है, निराकार है, सर्वव्यापक है, उनके साथ बातें नहीं हो सकती, खेल नहीं सकते, वह अव्यवहार्य है, इसलिए न तो उनके संयोग का अनुभव हो सकता है और उनके वियोग का। इसी कारण भक्तों को भगवान के प्रकट, व्यक्त और साकार स्वरूप का आग्रह और आसक्ति होती है। भगवदीयों को ऐसे संयोग और विप्रयोगात्मक स्वरूप का अनुभव कराने के लिए भगवान् का रसात्मक

स्वरूप प्रकट होता है।

भगवान् के त्रैलोक्य-सुभग स्वरूप के दर्शन के लिए भक्तों में उत्कट इच्छा जागनी चाहिए। भक्तों के हृदय में स्वार्थ के कारण नहीं, सहज स्नेह के कारण जो विरह-दुःख उत्पन्न होता है, उसके लिए भगवान् का अवतार होता है। श्री हरिरायजी महाप्रभुजी के अनुसार, "क्रियात्मकस्तु संयोगो लोकवेदनिरूपितः विप्रयोगस्तु भावात्मा केवलानुभवैकदृक्" संयोग रस क्रियात्मक है। यह लोक वेद में निरूपित किया गया है। जबकि विप्रयोग रस भावात्मक है और उसे केवल अनुभव से जान सकते हैं।

इस क्रियात्मक और भावात्मक रस को अनुभव कराने के लिए, तथा श्रुतियों तथा अग्निकुमारों को फलरूप मूल लीलाओं का अनुभव कराने के लिए प्रभु, उन्हें दिये गये 'रसानुभूति' के वरदान की पूर्ति के लिए, अवतरित हुए।

वेद की श्रुतियों के हृदय में सतत ऐसा भाव रहा है कि हम प्रभु के 'रसो वै सः' रसात्मक स्वरूप का वर्णन तो बारंबार करती है, लेकिन हमें उसका अनुभव कहाँ है? इसका उनको सतत ताप-क्लेश हृदय में रहता था इसलिए उन्हें प्रभु ने अपने रसात्मक स्वरूप के दर्शन कराये। फिर भी श्रुतियों का एक मनोरथ तो अपूर्ण ही रहा कि इस रसात्मक स्वरूप का सर्वात्मक अनुभव कैसे हो? जिनके दर्शन मात्र से इतना अपार सुख होता है उसका सर्वात्मक अनुभव कब होगा? प्रभु ने कृपा करके उन्हें वरदान दिया "सारस्वत कल्प में तुम ब्रज गोपी के रूप में जन्म लोगी तब तुम्हें सर्व सुख का दान करूँगा। मेरे स्वरूप से होने वाले संयोगरस-विप्रयोगरस की तुम्हें अनुभूति होगी। आप इस उभय दलात्मक सुख के आनंद में गोता लगा सकोंगी।"

अग्निकुमारिकाओं को भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन दण्डकारण्य में हुए थे। उस समय ये ब्रह्माजी के मानस पुत्र थे। श्री रामचन्द्रजी के कोटि कंदर्प-लावण्य के दर्शन करते हुए वे मुग्ध हो गये। उन्होंने प्रार्थना की कि प्रभु! हमें आपकी दासी बनाओ। हमें आपके संयोग-वियोग की शृंगार रसात्मक अनुभूति कराइये।" प्रभु ने उन्हें श्रीकृष्ण अवतार में इस मनोरथ को पूर्ण करने का वरदान दिया इसलिए, इस प्रकार के भक्तों को भावात्मक अनुभव कराने के लिए भगवान् का प्राकट्य हुआ है।

दृष्टि परी जा दिवस ते लाल, तबते रुचे नहीं आन।
रजनी नींद न आवही मोहि, बिसर्यो भोजन पान हो।।
दरसन कों नयना तपे लाल, वचन सुनन कों कान।
मिलबे कों हियरा तपे मेरे जिय के जीवन प्रान हो।।
मन अभिलाषा ह्वै रही लाल, लागत नयन निमेष।
इकटक देखूँ आवते प्यारो नागर नटवर भेष हो।।
पूरण शशि मुख देखके चित चोट्यो वाही ओर।
रूप सुधारस पान के लाल, सादर कुमुद, चकोर हो।।

श्री गोवर्धनवासी साँवरे! तुम बिन रह्यो न जाय

जबसे प्रभु को देखा है तब से भक्तों की दृष्टि में भगवान् का रूप समा गया है। तब से उन्हें अन्य के दर्शन की रुचि ही नष्ट हो गई है। भगवान् के दर्शन के बाद चित्त में विकलता और अस्वस्थता आ जाती है। विरहातुर भक्त को भूख, प्यास लगती ही नहीं। अन्न जल की याद भी नहीं आती है। रात्रि में नींद भी बैरिन हो जाती है।

प्रियतम के दर्शन के लिए नेत्र संतप्त हो जाते हैं। प्रियतम के वचन सुनने के लिए कान तरसते रहते हैं। उसके मिलन के लिए हृदय तड़प उठता है। क्योंकि प्रभु भक्त जीव के प्राण हैं, उनके जीवन हैं। प्रभु के फिर कब दर्शन होंगे, इसकी अभिलाषा अधिकाधिक तीव्र होती जाती है। आँख की पलकें बंद नहीं होतीं। एकटक, अपलक दृष्टि से प्यारे नटवर नागर नंदकिशोर के दर्शन करने का मन होता है।

पूर्णिमा के चन्द्र की तरह भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन करने को मिले उसी में भक्तों को सुख है। एक बार इस मुखचन्द्र के दर्शन कर लेने के पश्चात् वहाँ से चित्त हटते ही नहीं है। जिस प्रकार चकोर पक्षी को चन्द्रमा के दर्शन का ही सुख है, जिस प्रकार कुमुदनी चन्द्रदर्शन से ही खिलती रहती है, इसी प्रकार भक्तों के हृदय में भगवान् ही सुख और शीतलता का संचार करते हैं।

श्री दामोदरदासजी को श्रीआचार्यजी प्रत्येक तीसरे दिन दर्शन देते थे और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त की वार्ता करते थे। यदि कभी तीसरे दिन दर्शन न होते तो उस दिन दामोदरदासजी के पेट में बहुत दर्द होता था। वे बहुत कष्ट पाते थे अर्थात् श्री महाप्रभुजी के दर्शन से तीन दिन तक संयोग रस का आवेश रहता था और उस आवेश में वे मग्न रहते थे। तीसरे दिन जब देह की स्मृति आती और उससे विरह का कष्ट होता फिर दर्शन होते और फिर से वे स्वरूपानंद में मग्न हो जाते।

यह है स्वरूप का संयोग रस और वियोग रस।

<u>राग सारंग</u>

ब्रज के विरही लोग दुखारे
बिन गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुर्बल तन कारे॥
नंद, जसोदा मारग जोवति, निसि दिन साँझ सकारे।
चहुँ दिसि कान्ह कान्ह कहि टेरत, अँसुवन बहत पनारे॥
गोपीग्वाल गाइ गोसुत सब, अतिही दीन बिचारे।
'सूरदास' प्रभु बिनु यौं देखियत, चंद बिना ज्यौं तारे॥

भाव

भगवत् भाव भगवदीयों की निधि है, खजाना है। वैष्णव की वैष्णवता की यह सच्ची समृद्धि है। इस निधि के अभाव में वह कंगाल है इसलिए वैष्णव को यत्नपूर्वक इसे सम्हाल कर रखना चाहिए।

तत्त्वदीप निबंध में श्रीवल्लभ निरूपण करते हैं कि, **"विशिष्ट रूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्"** पुष्टि भक्तों के लिए पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही फलरूप हैं और उस फल को प्राप्त करने का साधन प्रेम है।

रस की पूर्व अवस्थारूप आनंद का सूक्ष्म रूप है प्रेम। श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का साधन यदि प्रेम है तो उस प्रेम का साधन नवधा भक्ति है। श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति के संस्कार बल के अभाव में या मात्र संस्कार बल से या फलकामना से जो प्रीति प्रकट होती है, वह मनुष्य का मुख्य प्रेमात्मक साधन नहीं हैं। इसलिए भगवान में भाव जगे, प्रेम प्रकटे इसलिए नवधा भक्ति रूप साधन आवश्यक है। श्रीकृष्ण गीताजी में कहते हैं –

"भक्त्यात्वनन्यया शक्यः अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातु द्रुष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।" हे अर्जुन! इस प्रकार का जो मेरा स्वरूप है उसका यथार्थ ज्ञान, उसका दर्शन तथा उसमें प्रवेश अनन्य भक्ति के प्रताप से ही हो संभव है।

भक्ति में सर्वाधिक महत्व भाव का है। भाव भक्ति का प्राण है। भावरहित भक्ति भक्ति ही नहीं है। भाव कोई भी हो यदि वह नित्य और दृढ़ हो और भगवान् के प्रति हो तो किसी भी प्रकार का भाव कल्याणकारी है। जैसे भक्ति के द्वारा भगवान में मन लगाकर बहुत लोग उत्तम गति को प्राप्त हुए है; वैसे ही काम से, द्वेष से, भय से अथवा स्नेह से भगवान् में मन लगाकर भी अनेक जीवों ने भगवान् की प्राप्ति की है। यथा –

गोप्यः कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चेद्यादयो नृपाः।
संबंधात्वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो।।

गोपिकाओं ने कामना से (उत्कट् प्रेमलक्षणा भक्ति से) कंस ने भय से, शिशुपाल आदि राजाओं ने द्वेष से, यादवों ने संबंध से, पांडवों ने स्नेह से तथा नारद आदि ने भक्ति से भगवान् को प्राप्त किया है।

बीज भाव-वृद्धि

'भक्तिवर्धिनी' ग्रन्थ में श्री महाप्रभुजी ने बीजभाव और उसकी दृढ़ता के उपायों की चर्चा सुन्दर रूप से की है। बीजभाव की दृढ़ता से भक्ति दृढ़ होती है। जैसे मूल की दृढ़ता वृक्ष की दृढ़ता है। इसी

प्रकार बीज भाव की दृढ़ता ही भक्ति की दृढ़ता है।

शुद्ध पुष्टिमार्गीय आचार्य की कृपा प्राप्त करके अपने मार्ग में कहे अनुसार भगवान को निवेदन करने के बाद भगवान् भक्त को अंगीकार करे, यही बीजभाव है। श्री महाप्रभुजी में सदा भक्ति भाव रखकर, उनके मार्ग में स्थित रहना चाहिए। उनकी आज्ञाओं का पालन करना ही बीजभाव की दृढ़ता भाव की दृढ़ता एवं भाव की वृद्धि का मुख्य साधन है।

पुष्टिमार्गीय न हों ऐसे साधनों के त्याग करने तथा भगवान के गुणों के श्रवण-कीर्तन से भक्तिभाव की वृद्धि होती है।

पुष्टिमार्ग के भावात्मक बीज की दृढ़ता के लिए अव्यावृत्त रहकर बहिर्मुखों का संग छोड़कर स्वयं के धर्म के अनुसार घरमें रहते हुए श्रवण आदि साधन करते हुए श्रीकृष्ण को भजना चाहिए। व्यावृत्त स्थिति में अर्थात् लौकिक संग हौ तब भी श्री हरि में चित्त रखकर हमेशा श्रवण इत्यादिक के लिए प्रयास करना चाहिए।

इस भाव की वृद्धि में पहले प्रेम, फिर आसक्ति और उसके बाद व्यसन अवस्था आती है।

'स्नेहाद्रागविनाशः स्यात्' स्नेह रूप प्रथम अवस्था सिद्ध होते ही भगवान् के अलावा सबसे होने वाले राग का नाश हो जाता है। **'आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः'** भगवान् में आसक्ति होने पर घर के प्रति अरुचि हो जाती है। घर के लोगों में बाधकता की, ये सब मेरी भक्ति में अंतराय करने वाले हैं, ऐसी प्रती होने लगती है और उनके साथ मात्र देह का ही संबंध है, आत्मा का नहीं, ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

'यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि' श्रीकृष्ण में व्यसन होने पर जीव पूर्णरूपेण कृतार्थ हो जाता है। श्रीकृष्ण के दर्शन बिना रह ही नहीं सकता- ऐसी स्थिति-व्यसन अवस्था कहलाती हैं।

वैष्णव को श्रीहरि के स्थान में, थोड़ा दूर लेकिन अधिक दूर नहीं इस प्रकार तदीय-भगवदीयों के साथ, जिस प्रकार चित्त में दोष उत्पन्न न हो, उस प्रकार रहना चाहिए। त्याग के स्वरूप को समझे बिना यदि घर छोड़ दिया जाता है तो दुःसंग और अन्नदोष जैसे विघ्न आ सकते हैं। यदि भगवत्-सेवा में और भगवत्-कथा में, वैष्णव को जीवनपर्यन्त दृढ़ आसक्ति हो जाय तो उसका नाश कहीं भी और कभी भी नहीं होता है। **'भावात्मनोह्यनुभवः सर्वो भावेन नान्यथा'** श्रीकृष्ण भावमय होने से उनकी प्राप्ति एवं उनके भजन (सेवा-स्मरण) की प्राप्ति भी भाव से ही होती है।

भाव उत्कटता

लोक-वेद-भयाभावो यत्र भावातिरेकतः।
सर्वबाधकता स्फूर्तिः पुष्टिमार्ग स कथ्यते॥

जिस मार्ग में प्रभु के प्रति भाव में उत्कटता आने पर लौकिक और वैदिक के संबंध में कभी, किसी प्रकार का और किसी का भय नहीं रहता है। लोक तथा परलोक में इस प्रकार की हानि होगी,

ऐसा भय थोड़ा भी नहीं रहता है, बल्कि भगवत् -संबंध रहित प्रत्येक वस्तु बाधक, दुःखजनक हो जाती है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।

श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि, चित्त में भगवत्प्रेम संपादन करना चाहिए। फिर यह प्रेम से भरा हुआ चित्त भगवान् को सर्वत्र ग्रहण करेगा, सर्वतः अनुभव करेगा। जिस प्रकार जीभ (जिव्हा) वस्तु में रहने वाले रस का स्वयं अनुभव करती है, उसी तरह भक्तिवाला चित्त स्वयं ही भगवान को ग्रहण करता है।

निर्गुण भक्ति का लक्षण ही यही है कि उससे लोक-वेद-भय की निवृत्ति हो जाय। 'पर्वतभेदन-मपि कृत्वा यथा गंगाम्भोऽम्बुधौ गच्छति' जैसे गंगाजी पर्वत का भेदन करके उसमें से होती हुई समुद्र में जाती हैं उसी प्रकार लौकिक-वैदिक प्रतिबंधों को दूर करके भगवान् में मन की जो अविच्छिन्न गति है वही निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है।

'भावोऽत्र साधनं मार्गे प्रमेयं भगवान हि सः' पुष्टिमार्ग में भाव ही साधन है और साध्य स्वयं भगवान् हैं।

पुष्टिमार्ग में जिसका वरण भगवान् के द्वारा हुआ है, उसे ही भाव प्राप्त होगा। मर्यादामार्गीय जीव की साधन में निष्ठा होती है, जबकि पुष्टिजीव का वरण कृपामार्ग में होने से उसकी दृष्टि प्रभु के अनुग्रह में रहती है। भगवत् -भाव में जैसे उत्कटता आवश्यक है, वैसे ही भाव का गोपन भी आवश्यक है। वैष्णव को अपने उत्कट भाव को हमेशा हृदय में ही स्थापित रखना चाहिए और उसे किसी के सामने प्रकट नहीं करना चाहिए। वर्तमान काल में तो मनुष्य बहिर्मुख हो गए हैं, इस कारण से भी अपना दिव्य भाव प्रकट नहीं करना चाहिए - 'प्रकट किए रस जाय'

भगवान -भावात्मा

भगवान भाव स्वरूप हैं। वे भाव स्वरूप से सबके हृदय में विराजमान हैं। सेवा और स्मरण से हृदय में अनुभव होने वाला 'भाव' भगवान का ही स्वरूप है।

श्रृंगार के पूर्व दल रूप प्रभु लोक और वेद में प्रसिद्ध हैं, इसीलिए तो प्रभु को लोक-वेद-प्रथित कहते हैं। ये प्रभु श्रुति में सिद्ध, समग्र, ब्रह्मधर्म के आधार रूप, वासुदेवादि चार-व्यूह सहित समग्र आश्चर्य के धामरूप हैं।

जबकि विप्रयोग श्रृंगारात्मक प्रभु भाव की गूढ़ता के कारण भक्तों के हृदय में 'भाव' रूप में स्थित होते हैं। यह स्वरूप अनुभव से जाना जाता है। भावतत्व अनिर्वचनीय हैं।

भगवद्-भाव में मग्न भगवदीयों को सर्वफल सिद्ध होते हैं 'इतरेषां कालिकानां कालेन निखिलं गतम्' भावरहित जीव तो काल के अधीन होते हैं उनके सारे साधन कराल काल खा जाता है, यद्यपि काल भी भगवान् की विभूति है। वह भगवान् का मुख्य अधिकारी होने पर भी भगवान की इच्छा शक्ति का स्वरूप है, इसलिए प्रभु के भक्ति-परायण भावयुक्त भगवदीयों पर उनका बल नहीं चलता है। काल सर्प जैसा है। दूसरों को यह जहर से मार सकता है, किन्तु अमृत पान करने वालों को मार

नहीं सकता। जिसने भक्ति रसामृत का पान कर लिया है, उसका काल-सर्प कुछ नहीं बिगाड़ सकता है।

भावबाधक

भगवदीयों को भगवद्-भाव में बाधक बनने वाली लौकिक मति कभी नहीं रखनी चाहिए। भक्त के लिए आवश्यक लौकिक -वैदिक साधन प्रभु स्वयं ही सिद्ध करके देते हैं।

भाववृद्धि और भाव-संरक्षण में अहंकार, असमर्पित, अन्याश्रय और दुःसंग ये चार महाबाधक हैं।

भगवान् के साथ कपट करने वाली चतुराई भी भावभक्ति में बाधक है।

'शुद्ध भावः प्रभो स्थाप्यौ न चातुर्यं प्रयोजकम्' प्रभु में शुद्ध भाव स्थापित करना चाहिए, इसमें चतुराई नहीं चलती है, प्रभु तो सर्वान्तरयामी हैं, वे सबके मन के भावों को जानते हैं।

भाव-उत्पत्ति

भाव की उत्पत्ति कब होती है?

उत्तम भक्त का संग करे और श्रीमद् भागवत श्री सुबोधिनीजी आदि ग्रन्थों का अहर्निश अवगाहन करें, तब भगवद् भाव उत्पन्न होता है। वैष्णव को उत्तम भाववाले भगवदीयों का संग करना चाहिए। जिस प्रकार भीगे हुए वस्त्र के पास कोई सूखा वस्त्र रखें तो सूखा वस्त्र भी थोड़ा तो भींग जाएगा, इसी तरह उत्तम भक्त के सान्निध्य में भगवद् भाव की प्राप्ति होती है। भगवदीयों के हृदय में भगवान् सदा ही निवास करते हैं। वहाँ ये सेवा से बँधे हुए हैं इसलिए जिनके हृदय में प्रभु बिराजते हैं, ऐसे भगवदोयों के संग में रहना चाहिए।

गज्जन धावन जब तक नहीं आये तब तक श्री ठाकुरजी ने राजभोग आरोगा नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान् भक्त के आधीन हैं। वे भक्त से बँधे हुए हैं।

जो वैष्णव श्रीठाकुरजी के स्वरूप को जानते हैं, उसका संग करना चाहिए। जिसकी दृष्टि अलौकिक हो, उसे भगवान का स्वरूप समझ में आता है या जिसे भगवान की आज्ञा होती है, वह उनके स्वरूप को समझ सकता है। भगवान् स्वयं अपने स्वरूप को जिसे समझाते हैं, वही उनके स्वरूप को जानता है। ऐसे भगवद्भावसम्पन्न भगवदीय जो कुछ भी करते हैं, वह सब भगवान के लिए ही करते हैं। वे श्रीठाकुरजी के लिए विरहताप का अनुभव किया करते हैं। वे स्वयं के दोषों का विचार करते हैं। स्वयं के स्वरूप का विचार करते हैं कि "मैं कौन हूँ?" पहले मैं क्या था? फिर मेरे जैसे का भगवद् -सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अब मैं क्या हो गया हूँ? और मेरा क्या कर्त्तव्य है? ऐसे विचार अहर्निश भगवदीय किया करते हैं, तब उन्हें उनके स्वरूप का ज्ञान होता है, ऐसे उत्तम भगवदीयों का संग करने से भगवद् भाव उत्पन्न होते हैं।

भगवद्-भाव उत्पन्न होने के बाद भगवदीय को उसका प्रदर्शन न हो इसके लिए सावधान रहना चाहिए। पुष्टि भक्ति का बीजभाव अत्यन्त गोपनीय है। अतः उसे हृदय के भीतर सँभालकर रखना

चाहिए। चाहे जिसके सामने प्रकट नहीं करना चाहिए।

काशी के हरिवंश पाठक पटना व्यापार के लिए गए थे। डोल उत्सव पास आ गया। श्रीठाकुरजी ने हरिवंश पाठक को स्मरण कराया -"तू मुझे डोल नहीं झुलावेगा?" हरिवंश विचार करने लगे कि दिन तो थोड़े रह गये कैसे घर जाऊँगा। चलकर तो नहीं पहुँच सकता। उन्होंने वहाँ के हाकिम से घोड़े तथा सहायक मनुष्य की माँग की। उनके हाकिम से अच्छे संबंध थे। वे कहते थे आप जो माँगो मैं दूँगा। तब हरिवंश कहते-'किसी दिन काम पड़ेगा तो अवश्य कहूँगा।' घोड़ा मिलने पर हरिवंश पाठक तीन दिन में काशी पहुँच गये। श्रीठाकुरजी को खूब भाव से झुलाया। दस-पंद्रह दिन काशी में रहे फिर पटना लौट आये। हाकिम से मिले। तब उन्होंने पूछा-'घर में ऐसा क्या जरूरी काम था कि आपने घोड़ा माँगा? यदि धन--संपत्ति माँगी होती तो लाख रुपये भी दे देते।' हरिवंश पाठक ने यह नहीं बताया कि श्री ठाकुरजी की आज्ञा उत्सव करने के लिए हुई थी अतः गया था। उन्होंने यही कहा-'हम गृहस्थ हैं। घर के बहुत से काम होते हैं इसलिए जाना पड़ा था।' इस प्रकार उन्होंने स्वयं के भाव और धर्म को गूढ़ रखा, प्रकट नहीं किया। अलौकिक पुष्टि मार्ग में भगवत् -स्वरूप तो भावात्मक है ही, लेकिन उसकी सेवा का प्रकार और सेवापयोगी सामग्री भी भावरूप है। भावरूप वस्तु प्रभु अवश्य अंगीकार करते हैं और जैसा भाव हो उसी तरीके से अनुभव भी करते हैं।

पद्मनाथदास एक बार अड़ेल महाप्रभुजी के पास आये। थोड़े दिन वहाँ रहे। परन्तु पैसे की कमी के कारण श्री ठाकुरजी को छोला-चना तलकर समर्पित किए। पत्तल में एक मुट्ठी खीर की तथा अन्य-अन्य शाक-भाजी की भावना करके अलग-अलग मुट्ठी धरते थे। ऐसा नित्य करते थे। एक दिन श्री महाप्रभुजी पधारे। पत्तल में चने की अलग ढेरी देखकर पूछा-'ये सब अलग-अलग ढगली क्यों की हैं? तब पद्मनाभदासजी ने कहा-'यह दाल है, यह भात है, यह खीर है, यह कढ़ी है, यह शाक है।' पद्मनाभदास के ऐसे भाव को देखकर आचार्यजी का हृदय भर आया। भगवदीय जिस भाव से सामग्री धरता है, प्रभु उसे उसी भाव से आरोगते हैं। भाव ही भगवदीय की निधि है।

पुष्टिमार्ग में भाव साधन है और भावात्मा भगवान प्रमेयरूप हैं, फलरूप हैं। पुष्टिमार्ग भावात्मक मार्ग है, इसलिए वैष्णवों को निधि रूप भाव की सतत रक्षा करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा ही प्रमाण रूप हैं और वही फलरूप भी है। भगवद्‌भाव रूपी निधि की रक्षा करना वैष्णव का कर्तव्य है। भगवद्‌भाव के प्रतिकूल जो भी कुछ है, उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। प्रभु के प्रति अनन्य स्नेह और आश्रय तो हो ही किन्तु तादृशी वैष्णवों के साथ भी स्नेह होना चाहिए तथा उनके साथ गोष्ठी करके, सत्संग करके पुष्टि के भाव पर विचार करना चाहिए। तादृशी वैष्णवों के संग से हृदय में भगवद्‌भाव अचल निश्चल बन जाता है तथा चित्त अन्य लौकिक पदार्थों में इधर-उधर भटकता नहीं है। (शिक्षापत्र २२ का सार)

मोक्ष

अहंता-ममता त्याग

श्री महाप्रभुजी 'बालबोध' ग्रंथ में अहंता-ममता त्याग की आवश्यकता समझाते हुए कहते हैं कि,

"अहंता-ममता-नाशे सर्वथा निरहंकृतौ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते"

अहंता-ममता का नाश होकर 'मैं कुछ नहीं करता हूँ'-इस प्रकार से अहंता की निवृत्ति होने पर देहाभिमानी जीवात्मा जब अपने स्वरूप में, आत्मज्ञान में निष्ठावाला होता है, तब जीवात्मा कृतार्थ (मुक्त) होता है।

अहंता-नाश अर्थात् स्थूल देह एवं लिंग देह में, यह 'मैं हूँ' इस अज्ञान का नाश। सांख्य शास्त्र के मतानुसार स्थूल देह पंचभूतों से बना हुआ है। सूक्ष्म (लिंग) देह, ११ इन्द्रियाँ ५ तन्मात्राएँ और १ बुद्धि। इस तरह सत्रह तत्वों से बना हुआ है। देह में रहने वाली अहंता को निवृत्त करना चाहिए। इसी प्रकार घर, संपत्ति, परिवार 'ये सब मेरा है' ऐसी ममता का भी त्याग करना चाहिए।

'जनो वै लोक तस्मिन्नाविद्या-काम-कर्मभिः' जीव के संसार के सारे अनर्थों का मूल अहंकार है। इस जगत् में मनुष्य को पहले तो देहादि में अहंकार और देहादि संबंधों में ममता होती है, उसके बाद विभिन्न वासनाएँ प्रकट होती हैं। उनके आधीन होकर वह अच्छे-बुरे कर्म करता है। और इसी कारण ऊँची-नीची गतियों को प्राप्त करता है और इन सब जंजालों के कारण वह स्वयं अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है।

छिद्रवाले पात्र में से जैसे जल रिस जाता है, उसी प्रकार मनुष्य की आयु बीतती जाती है। उसे मालूम ही नहीं होता है। भगवदीय को क्षणमात्र भी विलंब किए बिना चित्त को भगवच्चरणों में लगा देना चाहिए। देह तो नाशवान है। देहादि के साथ का संबंध अविद्याजनित है, अहंताममता रूप है। संसार भी उससे ही उत्पन्न हुआ है। उत्तम भक्त ने सांसारिक संबंध को सत्य नहीं मान लेना चाहिए। अविद्याजनित संबंध अनित्य तथा दुःखप्रद ही हो सकते हैं। इस संबंध-जनित सुख-दुःख को भी सत्य नहीं मानना चाहिए। ये सब अर्थात् अविद्या अहंता-ममतात्मक संसार, सांसारिक संबंध, संबंध' जनित सुख-दुःख का अनुभव इन सबसे मुक्त होने के लिए 'हरिंशरणमाव्रजेत्' श्री हरि की शरण में जाना चाहिए। श्री हरि स्वभाव से ही दुःख और दुःखों के कारणों का नाश करेंगे।

जीव सर्वत्र भगवान् के कर्तृत्व का विचार करे तो अहंता-ममता के निवारण का उपाय सरलता

से कर सकता है। विश्व की सारी घटनाओं का कर्तृत्व भगवान् के ही हाथ में है। सुख-दुःख, सबके संयोग-वियोग आदि सब उनकी इच्छा से ही होता है।

नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च।
वायुर्यथा घनानीकं तृणतूलं रजांसि च॥
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत्॥

जिस प्रकार वायुबादलों के समूह को, घास को, रुई को एवं धूल आदि को एक-दूसरे के साथ जोड़कर फिर वापस अलग कर देते हैं, उसी प्रकार प्राणियों का सृष्टा भगवान् सारे प्राणियों को एक-दूसरे के साथ जोड़ते हैं और फिर अलग-अलग कर देते हैं। ये सब यदि भगवान् ही कर रहे हैं, तो जीव को अहंकार करने का आधार ही कहाँ रहता है?

सामान्यतः जब तक गुणों का परिणाम एवं बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शब्दादि विषयों का समूह (संघात) यह लिङ्ग देह मौजूद हैं तब तक जीव के स्थूल देह के लिए मैं और मेरा (अहंता-ममता) का भाव नष्ट नहीं होता है।

मुक्ति-

''**मुक्तिर्हित्वंन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः**'' अन्यथा रूप को छोड़ कर (अर्थात् प्रकृति के बने हुए अहंता-ममता वाले रूप को छोड़कर) अपने सही स्वरूप में ही रहना मुक्ति है।

जब पंचमहाभूत, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय और अन्तःकरण इन सबसे रहित स्वयं के आत्मा को भगवान् के साथ एक स्वरूप देखे तब आत्मा मुक्त हुई कहलाती है।

जीव की संसार-निवृत्ति ही मुक्ति है। ऐसा सोचे कि संसार एक वस्त्र है, वस्त्र जिस प्रकार ताना और बाना दो धागों से बनता है, उसी प्रकार कर्म और वासनारूपी ताना-बाना द्वारा संसाररूपी वस्त्र का निर्माण होता है।

कर्म का नाश तो सम्भव नहीं है, परन्तु भगवान् की प्रसन्नता के लिए कर्म किए जावें तो संसार का नाश हो जाता है अथवा वासना को भगवान् की तरफ मोड़ दें तो उसका रूपान्तरण उपासना स्वरूप में हो जाता है। श्री मुकुंद की उपासना भी जीव को मुक्ति का दान करती है।

भक्तिमार्ग में तो सर्वात्मभाव से भगवान के होकर रहना ही मोक्ष है।

मुक्ति-निरपेक्ष -

जैसे सरिता सागर में मिल जाती है, वैसे ही जीव स्वरूप से भगवान् में मिल जाय, यही मुक्ति सायुज्य मुक्ति कहलाती है। भक्त मुक्ति नहीं चाहता है क्योंकि '**ब्रह्मानंदे प्रविष्टानां न भक्तिविलासः**' ब्रह्मानंद (मुक्ति) की स्थिति में प्रविष्ट हो जाने वाले जीवों को भक्ति का सुख सुलभ नहीं होता है। अनुभव करने के लिए भिन्नता होना जरूरी है। '**अनुभवरसो भिन्नतया स्थितौ भवति**' अर्थात् भक्त को भगवान से थोड़ा भेद तो रखना ही चाहिए, तभी रसानुभव होता है।

भक्ति और मुक्ति दोनों भवसागर से छुड़ाने वाली हैं। इतना साम्य दोनों में है फिर भी विशेषता तो यह है कि मुक्त को मोक्ष में अक्षर ब्रह्म की अनुभूति होती है। अक्षर तो अव्यक्त है, अतः अक्षर की अनुभूति भी अव्यक्त है, किन्तु भक्तिमार्ग में तो परमानंद के अनुभव की प्राप्ति है। यह अनुभूति व्यक्त है इसलिए भक्त तो सदा भक्ति की ही कामना करता है।

भक्तिमार्ग में मुक्ति नहीं, परन्तु भक्ति ही परम पुरुषार्थ है। मुक्ति की अपेक्षा भक्ति बढ़कर है। इसलिए 'चतुःश्लोकी' में मोक्ष पुरुषार्थ के निरूपण में '**स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्**' स्मरण और भजन का त्याग नहीं करना चाहिए, ऐसा श्री वल्लभाचार्यजी का मत है। मुक्ति के स्थान पर स्मरण तथा भजन का निरूपण है अर्थात् विप्रयोग में भगवान् का मन से स्मरण करना और संयोग में निरंतर सेवा करना चाहिए। यही भगवदीय की, भक्त की मुक्ति है। विप्रयोग में स्मरण और संयोग में सेवा ही भक्ति है। इन दोनों को छोड़ना नहीं चाहिए।

अधिकारी -

"**सत्सेवारुचिः भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा शास्त्रपरत्वां चान्तिमजन्मज्ञापकम्**" संतों की सेवा में रुचि, भगवान् के स्वरूप में ज्ञान की इच्छा और शास्त्र-परायणता ये तीनों लक्षण अन्तिम जन्म के सूचक हैं। इसलिए इन तीनों लक्षणों को धारण करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता है।

सांसारिक चिन्तन छोड़े तो ही मुक्ति मिलती है। जैसे स्वप्न में कोई पदार्थ विद्यमान नहीं होता तो भी जागे बिना स्वप्नजनित अनर्थ की निवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार सांसारिक वस्तुएँ यद्यपि मायारचित हैं तो भी अविद्यावश जीव उनका चिन्तन करता है। इससे उसकामरणरूप संसार से छुटकारा नहीं होता।

भगवान् कपिलदेव कहते हैं कि "जो इस लोक, परलोक एवं सम्पत्ति, पशु, गृह इत्यादि सबका त्याग करके, लौकिक-पारलौकिक वस्तुओं में से स्नेह को समेटकर निर्लेप रहकर, अनन्य भाव से मुझे भजता है, उसे मैं मृत्यु के पार ले जाता हूँ। अर्थात् वह सनकादि मुनियों की भाँति मुक्त रहते हुए देहधारी जैसी अवस्था प्राप्त करता है।"

भगवान् से मुक्ति की प्राप्ति -

ज्ञान तथा भक्ति का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र जिस प्रकार मुक्ति के साधन रूप हैं, उसी प्रकार भगवान् का स्वरूप भी मुक्ति के लिए साधन रूप है। भगवान् ने मुक्ति का दान करने के लिए अवतार लिया है। मुक्तिदान भी अवतार का एक हेतु है। इसीलिए प्रभु सच्चिदानंद रूप से प्रकट हुए हैं, अतः कोई भी जीव किसी भी उपाय से स्वयं का भगवान से सम्बन्ध जोड़ लेता है तो उसे मुक्ति मिल जाती है। चाहे उस जीव के पास ज्ञान या भक्ति रूप मुक्ति के साधन न हों। ज्ञान और भक्ति का तो भगवान् के आविर्भाव के लिए ही उपयोग है। यह आविर्भाव यदि दूसरे तरीके से सिद्ध हो तो ज्ञान और भक्ति की उपयोगिता नहीं है।

भगवान् का आविर्भाव तीन प्रकार से अथवा तीन कारणों से होता है-निज इच्छा से, ज्ञान से

अथवा भक्ति से। जब भगवान का अवतार न हुआ हो तब ज्ञान या भक्ति दोनों में से कोई भी एक मुक्ति का साधन बन सकता है। परन्तु यदि भगवान् प्रकट ही हों तब अर्थात् अवतार काल में मुक्ति के लिए ज्ञान एवं भक्ति का प्रयोजन नहीं रहता है। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में जल सर्वत्र सुलभ होता है तब कुए और नदी का प्रयोजन ही नहीं रहता है। जिस प्रकार भक्ति से भगवान् में मन लगाकर बहुत से जीव परमात्मा की गति को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार काम से, द्वेष से, भय से तथा स्नेह से भी भगवान् में मन लगाने से अनेक जीव प्रभु की गति को प्राप्त हुए हैं। गोपियों ने कामना से (स्नेह से) कंस ने भय से, शिशुपाल आदि ने द्वेष से, यादवों ने संबंध से, पांडवों ने प्रेम से तथा नारदादि मुनियों ने स्नेह से भगवान को प्राप्त किया है।

भगवान कहते हैं कि मैं ही प्रकृति और पुरुष का नियामक हूँ। मैं ही सारे प्राणियों का आत्मरूप हूँ। मृत्यु का तीव्र भय मेरे सिवाय दूसरे किसी से निवृत्त नहीं होता।

हरिभक्तन सुं गर्व न करनो।
यह अपराध परमपदहु से उतरि नरकमँ परनो...
हौं कुलीन, धनवान, यह भिक्षुक, इतनो मन में नाहीं धरनो
राज सिंहासन, अश्व पालकी, तासु भवसागर नहीं तरनों
खान, पान बनाये भले जुं वदन पसार फेरहु मरनो
'सूरदास' यह सत्य कहत हौं भक्तन के संग उबरनो॥

एक बार काशी के राजा को मन में हुआ कि चलें सेठ पुरुषोत्तमदास से मिलें। राजा प्रातःकाल सेठ से मिलने आया। उस समय सेठ छोटा पंछा पहनकर गोबर एकत्रित कर रहे थे। सेठ के मनुष्यों ने सेठ से कहा कि आपसे मिलने के लिए राजा आये हैं। तब सेठ ने कहा- "आने दो"। राजा आये, तब सेठ गोबर से सने हुए हाथों से राजा के सामने आये। राजा समझदार था उसने कहा-"सेठजी आप धन्य हैं, संसार में आपका बड़प्पन ही छूटा है।" सेठ ने कहा-"हम तो गृहस्थ हैं। घर का काम भी करना चाहिए।" राजा प्रसन्न होकर चर्चा करके लौट गया। सेठ को प्रतिष्ठा की चाह किंचित् नहीं थी। उन्होंने राजा के सम्मुख प्रदर्शन नहीं किया।

भगवान् के भक्तों को कभी गर्व नहीं करना चाहिए। गर्व करना अपराध है। यह अपराध कोई करता है तो वह चाहे कितने ही बड़े पद परआरूढ़ हो, वहाँ से पतित होकर नरक में गिरता है। जय-विजय वैकुंठ में भगवान् के द्वारपाल थे परन्तु अभिमान के कारण वे वैकुण्ठ से नीचे गिरे। धरती पर आये। मैं उच्चकुल में जन्मा हूँ। मैं धनवान हूँ और ये भिखारी हैं। ऐसे विचार मन में कभी नहीं लाना चाहिए। दूसरे को संकट में देखकर कभी खुश नहीं होना चाहिए। दुःख आज दूसरों पर है तो कल आप पर भी आ सकता है। जो गर्व करता है, वह दुःखी होता ही है। सुख-समृद्धि अंतकाल में किसी काम की नहीं। राजसिंहासन पर बैठकर घोड़ा-पालकी पर बैठकर, कोई भी सागर पार नहीं कर सका है। काल के आगे राजा और रंक, ज्ञानी और अज्ञानी, बलवान् और निर्बल सब समान हैं। मानव जीवन में कितना ही खाय-पीवे, मेवा-पकवान आरोगे। कितने ही प्रकार के उच्चकोटि के भोगों को भोगें परन्तु अन्त समय में मुँह फाड़कर मरना ही होता है। मनुष्य को अपने उद्धार की

इच्छा हो उसे भगवदीयों के संग में रहकर अहंता- ममता का नाश करना चाहिए।

कहा करूँ बैकुंठहि जाई?
जहाँ नहीं नंद जहाँ न जसोदा, जहाँ न गोपी ग्वाल अरु गाई
जहाँ न जल जमुना को निर्मल और न कदमन की छांई
'परमानंद' प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरस तजि मेरी जाय बलाई।।

ब्रज अत्यन्त प्रिय है, बैकुँठ न जाऊँ। भगवद् -भक्तों ने हमेशा मोक्ष से इनकार किया है। जो सुख हरिभजन में या भगवत् -दर्शन में मिलता है, स्मरण और सेवा में मिलता है, वह वैकुण्ठवास में नहीं मिलता। यह भगवदीयों की अनुभव की वाणी है। सूर, तुलसी, नरसिंह, मीरा, दयाराम जैसे कई भक्त कवियों ने मुक्ति को अस्वीकार किया है और भक्ति को ही सुख रूप माना है।

मुक्ति का मतलब अपुनर्जन्म, पुनर्जन्म न होना। जन्म-मृत्यु को जंजाल मानकर ज्ञानी एवं योगी इसमें से मुक्त होने की इच्छा करते होंगे, जबकि भक्तों ने तो बारंबार भगवान् की सेवा करने, स्मरण और सत्संग का लाभ लेने के लिए पुनः पुनः जन्म माँगा है, 'हरिना जन तो मुक्ति न माँगे।' मुक्ति अर्थात् भगवान् में लय। भक्तों को तो भगवान् के दर्शन करना है। उनकी लीला के दर्शन करना है। उनके मन में भगवान् के लीला-धाम में रहने की इच्छा है। जहाँ श्री नंदरायजी नहीं, जहाँ वात्सल्यमयी यशोदाजी नहीं, वह वैकुण्ठ किस काम का? वैकुण्ठ में ब्रज-गोपियाँ नहीं, भगवान् के अंतरंग गोप सखा नहीं। वैकुण्ठ में प्रिय गायें भी नहीं हैं। जहाँ श्री यमुनाजी का निर्मल जल नहीं है, कदंब वृक्ष की शीतल छाया नहीं है, वहाँ कौन भक्त जाने की इच्छा करेगा? इसलिए चतुर ग्वालिनी कहती हैं कि "इस ब्रज के सुख को छोड़कर कौन वैकुण्ठ जाने की बात करेगा? ब्रज के रस को छोड़कर मेरी बलाय वैकुंठ में जाय। भगवान श्रीकृष्ण का स्मरण करते-करते अहंता, ममता का त्याग करके श्रीकृष्ण को भजे, यही भक्त जीव का परम पुरुषार्थ है।" ●

वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भगवान् कृष्ण की भक्ति से भगवान् का ज्ञान होता है और जिसे भगवान् के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, वह भगवान् को प्राप्त करता है। भगवान् की निरन्तर भावना करने से भगवान् में परम प्रेमरूपा भक्ति होती है। मर्यादा भक्ति में प्रेम सोपाधिक होता है, उसका फल सामुज्य होता है। पुष्टि भक्तों में तो भगवान् के प्रति निरुपाधिक प्रेम होता है इसीलिए पुष्टि भक्तों को सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य, एकत्व आदि मुक्ति की अपेक्षा नहीं होती।

ब्रह्मानन्द में मग्न जीवों को केवल आत्मा के द्वारा ही सुख की अनुभूति होती है क्योंकि उनके देहादि संघात का लय हो जाता है। स्वतंत्र पुष्टि भक्तों को तो सभी इन्द्रियों, अन्तःकरण और आत्मा के द्वारा भी विशेष रूप से भगवद्-आनन्द की अनुभूति होती है। इसलिए पुष्टिभक्त ब्रह्मभाव की अपेक्षा घर में रहकर भगवत्सेवामय जीवन जीते हुए भजनानन्द में मग्न रहते हैं। वे जीवन्मुक्ति की अपेक्षा भगवत्कृपा युक्त गृहस्थाश्रम को उत्कृष्ट मानते हैं।

(शास्त्रार्थ प्रकरण ४५, ४६, ५०, ५१)

स्वाध्याय ४६

चिंता और चिंता-निवृत्ति

चिंतासन्तानहंतारो यत्पादाम्बुजरेणवः।
स्वीयानां तान्निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥

चिंता अर्थात् प्रयत्न सहित स्मरण अथवा ऐसा विचार कि 'मेरा क्या होगा?' इस प्रकार के विचार सेवा-भक्ति में बाधक हैं। इस प्रकार की चिंता की संतान अर्थात् परम्परा का निवारण श्री महाप्रभुजी की चरणरज से ही संभव है। चिंता की परम्परा की निवृत्ति के लिए मैं मन, वचन और कर्म से श्री महाप्रभुजी को नमन करता हूँ, ऐसा श्रीमत्प्रभुचरण गुसांईजी वर्णन करते हैं। इसलिए भगवदीय को चिन्ता-निवृत्ति के प्रथम साधन के रूप में श्री महाप्रभुजी को मन, वाणी और शरीर से नमन करना चाहिए।

भगवदीय को चिन्ता होनी ही क्यों चाहिए? जिसने प्रभु के चरणों में निवेदन कर दिया, उसका धर्म तो यह है कि उसे फिर किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। भगवदीयों को तो लौकिक कारण से चिन्ता हो ही नहीं सकती। प्रभु को सब कुछ निवेदन कर दिया तो फिर देहादि का निर्वाह कैसे होगा, ऐसी चिन्ता कैसे हो सकती है? जिसने आत्मनिवेदन कर दिया, वह तदीय हो गया अर्थात् भगवान् का हो गया। उसके देह इन्द्रिय आदि भी भगवान के हो गये। यदि यह होने पर भी उसे यह भान होता है कि यह देह आदि मेरे हैं, तो यह मानना होगा कि उसका स्वत्व का अभिमान शेष है। ऐसी स्थिति में उस सेवक के द्वारा 'अपने' देह आदि का भगवान् के पदार्थों से निर्वाह करना अनुचित या दोषपूर्ण होगा। यदि देहादि के निर्वाह की चिन्ता है तो यह स्पष्ट है कि उसका देहाभिमान नहीं गया है और यही उसकी चिन्ता का कारण है।

निवेदन का स्वरूप

आत्मनिवेदन करने वाला भक्त भी यदि आत्मनिवेदन के सही स्वरूप को नहीं समझे तो वह चिंता के अधीन हो जाता है। निवेदन दान नहीं है। अपनी सत्ता छोड़कर दूसरों की सत्ता उस वस्तु पर स्थापित करना इसका नाम दान है। दान दी हुई वस्तु का उपयोग दाता नहीं कर सकता, क्योंकि जो वस्तु दूसरो की हो गई उसका उपयोग हम नहीं कर सकते। उपयोग करने पर उसे दत्तापहार नाम का दोष लगता है। निवेदन दान नहीं है, समर्पण है। सब स्वयं प्रभु के हैं, ऐसा अनुसंधान निवेदन कहलाता है। निवेदित वस्तु से निर्वाह कर सकते हैं। श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं - **'चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति'** जिसने स्वयं की आत्मा निवेदित की है, उसे किसी प्रकार की चिंता कभी नहीं करना चाहिए। जो जीव कृपायुक्त है, पुष्टिस्थ है, वह कृपाप्राप्त है। इसलिए वैराग्य आदि वैदिक साधनों के अभाव में भी भगवान् उसकी लौकिक गति नहीं करते हैं। जीव ने जिसे निवेदन किया है वे भगवान् हैं अर्थात् ऐश्वर्य-वीर्यादि धर्मों से युक्त हैं इसलिए जीव में जो-जो कमी होगी,

उसकी वे पूर्ति कर देंगे और उसकी लौकिक गति नहीं होने देंगे। इसलिए निवेदित आत्मा को चिंता नहीं करनी चाहिए।

दूसरी बात यह है कि जीव ने निवेदन किया है। अब उसमें कोई अहंता-ममता की ग्रन्थि नहीं रही है। इसलिए उसकी लौकिक गति संभव नहीं। इसलिए भी चिन्ता का कोई कारण नहीं है। प्रभु में अविश्वास चिंता का प्रमुख कारण है। भक्त को प्रभु में अविश्वास नहीं करना चाहिए। वे तो अंगीकार मात्र से सर्व सिद्धि करने वाले हैं। ऐसा प्रभु में विश्वास रखना चाहिए ब्रह्मास्त्र-चातक-न्याय का ध्यान रखकर भक्त को भगवान् में विश्वास करना चाहिए। प्रभु में इतना भी विश्वास न हों तो वह निवेदितात्मा नहीं कहलाता है।

चिंता करने वाले भक्तों को विचार करना चाहिए कि उसने निवेदन रूपी स्वधर्म का पालन किया है तो भगवान् भी अंगीकृत जीव के पालन रूपी भगवत् -धर्म का निर्वाह करेंगे ही **एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।**

अंगीकृत पालन -

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

भगवान् कहते हैं कि जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हैं एवं निष्काम भाव से मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य मेरे से युक्त भक्तों का योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त की रक्षा) का भार मैं स्वयं उठाता हूँ।

प्रभु जिसे अंगीकार करते हैं, उसके दोष, अपूर्णता का विचार नहीं करते। उसकी उत्तम गति हो, इसका विशेष ध्यान रखते हैं।

प्रहलाद जैसे भक्त की रक्षा करने के लिए अद्‌भुत नृसिंह स्वरूप धारण करके स्तंभ में से प्रभु प्रकट हुए और दैत्य को मारने जैसी लीला करने के लिए तत्परता दिखाई श्री गोवर्धन-धारण करना, पांडवों के कार्य करना, गजेन्द्र की रक्षा करने दौड़ आना, सुदामा की दरिद्रता दूर करना ऐसे अनेक विविध उदाहरण भगवान् द्वारा अंगीकार स्वकीय जीवों के लिए परिपालक रूप में मिलते हैं।

भगवान् दुःखहर्ता -

यथा प्रथमोद्गतैः सूर्यकिरणैरेव सर्वतमोनाशः।
सूर्यस्तु तमः पश्यत्यपि न, तथा भगवान् भक्तानाम् ॥

जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रथम किरणों से ही सम्पूर्ण अंधकार का नाश कर देता है। सूर्य अंधकार को देखता ही नहीं, उसी प्रकार भगवान भक्त के दोषों का नाश करते हैं।

भगवान् कभी-कभी फलदान करने में विलम्ब करते हैं- इसका कारण यह है कि या तो वे भक्त की परीक्षा लेना चाहते हैं या भक्त को उसके प्रारब्ध का भोग देते हैं। अतः यदि फल-प्राप्ति में विलम्ब होता दिखाई दे तो भी भक्त को चिंता नहीं करनी चाहिए। 'नवरत्न' ग्रंथ में प्रारंभ में श्री

महाप्रभुजी ने भगवदीयों को किसी भी विषय और किसी भी कारण चिंता न करने की आज्ञा प्रदान की है।

गुणदोषनिरपेक्ष पालन-

पुष्टिमार्ग कृपामार्ग है। मर्यादामार्ग में आवश्यक वैराग्य आदि धर्म पुष्टि जीव में होने पर भी प्रभु ने महापुरुषों द्वारा उन्हें स्वीकार किया है और उनकी लौकिक गति नहीं होने दी है। उदाहरणार्थ नल-कूबर और मणिग्रीव विषयासक्त थे फिर भी श्री नारदजी के वरदान को सत्य करने के लिए प्रभु उनके पास गये। उनके दोष नहीं देखे परन्तु श्री नारदजी के द्वारा उन पर किया गया अनुग्रह देखा। इससे यह सिद्ध होता है कि महापुरुषों के पक्षपात से, कृपापूर्ण समर्थन से जीव के दोषों को न देखते हुए भगवान् उसका हित करते हैं। भगवदीय अगर ऐसी श्रद्धा करे कि प्रभु मेरी अपूर्णता का मेरी कमियों का विचार किए बिना मेरा उद्धार करेंगे तो भक्त की चिंता का कोई कारण ही नहीं रहता। सूरदासजी ने गाया है -

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो
समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो।

स्पर्श से पारस पत्थर लोहे को सोना बना देता है। यह लोहा पूजा का हो, चाहे कसाई के यहाँ का पशुवध का हो, वह भेद नहीं करता, स्वर्ण बना देता है। वह दोनों में समदर्शिता रखता है। किसी प्रकार का जल गंगाजी में मिले तो गंगाजी उसे गंगारूप बना देती है। गंगाजी में मिल जाने के बाद गंगाजल और गंदे नाले के जल में भेद नहीं रहता। इसी का नाम समदर्शिता है।

प्रभु भी ऐसे ही समदर्शी हैं। भक्त के गुण-दोषों की चिंता किए बिना प्रभु मेरे जैसे अधम को अंगीकार करेंगे या नहीं करेंगे? ऐसी चिंता करने के बदले दृढ़ शरणभाव और समर्पित भाव को दृढ़तापूर्वक बनाये रखना चाहिए।

सर्वेश्वर सर्वात्मा प्रभु

भक्त चिंतातुर हो तो प्रार्थना करने लगता है कि प्रभु मेरे योग-क्षेम को संभालें, लेकिन हम भूल जाते हैं कि, भगवान् तो सर्वेश्वर और सर्वात्मा हैं। प्रभु सर्वनिवेदित आत्मा के ईश्वर-स्वामी हैं। जैसे भक्त ने सब कुछ समर्पण करके प्रभु को अपना बनाया, उसी प्रकार प्रभु ने भी कृपा करके उन भक्तों का स्वामी बनाना स्वीकार किया है, अतः प्रभु भक्तों का हित करेंगे ही। प्रभु सर्वसमर्पित भक्त के आत्मारूप तो हैं ही, वे अन्तर्यामी भी हैं और इससे सबके मनकी बात जानते हैं। उसकी इच्छा होगी तो बिना प्रार्थना के भी कार्य करेंगे। इसलिए भक्त को निश्चिंत रहना चाहिए।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥

अवश्य होने वाले दुःख का निवारण संभव नहीं है। जिस दुःख का निवारण होना नहीं है, वहाँ चित्त में समाधान कर लेना चाहिए। यही उचित उपाय है। भगवान् के अभिप्राय को जानना जीव के लिए असम्भव है। प्रभु कभी लीला में माया के प्रभाव द्वारा जीव को भ्रम में डालते हैं। यदुकुल का नाश, भगवान के स्वधाम गमन की कथा, सुनने से भक्त को उद्वेग होता है, यह स्वाभाविक है, परन्तु ऐसे प्रसंग भी प्रभु की लीला हैं। प्रभु को जैसी लीला करना ठीक लगे, वह करें-ऐसा समझकर चिंता-मुक्त रहना चाहिए। जितनी जल्दी बने, चिंता छोड़ देना चाहिए। चित्त में चिंता बहुत समय तक रहती है तो काल कर्म, स्वभाव का प्रभाव बढ़ता है। आसुरावेश रूप उपद्रव होते हैं। मुख्य फल में विलंब या प्रतिबंध होता है, इसलिए जल्दी से चिंता छोड़ देना चाहिए।

भगवत् -भजन में विघ्न न हो इस प्रकार संसार में साक्षीवत् रहना चाहिए। भगवान् शरणागत के रक्षक हैं, जब जीव स्वप्रयत्न से चिंता और इसके कारणों को दूर करने में समर्थ नहीं है ऐसा जब प्रभु देखते हैं तो स्वयं भक्त का कार्य सिद्ध कर देते हैं। इसलिए भक्त को प्रभु की शरणागति का स्मरण रखना चाहिए। यह स्मरण रखने के लिए तथा चिंताओं से मुक्ति के लिए उसे श्रीकृष्णः शरणं मम, इस अष्टाक्षर मंत्र का उच्चारण करते रहना चाहिए और भगवत्-सेवा में तत्पर रहना चाहिए। यह भगवदीयों का परम धर्म है। खेरालु के गोविन्द दुबे को श्री महाप्रभुजी ने नाम-निवेदन कराया। उनके घर पर श्री ठाकुरजी पधरा दिए। गोविन्द दुबे सेवा तो करने लगे, परन्तु सेवा में उनका मन नहीं लगता था। चित्त में उद्वेग रहता था। आखिर श्री आचार्यजी को उन्होंने एक पत्र लिखा -'महाराज! मेरे मन में बहुत व्यग्रता रहती है। भगवत् -सेवा में मन लगता नहीं है। मैं क्या करूँ?'

यह पत्र श्रीमहाप्रभुजी के पास आया। उन्होंने 'नवरत्न' ग्रन्थ लिखकर गोविन्द दुबे के पास भेजा और लिखा कि इस ग्रन्थ का पाठ करने से तुम्हारे मन की व्यग्रता मिटेगी। उसके बाद गोविन्द दुबे प्रसन्न होकर नवरत्न ग्रन्थ का पाठ करने लगे। पाठ करने से श्री आचार्यजी की कृपा से मन की व्यग्रता चिंता मिट गई और भगवत् -सेवा में मन लगने लगा।

नवरत्न ग्रन्थ द्वारा श्री महाप्रभुजी ने बताया कि तुझे कोई व्रत, जप, तप करने की आवश्यकता नहीं है। तू चिंता मत कर-चित्त के उद्वेग को प्रभु की लीला जान। श्रीठाकुरजी से मन दूसरी ओर जाता है तो भी भगवद्-इच्छा समझकर चिंता मत कर; जितनी बने उनकी सेवा करते रहो।

राजनगर में एक माँ और उसका पुत्र ये दोनों गुप्त भाव से श्री गुसांईजी की सेवा करते थे। जिस प्रकार से सब भगवदीय श्रीठाकुरजी की सेवा करते उसी प्रकार वे श्री गुसांईजी की सेवा करते थे। उन्हें सेवा में अलौकिक आनन्द आता था। थोड़े दिन बाद पुत्र द्रव्य कमाने के लिए परदेश गया। माँ अकेली पहले की तरह ही सेवा करती थी। एक दिन शाक सुधारते हुए माता के मन में ऐसा हुआ कि पुत्र आ जाये तो सेवा में सहायक हो। फिर उसने भोग धराया। उस दिन श्री गुसांईजी ने उसका शाक नहीं आरोगा। श्रीगुसांईजी ने कहा-"शाक सुधारते समय तेरा चित्त कहाँ था?" उसने जवाब दिया-'पुत्र में था।' श्री गुसांईजी ने कहा-'मुझे लौकिक में क्यों डाला? इससे मैंने शाक नहीं आरोगा।' यदि साधारण काम से भी मन लौकिक में जाता है तो अपराध है। तो फिर उद्वेग और चिंतातुर मन रखकर कोई भगवान की सेवा किस तरह कर सकता है?

चित्त तूं शीद ने चिंता धरे, कृष्ण ने करवु होय ते करे,
स्थावर जंगम जड़ चेतन मां, मायानुं बल ठरे,
स्मरण कर श्रीकृष्णचंद्रनु जन्म मरण भय हरे।।
नवमास प्राणी कृष्णचंद्रनु, ध्यान गर्भमां धरे।
मायानुं आवरण कर्युं त्यारे, लक्ष्य चोर्याशी फरे।।
तुं अंतर उद्वेग करे, तेथी कारण शुं सरे?
धणीनो धार्यो मनसूबो, हर ब्रह्माथी नव फरे।।
दोरी सर्वनी एना हाथ मां, भराव्यु डगलुं भरे।
जेवो जंत्र वगाड़े जंत्री, एवो स्वर नीसरे।।
थनार वस्तु थया करे ज्यम श्री फल पाणी भरे।
जनार वस्तु एणीपर जाय, ज्यम गज कोठुं गरे।।
जेवुं जेटलु जे ज्यम काले तेतेने कर ठरे,
एमा फेर पड़े नहीं कोईथी शिद कुटाई तु मरे।।
तारू धार्यू थतुं होय तो, सुख संचे दुख हरे।
आप तणुं अज्ञानपणुं ते मूल विचारो खरे।।
थावानुं अणचिंतव्युं थाशे, उपनिषद् उचरे।
राख भरोसो राधावरनो, 'दया'शीदने डरे।

बहुत ही सरल तरीके से श्री दयाराम भाई ने इस रचना में चिन्ता-निवृत्ति का सन्देश दिया है। भगवान ने जो करना तय किया है, वह करेंगे। फिर हे चित्त ! तू किस लिए चिन्ता करता है? स्थावर, जंगम जड़ एवं चेतन सब पदार्थों में माया की शक्ति काम कर रही है अतः हरि-स्मरण से सब कुछ अच्छा होता है। ऐसे तो गर्भावस्था में भी जीव को भगवान का स्मरण होता है, परन्तु जन्म लेते ही माया के आवरण में बँधकर वह सब कुछ भूल जाता है और लखचौरासी का चक्र शुरू हो जाता है। मनुष्य अपना हृदय जलाया करे तब उसे क्लेश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता है। संसार में स्वामी ने जो निश्चित किया है, उसे शिव ब्रह्मादि जैसे भी बदल नहीं सकते, क्योंकि वे सब उसके अधीन हैं। जिस प्रकार कठपुतली को नचाने वाला जिस तरह नचाता है, वैसे वह नाचती है। बाजों की कोई स्वतंत्रता नहीं होती है जैसा बजाने वाला बजाता है, वैसे वे बजते हैं। जो-जो राग वादक बजाना चाहता है, वे राग वाद्य में बजते हैं।

जो होने का है, वह सहज रूप से अनायास होगा ही, जिस प्रकार श्रीफल में कोई पानी भरने नहीं जाता है, वह तो सहज रीति से ही भर जाता है। जो जाने वाला होता है उसे कितना भी संभाले फिर भी हाथी के गले में गये कबीट की तरह वह तो जाएगा ही। इसलिए होने वाले और जाने वाले के लिए चिंता किसलिए करें? जिसे जब जो जिस तरह से मिलना होता है, उसे तब वह उसी तरह से मिलता ही है। मनुष्य का सोचा हुआ ही होता हो तो मनुष्य सुख का ही संग्रह करता और दुःख को दूर कर देता, परन्तु मनुष्य का सोचा कहाँ होता है? अतः वैष्णव को श्री राधावर श्रीकृष्ण का भरोसा रखकर निर्भय होकर रहना चाहिए। कृष्ण को जो करना हो, वह करें। हम निश्चिंत रहें। ●

स्वाध्याय -४७

अपराध

भगवद् -अपराध -

ईश्वर तीन प्रकार से दंड देता है- न्याय्य, अधिक और न्यून। अपराध जैसा हो वैसा दंड, यह न्याय्य दंड है। अपराध से अधिक दंड देना यह अधिक है। अपराध बड़ा हो और दंड अल्प है तो न्यून कहलाता है। न्याय्य दंड में मर्यादा, अधिक दंड में ईश्वरत्व और न्यून दंड में प्रसन्नता कारण-रूपा होती है।

एकबार श्री यशोदाजी प्रभु को स्तनपान करा रही थीं। श्रीबालकृष्ण को अतृप्त छोड़कर वे उफनते हुए दूध को बचाने के लिए दौड़ी। परिणाम में भगवान् ने दही-दूध के बरतन ढोल दिए। माता को भगवान् की इस लीला में दोष-बुद्धि हुई और हाथ में लकड़ी लेकर मारने दौड़ी। तब श्रीबालकृष्ण माता के हाथ में ही नहीं आये। वे पकड़ाये क्यों नहीं? इसका कारण श्री महाप्रभुजी समझाते हैं - **''भगवति दोषदर्शने भगवदीयोऽपि भगवन्तं न प्राप्नोति''** भगवान् में या भगवत् -कृति में दोष देखने पर भक्त को भी भगवान् नहीं मिलते।

अहंकार, अन्याश्रय जैसे दोष भक्त में होते हैं तो भगवान् उसे दंड देते हैं। परन्तु यह दंड भी उनके अंगीकार और अनुग्रह का लक्षण है। जिस प्रकार कोई पिता दंड देकर अपने पुत्र का हित करता है, उसी प्रकार प्रभु अपने भक्तों का हित करते हैं। भगवदीयों ने प्रभु के रोष को कृपा समझना चाहिए। संसार में भी ऐसा ही देखने को मिलता है कि **'दंडदानम् स्वकीयेषु परकीये ह्युपेक्षणम्'** जो अपने होते हैं उन्हें ही दंडित किया जाता है, अन्य की तो उपेक्षा, अवगणना करने में आती है। जो शरणस्थ न हों और संसार की प्रवृत्तियों में निमग्र हों, ऐसे जीवों की तो प्रभु उपेक्षा ही करते हैं। लेकिन भक्त में थोड़ा भी दोष दिखता है तो प्रभु तुरन्त ध्यान देकर उसके दोष का नाश करते हैं।

भीष्म जैसे महाभक्त को बाण-शय्या क्यों मिली?

भक्तोऽपिभगवद्द्रोहमाचरन्नरकं व्रजेत् ।
इति दर्शयितुं भीष्मशरपंजरसंस्थितिः॥

भक्त को भगवद्- द्रोह से सावधान रहना चाहिए। भक्त भी यदि भगवद् द्रोह करे तो वह नरकगामी होता है (अर्थात् दुःखी होता है)। यह बात बतलाने के लिए भीष्म का बाण-शय्या पर मरण दर्शाया है। भीष्मपितामह ने पांडवों से युद्ध कर भगवान् के अंगीकृत भक्तों को परिश्रम दिया था। भीष्म स्वयं ज्ञानी और भक्त थे। भगवान ने उनका परित्याग तो नहीं किया, परन्तु उन्हें कष्ट तो भोगना ही पड़ा। अपने किसी व्यवहार से भगवान् या भगवदीय का द्रोह न हो जाय इसके लिए वैष्णव को सावधान

रहना चाहिए। इसी तरह सेवा-धर्म के निर्वाह में भी वैष्णव को सावधान रहना चाहिए।

रूपा पोरिया श्री गोवर्धननाथजी के मंदिर में द्वारपाल की सेवा करता था। श्रीनाथजी भूखे हों तो उसे रात्रि में उठाकर आज्ञा करते, "मैं भूखा हूँ" रूपा पोरिया को श्रीनाथजी अनेक प्रसंगों में सानुभाव जताते थे। एकबार ठंड के दिन थे। वह श्री गोवर्धननाथजी की आरती की बत्तियाँ बना रहा था, सारी बत्तियाँ इकट्ठी हो गईं तब उसने भंडार में जाकर घी गरम करके हाथों से बत्तियों को घी में भिगोया। मिट्टी से हाथ धोए, किन्तु अनजाने में थोड़ा घी नख में लगा रह गया। जब वह महाप्रसाद लेने बैठा तो रसोइये ने गरम कढ़ी परोसी। नख में लगा हुआ घी पिघलकर कढ़ी में मिल गया और पेट में गया। इस अपराध से उसे श्वान योनि मिली। अतः वैष्णव को विचार कर सावधान रहकर बर्ताव करना चाहिए। उजले वस्त्र पर तुरंत दाग लगते हैं।

माधव भट्ट श्री ठाकुरजी की शय्या फूल से सजाते थे। एक दिन अनजाने में फूलों में सुई रह गई। माधव भट्ट को ख्याल नहीं रहा। श्रीठाकुरजी सोये तो सुई उनके श्रीअंग में लगी। इस भगवत् - अपराध के फलस्वरूप उनकी मृत्यु चोरों के तीर लगने से हुई। वे बड़े भगवदीय थे। देह छूटने के समय-भगवन्नाम लेते-लेते देह छूटी। वे भगवदीय थे इसलिए उनकी गति में कुछ भी बाधक नहीं हुआ। भगवान कई बार भक्त को दंड देने की लीला भी इसलिए करते हैं कि उसका उदाहरण लेकर अन्य जीव सेवाधर्म में सावधानी रखें। ठाकुरजी तो करुणा के सागर हैं। वे जीव के अनेक अपराधों को क्षमा करते हैं, तो क्या वे भगवदीयों के द्वारा अनजाने में हुआ एक अपराध क्षमा नहीं करेंगे? परन्तु यह दंड दूसरों को बोध के लिए होता है। इसे प्रभु की निर्दयता नहीं मानना चाहिए।

भगवदीय का अपराध

भगवान् का ऐसा स्वभाव है कि जीव यदि भगवान् का कोई अपराध करता है तो उसे सहन भी कर लेते हैं, लेकिन यदि कोई उनके भक्त का अपराध करता है, उसे वे थोड़ा भी सहन नहीं करते।

हिरण्यकशिपु के त्रास से दुःखी हुए देवों को भगवान् ने आश्वासन देते हुए कहा कि, "कोई भी प्राणी जब देव, वेद, गाय, ब्राह्मण, भक्त, धर्म और भगवान् से द्वेष करता है तो उसका देखते ही देखते नाश होता है। भगवान् भक्त का दुःख सहन नहीं कर सकते, यह बताने के लिए उन्होंने कहा- निर्वैर शांत और महात्मा जैसे स्वयं के पुत्र प्रहलाद का वह द्रोह करेगा तब मैं स्वयं उसे मारूँगा।" पापी तो कर्म के अनुसार पापों का फल भोगता ही है, परन्तु भक्तद्रोही को भगवान् स्वयं मारते हैं। भगवान् उसकी दुष्टता सहन नहीं कर सकते हैं।

इसी कारण अम्बरीष के अपराध के कारण दुर्वासा के पीछे सुदर्शन चक्र भेजा था। तब दुर्वासा भगवान् स्वयं के पास शरण में आये तो भी उन्हें क्षमा नहीं किया और कहा कि भक्त मेरे हृदय हैं और मैं भक्तों का हृदय हूँ। मेरे सिवाय ये कुछ जानते नहीं, और मैं उनके सिवाय कुछ नहीं जानता, इसलिए मुझसे आपकी रक्षा नहीं हो सकती किन्तु, मैं आपको उपाय बताता हूँ सुनो! जहाँ से आपको यह दुःख हुआ है, उसी के पास पहुँच जाओ - "साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम्" भगवत् भक्त पर जो अपना तेज प्रयोग करता है, वह उसी का अनिष्ट करता है। अंबरीष से ही आपका कष्ट

मिटेगा और आपको शांति होगी।'' भगवान् के इस विधान और व्यवहार से स्पष्ट होता है कि भगवान् स्वयं भक्तद्रोही को क्षमा नहीं करते।

भक्तद्रोही को दंड देने के संबंध में भगवान् 'रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टे' शत्रु और पुत्र दोनों में समान दृष्टि रखने वाले हैं। इसका प्रमाण यह है कि जब ब्रह्म अपराध करने वाले यादव बालकों को (जिसमें भगवान का पुत्र सांब भी सम्मिलित था) कुलक्षय करने वाला शाप लगा तो इस शाप का निवारण करने के लिए समर्थ होते हुए भी भगवान् ने शाप- निवृत्ति नहीं की। इस प्रकार उन्होंने धर्ममर्यादा की रक्षा की।

जब रहुगण राजा को ज्ञान हुआ कि मेरी पालकी उठाने वाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं, अपितु महाज्ञानी परमहंस पुरुष है, तब उसने कहा था कि, मैं इन्द्र के वज्र से डरता नहीं, महादेव के त्रिशूल से, यम के दंड से अथवा अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु, यम, कुबेर के अस्त्र-शस्त्र से भी डरता नहीं, परन्तु डरता हूँ, तो मात्र ब्रह्मकुल के अपमान से। आप भगवान् के अनन्य भक्त हैं, और देहाध्यास से मुक्त हैं, समदृष्टि वाले हैं। मान-अपमान विकारों से परे हैं। एक महापुरुष के अपराध के कारण, साक्षात् महादेवजी जैसा कोई प्रभावशाली हो तो भी नष्ट हो जाय तो फिर तुच्छ मानव की तो क्या बात करें।

सप्तरात्र मर्यादा-

इन्द्र ने भगवान् के छह गुणों एवं सातवें भगवान् स्वयं की मर्यादा की थाह देखने के लिए सात रात तक वृष्टि की। यदि सात रात्रि से अधिक वृष्टि होती तो, इन्द्र और मेघों का नाश हो जाता क्योंकि इससे अधिक भगवान् सहन नहीं करते। यदि कोई विचारपूर्वक भगवदीयों का अपराध करता है, अपकार करता है तो सात रात्रि तक भगवान् राह देखते हैं कि इससे अधिक समय तक अपकार नहीं करना चाहिए और अगर करेगा तो नाश को प्राप्त होगा। बिना विचारे भी भगवदीय का उपद्रव करने वाला सात रात तक उपद्रव करें और जो भगवान् भक्त की रक्षा करें तो उपद्रवियों को शांत हो जाना पड़ता है। यदि उपद्रवी ऐसा न करें तो नाश को प्राप्त होते हैं सर्वत्र ऐसी व्यवस्था है एवं व्यवस्था सर्वत्र।

श्रीपति दुखित भक्त अपराधे।
जो भक्तन को द्रोह करत है, सकल सिद्धहीते मोही आराधे।
जो भक्तन को द्रोह करत है, सकल कहुँ मन पावत खेद।
तिन पर कृपा करूँ किस विध, पायकु पूजे कंठ को छेद
भक्तसु वैर भाव मोहीते मेरा नाम निरंतर लेहे।
'सूरदास' भगवन्त वदत है मोहे भजे पर जमपुर जैहे।

जो कोई भगवदीय का अपराध करता है वह भगवान का भी अपराध करता है। भगवान भक्त के अपराध के कारण दुःखी होते हैं। सब सिद्धियों से प्रभु की आराधना करने वाला, कैसा भी योगी, तपस्वी, सिद्ध पुरुष हो, परन्तु भक्त का अपराध करता है तो प्रभु को क्लेश देने वाला होता है। जय-विजय प्रसंग में भगवान् ने सनकादि मुनियों से कहा है कि, यदि कोई आपके जैसे भगवदीयों के साथ विपरीत आचरण करे तो यदि वह मेरा स्वयं का हाथ हो तो भी उसे काट डालूँगा। प्रभु सर्व बैकुंठवासियों को सुनाते हैं कि मेरी भक्ति करने वाला मेरे भक्त का द्रोही हो तो मैं उस पर किस

प्रकार प्रसन्न हो सकता हूँ? यदि कोई किसी के कंठ का छेदन करके उनके चरण की पूजा करता है, तो क्या उन्हें वह प्रिय लगेगा? मैं सत्य कहता हूँ कि भक्त के प्रति अपराध से मेरे अन्तःकरण में मुझे बहुत दुःख होता है।

भगवान् स्वमुख से कहते हैं कि 'मेरे नाम का जप करने वाला भी यदि भक्त का अपराधी होगा तो वह मेरा भक्त होते हुए भी यमलोक में जायेगा।' दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में दो विरक्त की वार्ता में यह चेतावनी मिलती है कि किसी के अन्तःकरण को दुःखाकर द्रव्य लावें तो भी श्रीठाकुरजी अंगीकार नहीं करते हैं। किसी के दिल को दुःखाकर द्रव्य लाने पर, उसको दुःख होगा, उसका चूसा हुआ रक्त उस द्रव्य में आवेगा इसलिए ऐसा द्रव्य श्री ठाकुरजी अंगीकार नहीं करते हैं। पुत्री के द्रव्य से बनी हुई सामग्री से भगवदीय को विपरीत भाव के दर्शन हुए थे। प्रभु प्रसन्न होने के बदले नाराज दिखाई दिए थे।

तादृशी वैष्णव की आज्ञा न मानने के अपराध एवं दूषित द्रव्य से महाप्रसाद लेने का अपराध के प्रायश्चित्त के रूप में श्री गुसांईजी ने उस वैष्णव को आज्ञा की, "छः माह तक नित्य, विरह ताप करें कि वैष्णवों ने मेरा बहिष्कार किया है और मेरे मन में आचार्यधर्म समुचित नहीं है तो उसे ठीक करूँ। तू अपना अपराध सबके सामने प्रकट कर, जिससे सब कोई तेरी निंदा करें। फिर तू मेरे पास आना।"

४० बाधक तत्व -

पुष्टिमार्गीय वैष्णव का कर्त्तव्य है कि श्री महाप्रभुजी के चरणारविन्द का सदा आश्रय करना। इस आश्रय से बिना श्रम किये सहज ही सर्वफल की सिद्धि होती है। परन्तु पुष्टिमार्गीय वैष्णव ने निम्नानुसार ४० बाधक तत्त्वों से दूर रहना चाहिए -

धन और घर की आसक्ति, लौकिक वैदिक कार्यों में प्रतिष्ठा, कर्मकांड आदि में निष्ठा, स्वर्गादि फल की कामना, लौकिक सुखों में परम प्रीति होना, भक्तिविरोधी विषयों की कामना, अलौकिक में बाधक हो ऐसे विषयों में आसक्ति होना, विकार बढ़ाने वाला असात्विक भोजन, देह-कुल एवं ज्ञान आदि का अभिमान, भगवत् -सेवा के भाव बिना देहका पोषण, दुष्टजनों का संग, श्रीकृष्ण को समर्पित न हुआ हो ऐसे अन्न का भक्षण, निवेदनमंत्र के अनुसंधान का अभाव, श्रीकृष्ण की शरणागति के भाव का विस्मरण, अन्याश्रय, फलेच्छा से अन्य देव की प्रार्थना, भगवान् से चित्त को हटा दे ऐसी व्यावृत्ति अर्थात् ऐसी लौकिक आजीविका करना, गुरु का द्रोह करना, देह के अति सामर्थ्य के कारण होने वाला अभिमान, परिवार में मन की रति और गति, भगवान् की भक्ति न हो सके ऐसे देश में वास, लौकिक लाभ-हानि से हर्ष-शोक का अनुभव करना, 'मैं स्वतंत्र हूँ' इस प्रकार की भावना, जीव के सहज स्वभाव में होने वाला हठ, अधिकार की भावना, पाप में प्रीति, दुष्ट का पक्षपात, क्रूरता, दीनजनों की उपेक्षा, क्षमावृत्ति का अभाव होने से बदला लेने की वृत्ति जैसे अनेक बाधक तत्व श्रीहरि का विस्मरण करवाने वाले हैं। इन सबका त्याग करना चाहिए। (सप्तदसवाँ शिक्षा पत्र)

कर्म

''**तत्कर्म हरितोषं यत्**'' जिससे श्रीहरि प्रसन्न हों वही 'कर्म' है।

पुष्टि धर्म -

श्रीवल्लभ ने भगवदीयों को तीन आवश्यक धर्मों का बोध कराया है - (१) स्वधर्माचरणं शक्त्या (२) **विधर्माच्च निवर्तनम्** (३) **इन्द्रियाश्वविनिग्राहः।**

(१) स्वधर्म का शक्ति के अनुसार पालन करना चाहिए। भगवदीय को अपने वर्ण एवं आश्रम के धर्मों के अनुरूप, देह-धर्म इत्यादि का शक्ति के अनुसार निर्वाह करना चाहिए। अपने से जो हो सके वह करना ऐसी शास्त्र की आज्ञा है। यदि वैष्णव विनम्रतापूर्वक स्वधर्म का पालन करे और पूर्ण रूप से आचरण न हो सके, तो भी प्रभु प्रसन्न होते हैं।

(२) स्वधर्म का पालन शक्ति के अनुसार करना चाहिए, परन्तु विधर्म के त्याग में पूर्णरूपेण तत्पर होना चाहिए-'धर्म बाधको विधर्मः स्यात्' जिस कर्म को करने से स्वधर्म की हानि होती है, स्वधर्म नष्ट होता है, वह विधर्म कहलाता है। जब तक देहात्म बुद्धि (यह आत्मा देह है) है, तब तक वर्णाश्रम धर्म ही स्वधर्म है, परन्तु जिन्हें अपने जीव स्वरूप का ज्ञान हो जाय, देहाध्यास की निवृत्ति हो जाय, उनके लिए वर्णाश्रम धर्म विधर्म हो जाते हैं और भगवद् धर्म ही स्वधर्म हो जाता है। भगवत् भाव में लीन भक्त के लिए दास्य भाव ही मुख्य धर्म बन जाता है।

इसके अतिरिक्त **परधर्म** अर्थात् एक को आज्ञा किया हुआ धर्म दूसरे के लिए परधर्म है जैसे ब्राह्मण का धर्म क्षत्रिय के लिए परधर्म हो जाता है। **उपमा-** अर्थात् पाखंड, दंभ तथा **छल-** अर्थात् शब्द का अन्यथा अर्थ करना, अथवा नाममात्र का धर्म, कहने मात्र का धर्म छल है। **आभास-** अर्थात् स्वेच्छा से अपने आश्रम से भिन्न धर्म है वे आभास हैं। इन सबका अर्थात् परधर्म, उपमा, छल और आभास का त्याग करना चाहिए।

(३) इन्द्रियाँ अश्व हैं। इनका निग्रह इष्टफल प्राप्त करवा सकता है। घोड़े को ठीक तरह से वश में करके चलाने पर अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचा जा सकता है, उसी तरह भक्ति मार्ग में जो इन्द्रियरूपी अश्व को वश में रखता है, तथा उनका भगवान् की सेवा-भक्ति में उपयोग करता है वह बड़े-बड़े प्रतिबंधों को पार कर भगवत् -प्राप्ति कर सकता है। अतः यथाशक्ति स्वधर्म का आचरण, विधर्म का त्याग और इन्द्रियरूपी अश्वों का नियंत्रण, इन तीन धर्मों का कभी भी त्याग नहीं करना चाहिए। किन्तु परधर्म, उपमा, छल और आभास का त्याग करना चाहिए।

कर्मगति -

प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मों के कारण उत्पन्न होता है। कर्म से ही नाश को प्राप्त होता है। कर्म से सुख-दुःख, भय और कल्याण को प्राप्त होता है। कर्म ही शत्रु और कर्म ही मित्र है। कर्म ही तटस्थ हैं। कर्म ही गुरु और ईश्वर हैं।

कर्म की गति गहन है, जिसे जानना ब्रह्माजी के लिए भी मुश्किल है। भगवान् स्वयं कर्मस्वरूप होते हैं। कर्म स्वरूपी भगवान् स्वेच्छा से सत्कर्म के रूप में प्रकट होते हैं और उनके द्वारा शुभ फल का दान करते हैं। कभी प्रभु दुष्कृत रूप से प्रकट होकर अशुभ फल का दान करते हैं।

कर्म का फल संदिग्ध और दुर्लभ है। कर्मकांड में ही रुचि रखने वाले जीवों को यह फल ही प्राप्त होगा ऐसा कहना कठिन है क्योंकि कर्म का फल कर्त्ता के अधिकार स्वभाव और हेतु तथा विधि के अनुसार बदलता रहता है। कर्ता अगर सात्विक हो, राजस हो, या तामस हो उसके स्वभाव के अनुसार कर्म भी सात्विक, राजस और तामस प्रकार के करेगा। तदनुसार उसे स्वर्गलोक, इहलोक, नरक आदि फलस्वरूप में मिलेंगे। उत्तम कर्म में भी फल - भेद होता है, देव स्वर्ग, दैत्य स्वर्ग, पितृलोक आदि भेद होते हैं। सुखी होने के लिए किए गए कर्म, मानव को सुख देते हैं। किन्तु श्री विदुरजी का मानना है कि, ''सुखाय कर्मणि करोति लोकः न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा, विन्देत भूयस्तत एव दुःखम्'' प्रत्येक मनुष्य सुख के लिए कर्म करता है। लेकिन उन कर्मों से उसे सुख नहीं मिलता। दुःखी को शान्ति नहीं मिलती है। उलटे उन कर्मों से पुनः उसे दुःख ही मिलता है।

उपास्य देव की दृष्टि से भी कर्ममार्ग में भेद हैं। सात्विक जीव देवताओं का, राजस जीव यक्ष-राक्षसों का और तामस जीव भूत-प्रेतादि का यजन पूजन करते हैं। कर्ता जैसा होगा, वह वैसा ही कर्म और वैसा ही आराध्य देव पसंद करेगा। उत्तम निर्गुण कोटि के भक्त तो परब्रह्म श्रीकृष्ण को ही भजते हैं। कर्ममार्ग में कर्म का महत्व है। जबकि भक्तिमार्ग में भगवद् -इच्छा ही नियामक है। भगवान् स्वयं आज्ञा करें तब भक्त को कर्म, अकर्म और विकर्म के पृथक्करण की आवश्यकता नहीं है। अर्जुन ने अपने गुरुजनों, बुजुर्गों, द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह और कौरवादि बान्धवों का वध प्रभु-इच्छा जानकर किया था। स्वजनों की हत्या करना यह शास्त्र दृष्टि से निषिद्ध है परन्तु भगवान् की आज्ञा होने पर विधि अथवा निषेध का प्रश्न उठता ही नहीं है।

कर्ममार्ग में (भगवद्-इच्छा के विरुद्ध कर्म हो तो) अनिष्ट फल होता है या अनिश्चित फल भी मिल सकता है। कर्मकांड में कभी अभिक्रम का नाश और कभी प्रत्यवाय दोष आ जाता है। अभिक्रम का नाश वह दोष है, जिसमें कर्म अधूरा रह जाने के कारण जितना कर्म किया गया हो, उसका लाभ भी नहीं मिलता। थोड़े कर्म का थोड़ा भी फल नहीं मिलता। कर्मकाण्ड में आहुति मंत्र आदि की निश्चित संख्या और विधि के अनुसार होनी चाहिए। मंत्र-संख्या या विधि में कम या ज्यादा होने पर प्रत्यवाय दोष होता है।

निष्काम कर्मयोग कर्म का उत्तम प्रकार है। केवल कर्त्तव्य बुद्धि से किए जाने वाले निष्काम कर्म का फल चित्तशुद्धि के रूप में मिलता है। निष्काम कर्म के कर्त्ता को कर्मफल का किंचित् भी बंधन नहीं लगता है।

कर्ममार्ग भक्तिमार्ग -

सकाम कर्म से निष्काम कर्म उत्तम है, परन्तु कर्म के साथ यदि भक्ति का समन्वय कर सकें तो बहुत उत्तम है। कर्म को भगवान् के चरणों में समर्पित कर देना भक्ति का ही अंग है। कर्ममार्ग का अधिकारी यदि भगवान् को कर्म का समर्पण कर दे तो उसमें भगवान की दृढ़ निष्काम भक्ति का उद्‌भव होता है।

पुष्टिमार्ग में नित्य अष्ट प्रहर भगवत् -सेवा ही मुख्य है। इस मुख्य धर्म का आचरण करने में यदि प्रातःसंध्या, अग्निहोत्रादि वैदिक धर्म रूपी नित्य कर्म में कालातिक्रम हो जाता है तो कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। वैदिक कर्मों को भगवत्-सेवा के अनवसर गौण काल में कर लेना चाहिए।

'सुतरामेव कर्ममार्गो दुरत्ययः' कर्म मार्ग जटिल तथा क्लिष्ट है। कर्म (रूपी ईश्वर) स्वतंत्र है। वह स्वयं की इच्छा के अनुसार कभी दुष्कर्म रूप में प्रकट होकर दुःख रूप फलदान करता है, तो कभी सत्कर्म के रूप में प्रकट होकर सुखरूपी फल का दान करता है। इसलिए कर्म की गति गहन हो जाती है -**'गहना कर्मणो गतिः।'** शास्त्रविहित कर्म भी कभी-कभी भगवान् को श्रम देने वाले हो जाते हैं। भगवत्-आज्ञा के बिना जो जीव अति उग्र तपस्या करता है, वह वास्तव में देह में बैठे हुए अन्तर्यामी रूप में विराजमान प्रभु को पीड़ा ही देता है। प्रभु को उनके हठपूर्वक तप से श्रम ही होता है।

शास्त्र जिसे निषिद्ध कर्म कहता है, वह भगवान् की आज्ञा से कर्त्तव्य हो जाता है। स्वजनों एवं गुरुजनों की हत्या शास्त्र की दृष्टि से निषिद्ध है, फिर भी अर्जुन ने भगवान की आज्ञा का पालन किया, इसलिए अर्जुन को पूज्यजनों के वध का दोष नहीं लगा।

अतः यह सत्य है कि कर्म की गति गहन है। **'अतोऽपि भजनं कार्यम्'** कर्म मार्ग का पार पाना कठिन है, इसलिए भगवान् का भजन करना चाहिए। भक्ति में कर्म का दोष या कर्ममार्ग की जटिलता नहीं है। **'भजने नहि तादृशम्'** भक्तिमार्ग में कर्ममार्ग जैसा अनिष्ट प्राप्त नहीं होता है। कर्ममार्ग में भगवद्-इच्छा के बिना कर्म करने से अनिष्ट फल मिलता है। परन्तु भक्तिमार्ग में भगवद्-इच्छा के बिना भी भूजन करने पर भी उसका अनिष्ट तो होता ही नहीं है, अधिक से अधिक इतना होता है कि भगवान् की फल देने की इच्छा न हो तो भक्ति में प्रतिबंध आ जाता है और उत्तम प्रकार से भजन नहीं हो पाता है। भक्ति करने वाले का अनिष्ट हो ऐसी संभावना ही नहीं है। अतः कर्ममार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग उत्तम है।

जिस कर्म से धर्म, वैराग्य अथवा भक्ति हो ऐसे ही तीन प्रकार के कर्म सफल कहलाते हैं। ऐसे (धर्म, वैराग्य अथवा भक्ति को प्रकट करने वाले) कार्यों को जो नहीं करता है- 'स जीवन्नपि मृत एव' ऐसे जीव तो जीवित होते हुए भी मृत हैं।

शास्त्र कहता है कि मनुष्य को कर्म तो करना ही चाहिए, **'शास्त्रं च यच्छक्नुयात् तत्कुर्यादिति, फलं तु दैवाधीनम्'** जो हो सकता है वह साधन करना चाहिए फल तो प्रभु के हाथ में है। कर्म तो करना ही चाहिए। कर्म और उसके फल का सुन्दर वर्णन मनुष्य की कर्ममार्ग के प्रति रुचि उत्पन्न

करने के लिए है। कर्मफल ही परमपुरुषार्थ नहीं है, परम पुरुषार्थ तो मुक्ति अथवा भक्ति है, ऐसा जानना चाहिए। ब्रह्माजी ने तीन बार वेद के अध्ययन करने के उपरान्त यह निश्चय किया कि, जिससे भगवान् में प्रेम बढ़े, वही कर्म करने योग्य है, कर्त्तव्य-कर्म है। इसलिए अन्य कोई हेतु रखकर कर्म नहीं करना चाहिए।

कर्मसाक्षी -

मनुष्य जो कर्म करता है, उसे प्रभु तो जानते ही हैं, इनके अलावा भी अन्य देखने वाले साक्षी हैं- सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, देवता, चन्द्र, संध्याकाल, दिवस, रात्रि, दिशाएँ, जल, पृथ्वी, काल और धर्म। ये सब जीवात्मा के पाप-पुण्य रूप कर्म के साक्षी हैं। मनुष्य द्वारा किए गये कर्म कभी छुपे नहीं रहते हैं। अनेक चक्षुओं से प्रभु इन्हें देखते ही हैं। भगवत्शास्त्र का मत तो ऐसा है कि, **"तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया"** वह कर्म ही वास्तव में कर्म कहलाता है जिससे प्रभु प्रसन्न होते हैं। वही विद्या सच्ची विद्या है जिससे श्रीहरि में अचल बुद्धि होती है। "न कर्म वेदविहित फलं जनयति ध्रुवम्" जिन कर्मों को वेद विहित कहा है, वे कर्म भी शाश्वत फल नहीं दे सकते हैं, इसलिए श्रीहरि का भजन श्रेष्ठ कर्त्तव्य है।

भगवदीयों के संग से निर्दोषता -

प्रयाग के एक पति-पत्नी वैष्णव श्रीगुसांईजी के सेवक थे। एकबार हाकिम ने उनका सब कुछ लूट लिया। पति कमाने के लिए हीरे की खान में गया। वर्षभर तक परिश्रम किया, किन्तु व्यापारियों ने उससे विश्वासघात किया। दूसरे व्यापारी उसे जो देना था उससे आधा धन (द्रव्य) ही दिया। वापस घर आ रहा था तब रास्ते में ठग मिले। एक ठग उसे मारने को तैयार हुआ। उसने कहा-'मैं स्नान करके आता हूँ - तब मुझे मारना', 'वैष्णव तालाब में खड़ा होकर श्रीगुसांईजी का स्मरण करने लगा। उसने अत्यन्त आर्तिपूर्वक प्रार्थना की - "महाराज! मेरा क्या अपराध है कि घर पहुँचा ही नहीं, श्रीठाकुरजी के चरणस्पर्श भी नहीं किए। द्रव्य भी प्रभु को अंगीकार न हुआ और ठगों के हाथ मेरी मृत्यु हो रही है।'

श्रीगुसांईजी ने वहाँ प्रकट होकर उसे कहा - "वैष्णव! तू दुःखी मत हो। पिछले जन्म में इन ठगों को तूने मारा था, ये सब अलग-अलग जन्म में बदला लेते तो पाप से मुक्त होने के लिए तुझे ग्यारह जन्म लेने पड़ते। ये सब इकट्ठे होकर बदला लेने के लिए तुझे मारते हैं तो तू एक ही जन्म में पाप से मुक्त हो जायेगा।" ठगों को ऐसा व्यवहार देखकर आश्चर्य हुआ। उन्हें डर लगा क्योंकि उसने जल में गुसांईजी के साथ बात की थी, उसे उन्होंने सुना था। उन्होंने बहुत आग्रह किया तो वैष्णव ने सारी बात सुनाई। ठगों का हृदय-परिवर्तन हो गया। उन्होंने वैष्णव को न मारने का निश्चय किया। तब उसने तालाब में जाकर श्रीगुसांईजी से विनती की - "महाराज! अब ये मारने को तैयार नहीं हैं तो मुझे क्या करना है?" श्रीगुसांईजी ने कहा-"ये ठग प्रसन्नता से कहें कि हमारा बैर समाप्त हो गया और भर पाये तो तू सुख से घर जा" ठगों ने ऐसा ही कहा। इन वैष्णव के संग के कारण, उसकी कृपा के कारण, उन ठगों को श्री गुसांईजी की शरण प्राप्त हुई।

दुष्कर्मों और दुःसंग के त्याग का संकल्प कर उन ठगों ने नया वैष्णव-जीवन प्रारंभ किया।

भगवदीयों का संग दुष्टकर्म छुड़ाता है, दुष्ट को निर्दोष बनाता है यह स्पष्ट है। फिर प्रसन्नता से किसी को क्षमा कर देने से और क्षमा माँग लेने से पूर्व के पाप निवृत्त हो जाते हैं, यह समझ में आने जैसी बात है।

तुम तजि और कौन पें जाऊँ
काके द्वार जाय सिर नाऊँ, परहथ कहाँ बिकाऊँ
ऐसो को दाता है समरथ, जाके दिए अघाऊँ
अंतकाल तुमरे सुमरण बिन और कहुँ नहि ठाऊँ
रंक सुदामा कियो अयाची, दियो अभेपद ताऊँ
कामधेनु चिंतामणि दीनी, कल्पवृक्षतर छाऊँ॥

भक्त भगवान के चरणों में दीनतापूर्वक प्रार्थना करता है, "प्रभु आपको छोड़कर मैं किसकी शरण में जाऊँ। आपके सिवाय मैं किसके दरवाजे जाकर सिर नमाऊँ? मैं अन्य किसके हाथ बिक जाऊँ? यदि मुझे स्वयं को समर्पित कर देना है तो मैं दूसरों के हाथ कहाँ बिकने के लिए जाऊँ? आपका मुझ पर पूर्ण अधिकार है। क्योंकि आपके सिवाय कोई समर्थ दाता नहीं है। जो मुझे तृप्त कर सके। अंत समय में संसार की किसी वस्तु का साथ नहीं रहता, तब आप ही एकमात्र आश्रय रहते हैं। आपका स्मरण किये बिना अन्य कोई रास्ता नहीं है। प्रभु ने रंक सुदामा को सच्चे अर्थ में अयाचक बना दिया था और अभय पद का दान करके उसे धन्य कर दिया था। अकिंचन को प्रभु कितना दे देते हैं। कामधेनु चिंतामणि का दान कर देते हैं उसे कल्पवृक्ष की शीतल छाया देते हैं। ऐसे करुणामय प्रभु को छोड़कर कर्मों के जंजाल में, ज्ञान की भूल-भूलैया में और योग-साधना के झंझट में कौन पड़े?

भगवान के चरण के दृढ़ आश्रय बिना भक्त को कुछ भी अच्छा नहीं लगता है।

तीन प्रकार के कर्मों का निरूपण भगवान् ने किया है। ये हैं- वैदिक कर्म, पाञ्चरात्र कर्म और भागवत कर्म। इनके प्रति प्राणियों की उत्तरोत्तर अश्रद्धा होती है। (सुबो. १०-६७-२६)

जैसा रोग होता है, वैसी चिकित्सा शास्त्र में उसकी होती है। वैदिक कर्मों के द्वारा सांसारिक कर्मों की निवृत्ति होती है। (सुबो. ११-३-४४)

वाणी से कृति बलशाली होती है। (सुबो. १०-७-६)

शास्त्रों की आज्ञा है कि मनुष्य को जो कर्म करना संभव हो वे करने चाहिए। फल तो दैव के अधीन हैं। (सुबो. १०-१-४८)

सगुण कर्म से बन्धन होता है और निर्गुण कर्म से मोक्ष होता है। (सुबो. १-१०-७)

वैराग्य

वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत्

जिनकी शिक्षा से हम वैराग्य और संतोष प्राप्त कर सकें ऐसे उत्तम गुरु मधुकर और सर्प हैं। ऐसी अवधूतवाणी है। मधुमक्खी का धन मधु उसके भोगने में नहीं आता, किसी को देने के काम में भी नहीं आता। उसका जीवन ही लालच में चला जाता है। संतान के संबंध की आसक्ति सें कपोत का जीवन जाता है। शब्द की आसक्ति से हिरण का। स्पर्श की लालसा के कारण हाथी का, रस की लालसा के कारण मछली का, रूप की लालसा के कारण पतंगों का, कमल की सुगंध के मोह के कारण से भ्रमर की महान हानि, मृत्यु होती है। यह बात सब जानते हैं इसलिए वैष्णवों को विषयों के प्रति वैराग्य रखना चाहिए।

भागवत धर्म में ज्ञान और वैराग्य का स्वतंत्र महत्व नहीं है। उनका भक्तिमान की भक्ति में अन्तर्भाव हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि, "**तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै महात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भेवेदिह**" जो मेरी भक्ति से युक्त हैं और जिसकी आत्मा मुझे प्राप्त हो चुकी है, ऐसे मेरे भक्त को ज्ञान और वैराग्य श्रेयस्कर नहीं होते, उनके ज्ञान और वैराग्य का प्रयोजन भक्ति से ही सिद्ध हो जाता है।

वैराग्य की आवश्यकता -

फिर भी वैराग्य की आवश्यकता है। इसलिए लौकिक भोग के संबंध में श्री वल्लभाचार्यजी बारंबार आज्ञा करते हैं कि विषयों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। "**विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः**" जिसका चित्त विषयाक्रान्त है, उसमें श्रीहरि का आवेश कभी नहीं हो सकता। उसमें भगवद् -आवेश होता ही नहीं। यह तो ठीक है, परन्तु "**लोकार्थी चेद् भजेद् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा**" लौकिक भोग की इच्छा रखकर यदि कोई श्रीकृष्ण की भक्ति करता है तो परिणाम में उसे क्लेश ही मिलता है। अहंता-ममतात्मक संसार में लुब्ध बनकर भोगने की कामना से यदि कोई भक्ति करता है, तो भगवद् भक्ति भी उसे आनंद नहीं दे सकती है। इसलिए स्वयं के भोग के लिए इन्द्रियों के कर्मों का मन, शरीर और वाणी से त्याग कर देना चाहिए।

गृह, पत्नी आदि के मोह से दूर रहने के लिए वैष्णव को श्रीहरि के स्थान में भी इस तरह रहना चाहिए कि चित्त में काम आदि का प्रवेश न हो। संसार के आवेश से इन्द्रियाँ दुष्ट हो गई हैं अतः उनके कल्याण के लिए उन्हें परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण में ही लगा देना चाहिए। यदि 'असक्त्या भोगो हि ज्ञानाविरोधी' भोग में आसक्ति न हो तो ज्ञान का विरोध नहीं होता है।

विषयासक्ति-

"**विषयैबुद्धिभ्रंशो भवति**" विषयों में आसक्ति से बुद्धि का नाश होता है। जिस प्रकार तेज हवा में दीपक की लौ स्थिर नहीं रह सकती, उसी प्रकार जहाँ विषय हो, वहाँ अनुग्रह भी स्थिर नहीं रह सकता। श्रीमद् भागवतजी के दशम स्कंध में श्री महाप्रभुजी के ये वचनामृत मननीय हैं :-

श्री गोवर्धनधरण प्रभु कहते हैं कि मैं जिस पर अनुग्रह करता हूँ उसकी विषयों के प्रति आसक्ति का नाश इसी कारण करता हूँ। विवेकी वैष्णवों को विचार करना चाहिए कि "तद्विचिन्तनमारभ्य विनाशावधि दुःखोदं धनम्" धन तो चिन्तन से लेकर विनाश पर्यंत सभी अवस्थाओं में दुःख देने वाला है।

लोकार्थी भजन में क्लेश - 'लोकार्थी चेत् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा' जो भक्त लोकसंबंधी पदार्थों के प्रयोजन से श्रीकृष्ण को भजता है तो वह सब प्रकार से दुःखी होता है। इस भक्त को सेवा में, स्मरण में, प्रभु को भजने में आनंद नहीं आता है। क्योंकि उसके भजन का उद्देश्य लौकिक है। पुत्र, पत्नी, मित्र आदि के सुख के लिए जो प्रभु को भजता है उसे क्लेश ही होता है। इस तरह की सहेतुक अति अल्पहेतुक भक्ति निर्गुण भक्ति नहीं है। भक्ति में आनंद तभी उत्पन्न होता है, जब भक्ति निर्गुण हो। जो लौकिक आसक्ति रखकर भगवान् को भजता है, उसे दुःख इसलिए होता है कि उसने जो सोचा है, वह लौकिक सुख उसे नहीं मिलता है। प्रभु तो कहते हैं कि, मैं जिस पर अनुग्रह करता हूँ, उसके धन (सुख-सम्पत्ति) को धीरे-धीरे हर लेता हूँ।

कृपालु प्रभु जिस पर प्रसन्न हों उसे लौकिक सुख नहीं देते हैं किन्तु उसे अलौकिक सुख प्रदान करते हैं।

भगवान् की भक्त के हृदय में स्थिति होते ही उसका लोक-वेद-सम्बन्धी सुख का प्रयोजन ही नहीं रहता है। चतुःश्लोकी के अनुसार "**यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि**" यदि श्री गोकुलाधीश सर्वात्मभाव से हृदय में धारण किए जायें तो फिर उसके लिए लौकिक और वैदिक से क्या प्रयोजन? भक्त को तो भगवान को अपने हृदय में धारण करना चाहिए। हर प्रकार से उन्हें धारण करना है। रासलीला के प्रसंग में ब्रज भक्तों ने भगवान् को आग्रहपूर्वक पुष्टि अंगीकार करवाकर धर्मी स्वरूप को हृदय में धारण किया है। विषयों का वैराग्यपूर्वक त्याग स्पष्ट है। "**संत्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलम्**" हम सारे विषयों को वासना सहित त्याग करके, आपके चरणों की शरण में आये हैं। ऐसी उन्होंने प्रार्थना की। इन भगवदीयों के हृदय में श्री गोकुलाधीश सर्वात्मभाव से विराजे और उससे उनमें लौकिक पति इत्यादि की तथा वैदिक (स्वर्गादि) की किंचित् मात्र इच्छा न रही। ब्रजभक्तों का यह लोक-वेद-संबंधी फल का परित्याग ही पुष्टि भक्तों का वैराग्य है।

समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र वै।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥

पुष्टिमार्ग में सर्वप्रकार से सारे लौकिक विषयों का विहित त्याग है। उसी प्रकार सर्वभाव से देहादि का भी निवेदन करना है। भगवान् के लिए सर्व विषयों का तथा असमर्पित वस्तु का एवं संबंधों का

त्याग भगवद् संबंधी सुखों का ही प्रसादी भाव से स्वीकार यह पुष्टिमार्गीय वैराग्य का स्वरूप है।

वृत्रासुर का पुष्टिमार्गीय वैराग्य मनन करने योग्य है- "हे भगवान्! आपके संबंध से रहित स्वर्ग, सत्यलोक, पृथ्वी का चक्रवर्ती राज्य, पाताल का राज्य, योगियों की अणिमादि सिद्धियाँ, ये सब ही नहीं अपितु मोक्ष तक मुझे स्वीकार नहीं है।"

भक्त को भगवान के पास विरक्ति की भी कामना करनी चाहिए क्योंकि भक्ति की उत्पत्ति में, भक्ति के निर्वाह में और भक्ति की निर्मलता में विरक्ति का बहुत योगदान है, "**कामादीनामशिथिलत्वे भक्तिर्नोत्पस्यते**" श्री महाप्रभुजी का वचनामृत है कि कामादि दोष जब तक शिथिल नहीं होते तब तक भक्ति उत्पन्न नहीं होती।

वैराग्य का उपाय -

भगवान् की काल शक्ति का चिंतन जीव को वैराग्य का बोध कराने के लिए बहुत उपयोगी है। भगवान् की काल शक्ति अनंत है। वह स्वयं अनन्त है, परन्तु दूसरों का अन्त करती है। पूरा विश्व भगवान की काल शक्ति के आधीन है। विनाश की ओर ही सभी, कोई इच्छा और कोई अनिच्छा से, दौड़ते जरूर हैं।

प्रत्येक पदार्थ में होने वाली विकृति का कारण काल ही है। इसका प्रभाव अद्‌भुत है। यह प्राणियों में प्रवेश करके प्राणियों द्वारा प्राणियों का भक्षण करता है। इसके प्रभाव से प्राणी को अपने प्रिय प्राण से भी वंचित होना पड़ता है। तो फिर सम्पत्ति आदि पदार्थों की तो बात ही क्या है?

भूखा सर्प जैसे अचानक किसी चूहे को झपट ले, उसी तरह कभी प्रमाद न करने वाला काल संसार में आसक्त जीव को अचानक झपट लेता है। थोड़ी देर पहले सुवर्ण रथ पर बैठे, या गजराज पर सवार राजा को यह काल विष्टा, कृमि या भस्म के स्वरूप में ला देता है, मृत्यु के बाद देह की ये तीन ही गतियाँ होती हैं।

यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे
तं तं धुनोति भगवान् पुमान् शोचति यत्कृते॥

मनुष्य अपने सुख के लिए जिन-जिन पदार्थों को महाकष्ट से संपादन करता है, इकट्ठा करता है और उनके लिए निरंतर चिंता किया करता है, उन-उन पदार्थों को भगवान् काल-स्वरूप से नाश कर देते हैं।

मोह एव हि कारणम् -

सांसारिक मोह के सताने पर वैष्णव को चिंतन करना चाहिए कि कहाँ तो पंच महाभूतों से निर्मित जड़ शरीर और कहाँ प्रकृति से भी परे उत्तम आत्मा? कौन किसका पति या पुत्र है? इन सब में मोह ही कारण है। घर और परिवार की वासनाओं के कारण चारों ओर से मोह से विक्षिप्त मनवाला मूढ़ बुद्धि मनुष्य विषयों से तृप्त होता ही नहीं है और विषयों का ध्यान करते-करते मरण को प्राप्त कर घोर अंधकारमय गति प्राप्त करता है।

भगवदीयों का मन बहुत करके भोगों में जाता ही नहीं है और यदि जावे भी तो बलपूर्वक उसे भोग में से हटाना चाहिए, "**लीलातिरिक्त सृष्टौ हि निरानंदत्वनिश्चयात्**" भगवान् की लीला के अलावा सृष्टि के पदार्थों में आनंद का अभाव ही है, इस सनातन सत्य का निश्चय हो तो लौकिक आसक्ति तत्काल निवृत्त होती है और विरक्ति आती है।

वैराग्य रूपी समृद्धि जिसने प्राप्त कर ली है ऐसे भक्त, वैभव के मद में डूबे हुए धनिकों की परवाह नहीं करते। निःस्पृही जीवन की महत्ता का श्री शुकदेवजी ने सुन्दर निरूपण किया है। सोने के लिए पृथ्वी है फिर शय्या के लिए मेहनत क्यों करें? दो भुजाएँ हैं तो तकिए की क्या जरूरत है? अंजली रूपी पात्र हैं तो थाली-कटोरी का क्या काम? देह को ढँकने के लिए दिशाएँ अथवा वल्कल वस्त्र हैं, तो फिर रेशमी चीर का मोह किसलिए? परमार्थ के लिए देहधारण करने वाले वृक्ष क्या भिक्षा नहीं देते ? प्यास लगी हो तो क्या नदियाँ सूख गई हैं? रहना हो तो गुफाएँ कहाँ नहीं हैं? दूसरी कोई सहायता मिले या न मिले परन्तु भगवान आज भी शरणागत की रक्षा करते ही हैं। तो फिर बुद्धिमान मनुष्य धन-मदान्ध लोगों की सेवा, खुशामद क्यों करते हैं?

भगवान् का भजन भक्तों की समृद्धि है। विरक्ति और संतोष ही उनकी सम्पन्नता है। भगवद् - भजन में मग्न हुए वैष्णव ऐसा संतुष्ट एवं निःस्पृह जीवन जीते हैं कि उनके तेज के आगे राजा-महाराजा भी फीके पड़ जाते हैं। राजा मानसिंह कुंभनदास से मिलने उनके खेत पर गये। मानसिंह के आने से श्री गोवर्धननाथजी कुंभनदास को कुछ कहने आ रहे थे, वे दूर चले गये। इसलिए कुंभनदास ने मानसिंह की तरफ देखा तक नहीं। राजा खेत में आकर बैठे। कुंभनदासजी ने तिलक करने के लिए भतीजी से आसन और दर्पण माँगा। भतीजी घास का आसन और कथरोटे (काठ का कटोरा) में जल रूपी दर्पण लाई। भगवदीय के जीवन की सरल सादगी से प्रभावित होने के बदले राजा मानसिंह ने उन्हें निर्धन समझकर, उन्हें प्रसन्न करने के लिए सोने की जड़ाउ आरसी अर्पण करने का प्रयत्न किया, परन्तु कुंभनदास ने उसे अस्वीकार कर दिया। राजा ने हजार सोने की मोहरों की थैली कुंभनदासजी के सन्मुख रखी, जिससे कि उनके जीवन-निर्वाह की चिन्ता न रहे, परन्तु कुंभनदास ने कहा-"ये हमारे काम के नहीं हैं, हमारी तो खेती होती है, उसमें जो अनाज उगता है, उसे हम खाते हैं। दूसरी हमें कोई आवश्यकता नहीं है।" राजा ने पूरा जमनावता गाँव जहाँ कुंभनदास रहते थे, उन्हें लिख देने का कहा। वह भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया। राजा ने पूछा -"आपका मोदी कौन है?" ऐसी प्रार्थना की तो कुंभनदासजी ने प्रत्युत्तर दिया - "जैसे हम हैं, वैसा ही हमारा मोदी है। उन्होंने केर और बोर के वृक्ष बताये और कहा कि उष्णकाल में केर हमारा मोदी है जो फल-फूल देता है और ठंड में हमारा मोदी बोर का वृक्ष है जो बहुत बोर देता है, और इससे मेरा काम चलता रहता है।" राजा मानसिंह को कहना पड़ा- 'आप धन्य हैं जिनके वृक्ष मोदी हैं। मैंने आज तक पृथ्वी पर कई त्यागी, बैरागी देखें किन्तु आपके जैसा कोई नहीं। कुंभनदास ने अंत में राजा मानसिंह के बहुत आग्रह करने पर यही माँगा - 'आज के बाद आप यहाँ आवें नहीं और हमें कुछ कहें नहीं।'

आपुन पौ आपुन ही मैं पायो।
शब्द ही शब्द भयो उजियारौ सतगुरु-भेद बतायो।।

// २३९ //

ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी, ढूंढत फिरत भुलायौ।
फिरि चितयौ जब चेतन ह्वै करि, अपने ही तन छायौ॥
राजकुमारि कंठमनिभूसन, भ्रम भयौ कहुँ गंवायौ॥
दियो बताई और सखियन तब, तनकौ ताप नसायौ॥
सपने माहि नारि को भ्रम भयौ, बालक कहूँ हिरायौ।
जागि लख्यौ ज्यों को त्यों ही है, ना कहूँ गयौ न आयौ।
सूरदास समुझे की, यह गति मन ही मन मुसुकायौ।
कहि न जाई या सुख की महिमा, ज्यों गूंगें गुड़ खायौ॥

अपने आप में ही मैंने स्वयं को प्राप्त कर लिया है। मुझ में ही मुझे सच्चा परिचय हुआ। नाद शब्द द्वारा मेरे हृदय में जो प्रकाश हुआ, तब उसका भेद श्री सत्गुरु ने मुझे बताया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जिसे हम ढूंढते हैं, वह अपने पास ही होता है। कस्तूरी मृग की नाभि में ही कस्तूरी होती है, लेकिन वह उसे ढूँढता फिरता है। कभी वह सावधानी से विचार करे तो उसे ज्ञान होगा कि यह सुगंध उसके स्वयं के शरीर से ही आ रही है। किसी राजकुमारी के गले में मणियों का हार था फिर भी उसे ऐसा भ्रम होता है कि हार कहीं गुम गया है, खूब ढूँढने के बाद भी उसे वह नहीं मिलता है। सखियों ने जब उसके गले में ही हार बता दिया, तब उसकी चिंता मिटी। तब वह समझी कि बेकार ही मैं दुःखी हुई। हार तो मेरे गले में ही था। एक स्त्री को स्वप्न में ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरा बालक खो गया है। स्वप्न में उसे बहुत ढूँढती रही। जब स्वप्न टूटा तो बालक माता की बगल में ही यथावत् सोया हुआ मिला। वास्तव में बालक न कहीं गया था और न आया था। संसार के सुख को सच्चा मानकर मोहजनित राग में मनुष्य फँसता है। जब तक उसे अज्ञान है तब तक उसे राग है, भ्रम है और दुःख है, किन्तु जब उसे ज्ञान होता है तब ये राग, भ्रम और उसके परिणाम स्वरूप होने वाले दुःख की भी अपने आप निवृत्ति हो जाती है। समझे की यही गति है, जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है, उसकी अवस्था ऐसी होती है। उसे अपने अन्दर का आनंद मिल जाता है। वह अन्दर ही अन्दर कृतार्थ हो जाता है। राग और भोग का सुख क्षणिक है। वह सुख का आभास स्वरूप है जबकि विवेक और वैराग्य की अवस्था प्राप्त किये हुए दैवी जीव का आह्लाद अलग ही होता है। सुख का तो अनुभव ही हो सकता है। उसे कहा नहीं जा सकता। वास्तव में विवेक और वैराग्य का सुख अनिर्वचनीय है। शब्दों में उसका वर्णन करना संभव नहीं है। ●

सब तजि भजिऐ नंद कुमार।
और भजे तै काम सरै नहि, मिटै न भव-जंजार।
जिहि जिहि जोनि जन्म धार्यो, बहु जोर्यो अघको भार।
तिहि काटन कौ समरथ हरि कौ तीछन नाम कुठार।
वेद पुरान भागवत, गीता, सब कौ यह मत सार।
भव-समुद्र हरि-पद-नौका बिनु को उन उतारै पार।
यह जिय जानि, इही छिन भजि,दिन बीते जात असार।
सूर पाइ यह समौ लाहु लहि, दुर्लभ फिरि संसार॥

विवेक

सेवारूप भगवत् -धर्म के निर्वाह में वैष्णव को विवेक की बहुत आवश्यकता है। '**विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति**' श्रीहरि अपनी इच्छा से सब करेंगे, ऐसी निष्ठा को विवेक कहते हैं। 'विवेकधैर्याश्रयग्रंथ' में भी श्री महाप्रभुजी ने विवेक का सूक्ष्म निरूपण करके इसके नौ प्रकार बताये हैं-

(१) पहला विवेक - यह है कि प्रत्येक विषय में भगवान् का कर्तृत्व जानना। भगवान हरि हैं। वे सारे दुःखों को हरते हैं अतः वे भक्त का कार्य करेंगे ही। योग-क्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा) भगवान ही सिद्ध करेंगे। भक्त के लौकिक योग-क्षेम एवं भगवान् -संबंधी अलौकिक सब कुछ श्रीहरि पूर्ण करेंगे, यह विश्वास रखना ही विवेक है। स्वयं के योगक्षेम के लिए सतत प्रयत्नशील बने रहने से भक्त बहिर्मुख हो जाता है, इससे भगवान के सेवा-स्मरण में विघ्न होते हैं।

(२) दूसरा विवेक - यह है कि अपने सुखों के लिए, योग-क्षेम के लिए प्रभु से प्रार्थना तथा याचना नहीं करना चाहिए। श्री महाप्रभुजी कहते हैं, '**निजेच्छातः करिष्यति**' प्रभु को जो करना होगा अपनी इच्छा से करेंगे ही। ऐसी शंका नहीं रखना चाहिए कि यदि हम प्रार्थना नहीं करेंगे तो प्रभु हमारी कामना की पूर्ति कैसे करेंगे? वे निज-इच्छा से करेंगे ही। अपने भक्तों के मनोरथ को वे जानते हैं। भक्तों की आवश्यकता एवं भक्तों की सतत सेवा-परायणता को वे अनदेखा नहीं करते। इसलिए निश्चिंत रहना चाहिए।

निजेच्छातः के दो अर्थ होते हैं - (१) भक्त की इच्छा यदि विकार-युक्त होगी (संसारासक्ति वाली होगी) तो प्रभु भक्त की इच्छा के अनुसार नहीं अपितु स्वयं अपनी इच्छा से सब कुछ करते हैं (२) भक्त की इच्छा यदि प्रभु-संबंधी होगी और अविकृत होगी तो भक्तेच्छापूरक भगवान भक्त अर्थात् निजजन की इच्छा के अनुसार सारे कार्य करते हैं।

(३) तृतीय विवेक - कोई भी वस्तु प्राप्त करने के लिए प्रभु की प्रार्थना क्यों नहीं करना चाहिए? इस शंका के समाधान में श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि '**प्रार्थिते वा ततः किं स्यात्?**' प्रार्थना करने से क्या? प्रार्थना करने से सेवक के धर्म की हानि तो होती है। प्रभु जिस प्रकार रखें उसमें प्रसन्नता से रहना यह सेवक का धर्म है। प्रार्थना या याचना करने से एक और हानि है, "**स्वाम्यभिप्राय संशयात्**" किसी भी विषय में स्वामी का क्या अभिप्राय है, वह हम जानते नहीं। स्वयं की इच्छा और प्रभु की इच्छा में यदि भिन्नता होती है, तो इससे प्रभु को परिश्रम होता है।

वैष्णव को विवेकपूर्वक यह विचारना चाहिए कि यदि भगवान की भक्त को कुछ देने की इच्छा होगी तो (बिना प्रार्थना के) वे स्वयं की इच्छा से देवेंगे ही और यदि उनकी इच्छा देने की नहीं होगी तो प्रार्थना करने पर भी वे नहीं देंगे। ऐसी स्थिति में प्रार्थना से क्या लाभ?

(४) चौथा विवेक - यह है कि इस बात का विश्वास रखना कि असाध्य वस्तु भी यदि भगवान देना चाहेंगे तो दे ही देंगे। क्योंकि जीव के लिये तो बहुत सी वस्तुएँ असाध्य एवं दुर्लभ हो सकती हैं, लेकिन भगवान को तो "सर्वत्र तस्य सर्वं हि" सर्ववस्तु सर्वसुलभ हैं। इष्ट वस्तु तत्काल देना उनके लिए सरल और सहज है। अभिलषित वस्तु के लिए मनुष्य को उस वस्तु का अभाव कष्ट देता है। वस्तु प्राप्त करने में प्रतिबंध आड़े आता है, प्राप्ति के साधन में उसका सामर्थ्य नहीं भी हो सकता है, लेकिन सब कुछ भगवान के लिए तो संभव है ही। इसलिए यदि भगवद्-इच्छा होगी तो अपने लिए कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं रहेगा। यह जानना चतुर्थ विवेक है। "प्रभु इच्छा कछु दुर्लभ नाहीं।"

"**सर्वसामर्थ्यमेव च**" हम उस भगवान की शरण में हैं। जिसमें सर्वप्रकार से सर्ववस्तु प्राप्त करने और प्रदान करने का सामर्थ्य है। प्रभु सर्वसमर्थ हैं, सर्वरूप हैं, सारी वस्तुएँ उनकी ही हैं। जीव के लिए जो इष्ट वस्तु है वह वस्तु परोक्ष रूप से भी प्रभु प्रदान करते हैं, प्रभु परोक्ष रूप से पहुँचाते हैं, किन्तु जीव "यह मेरे पुरुषार्थ से मिली।" ऐसा अभिमान करता है। अंगीकार के पहले भी प्रभु ने हमारे काम सम्पन्न किए हैं, तो फिर अंगीकार के बाद मेरी संभाल नहीं करेंगे? ऐसा विश्वास रखकर प्रभु के पास किसी भी वस्तु के लिए प्रार्थना या कामना नहीं करना चाहिए।

(५) पाँचवा विवेक - "अभिमानस्तु संत्याज्यः स्वाम्यधीनत्व भावनात्" भगवान को देहादि का निवेदन करने के बाद ये देहादि मेरे हैं, यह अभिमान छोड़ देना चाहिए और यह मानना चाहिए कि ये सब भगवान के अधीन हैं। यदि देह, इन्द्रिय इत्यादि को अलग-अलग विषयों में अभिमान के कारण स्वतंत्रता से लगावें तो उनका विषयों में विनियोग हुआ, यह कहलाता है। इस संबंध में भक्त को चाहिए कि वह वासना सहित अभिमान का त्याग करें और अपने स्वामी भगवान की अधीनता का सतत स्मरण रखे। यह पाँचवाँ विवेक है।

(६) छठा विवेक - श्री महाप्रभुजी की आज्ञानुसार - विवेकयुक्त होकर प्रभु की सेवा करनी चाहिए, परन्तु यदि भगवान की आज्ञा श्री आचार्यजी की आज्ञा से कुछ विशेष रूप से हो, तो प्रभु की आज्ञानुसार करना चाहिए। प्रभु को जो रुचता है वैसी यदि भगवद् -आज्ञा हो, तो उस भगवद् - आज्ञा के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। यह छठा विवेक है। यदि भगवान को जो रुचता है ऐसी विशेष भगवद-आज्ञा न हो तो श्री महाप्रभुजी की आज्ञानुसार सेवा करनी चाहिए।

कभी भगवद्-आज्ञा स्वप्न द्वारा और कभी भक्त के अंतःकरण में भगवान के प्राकट्य द्वारा होती है। लौकिक प्रसंगों में भी यदि भगवान की विशेष आज्ञा हो तो तदीयपने का अनुसंधान रखकर ध्यान रखकर आवश्यक लौकिक कार्य करना ही विवेक है।

(७) सातवाँ विवेक - "आपदगत्यादि कार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा" विपत्ति के समय भगवान् संबंधी कार्य हर हालत में करने ही हैं, कैसे भी करें चाहे कर्ज लेकर कार्य करना पड़े, ऐसा हठ वैष्णव को नहीं करना चाहिए। विवेकी वैष्णव जब जैसे जो कुछ भी प्राप्त हो, उसमें संतोष कर श्री ठाकुरजी को अर्पण करें। अत्यन्त क्लेशपूर्वक प्रयत्नों से साध्य वस्तु प्रभु को समर्पण न करें। भाव तथा स्नेह सहित अपनी ओर से जो कुछ अर्पण किया जाता है उसे प्रभु साक्षात् अंगीकार करेंगे ही ऐसा समझना चाहिए। जब भगवत् कार्यों में हठ शोभा नहीं देता तो फिर लौकिक कार्यों में तो

हठाग्रही कैसे हो सकते हैं? वैष्णवों ने इस विवेक को कभी भी नहीं भूलना चाहिए। इसके संबंध में भगवदीय वार्ताओं में अनेक उदाहरण मिलते हैं।

(८) आठवाँ विवेक - आठवाँ विवेक है कि, भगवदीय को अनाग्रही होना चाहिए। सभी स्मार्त और श्रौत (वैदिक) कार्य भी करना चाहिए। क्योंकि वेदाज्ञा भी भगवद्-आज्ञा ही है, वेदों के रूप में भगवदाज्ञा से प्राप्त हुए कर्मों को अवश्य करना चाहिए, परन्तु वे कर्म भगवद् -सेवा से गौण समझकर, सेवा से बचे समय में अनवसर में कर लेना चाहिए। भगवान् से संबंध न रखने वाले किसी भी कार्य को करने के लिए वैष्णव को आग्रही नहीं होना चाहिए।

(९) नवम विवेक - यह है कि **''धर्माधर्माग्रदर्शनम्''** वैष्णव को अपने धर्म तथा अधर्म के विषय में गहरा चिंतन करना चाहिए। उसे श्रौत और स्मार्त आदि धर्मों तथा इन धर्मों के अनुसार न चलने से उत्पन्न अधर्मों का सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिए। जिससे अधर्म उत्पन्न होता हो, ऐसे कर्म न करें। वैष्णव को कर्मों की कोटि पर भी विचार करना चाहिए। स्मार्त कर्मों की अपेक्षा श्रौत कर्म उत्तम हैं, श्रौत कर्म की अपेक्षा भगवत् धर्म उत्तम है। स्मृति शास्त्रों की आज्ञानुसार कर्म करना स्मार्तधर्म, वेद की आज्ञा के अनुसार कर्म करना श्रौत कर्म और भगवत्-शास्त्र की आज्ञा-अनुसार सेवा, भजन आदि भगवत् धर्म हैं।

श्रौत धर्मों के पालन में स्मार्त धर्म का त्याग करना पड़े तो दोष रूप नहीं है, उसी तरह यदि भगवत् धर्म का पालन करने के लिए आवश्यकता होने पर श्रौत और स्मार्त धर्मों को छोड़ना पड़े तो इसमें कोई दोष नहीं है। श्रुति-स्मृति में बताये गये धर्म, देह सम्बन्धी धर्म हैं। जबकि भगवत् -सम्बन्धी धर्म, आत्मा-संबंधी धर्म है। एक धर्म और दूसरे धर्म के बीच जब दुविधा उत्पन्न हो तब वैष्णव को उपर्युक्त विवेक को अपनाकर निर्णय करना चाहिए। पुष्टिमार्गीय वैष्णव को अपने जीवन में सेवा-स्मरणादि के तथा जीवन-प्रणाली के सुयोग्य निर्वाह के लिए इन नौ विवेकों का ज्ञान होना आवश्यक है।

श्री गुसांईजी के पास एक बार गुजरात से दो हजार वैष्णवों का संघ आया। उस संघ में एक सेठ भी था। सेठ गुसांईजी का सेवक और बहुत धनवान था। श्री गुसांईजी को दस हजार रुपयों की भेंट भेजी, वैष्णवों को भी खर्ची दी, उसके घर श्री ठाकुरजी बहुत सामग्री आरोगते थे और बहुत से वैष्णव प्रसाद लेते थे। वैष्णवों ने श्री गुसांईजी के सम्मुख सेठजी की बड़ी प्रशंसा की। प्रशंसा सुनकर श्री गुसांईजी चाचाजी के सामने देखकर मुस्कुरा दिए। कुछ बोले नहीं। चाचाजी ने कहा - ''महाराज! यह सेठ तो आपका सेवक है, उसके लिए यह प्रशंसा ठीक नहीं है-यह अलौकिक में अन्तराय स्वरूप है। आप कुछ बोले नहीं केवल मुस्कुरा कर हमारी ओर कटाक्ष से देखा। इसका क्या कारण है?'' श्री गुसांईजी बोले- ''भेंट मनोरथ बहुत प्रकार की होती है। जो द्रव्य को तुच्छ समझकर कोई मनोरथ करता है, उसमें संकोच और दीनता बहुत होती है। दीनता के कारण प्रभु शीघ्र प्रसन्न होते हैं। यदि कोई द्रव्य को महत्वपूर्ण समझकर भेंट करता है तो उसे दीनता सिद्ध नहीं होती। उसके मन में अपनी महत्ता बनी रहती है. ऐसे मनोरथ में भगवत्-सम्बन्ध नहीं होता।''

जीवन की सिद्धि और सफलता अपने बड़प्पन के कारण नहीं लेकिन सद्गुरु के अनुग्रह से

और कृष्ण-कृपा से मिलती है, यह मानना विवेक है। श्री नवनीतप्रियजी के मंदिर में एक चोर चोरी करने गया। आभूषणों और चाँदी के पात्रों का उसने पोटला बांधा। पोटला इतना भारी हो गया कि चोर से उठा नहीं। तब श्री गुसांईजी ने स्वयं उठाकर उसके सिर पर चढ़ा दिया और कहा, "तू झट से चला जा।" थोड़ी दूर जाने के बाद चोर की बुद्धि पलट गई और वह श्री गुसांईजी की शरण में आया। श्री गुसांईजी ने उसे 'दया रखने और सच बोलने' की आज्ञा दी।

दूसरे साधारण लोगों के यहाँ चोरी करने जाने में उसे दया आ गई। इसलिए वह राजा के महल में चोरी करने गया। चोरी करने जाते समय एवं चोरी करके आने के बाद द्वारपाल और दीवान ने पूछा तो उसने जवाब दिया मैं चोरी करने गया था और राजा के यहाँ चोरी की। ऐसा सच्चा जवाब दिया। चोर को राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। तब राजा के मन में उसके लिए बहुत सम्मान हुआ। राजा को लगा कि जिसमें दया हो और जिसने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा की हो, उसे ही सारी सत्ता सौंप देना चाहिए। राजा ने उसे दीवान के भी ऊपर का पद दे दिया।

थोड़े समय बाद वह श्री गुसांईजी को दंडवत् करने गया। उसका वैभव इतना था कि लोगों ने कहा कि कोई राजा-महाराजा आ रहे हैं। श्री गुसांईजी ने कहा "दीवान आ रहा है।" चोर ने श्री गुसांईजी के पास आकर दंडवत् करके कहा - "महाराज मै तो आपका चोर हूँ। यह दीवानगिरी आपकी दी हुई है।" अपनी उन्नति में महापुरुषों की कृपा ही समझना चाहिए।

और कौऊ समझे सो समझे, हमको इतनी समझ भली
ठाकुर नन्दकिशोर हमारे, ठकुरानी वृषभान लली
श्री दामा आदि सखा श्याम के, श्यामासंग ललितादि अली
ब्रज पुरवास शैलवन विहरत, कुंजन-कुंजन रंगरली।
इनके लाड़ चहुँ सुख सेवा, भाव बेल रस फलन फली
कहि 'भगवान हित रामराय प्रभु', सबन तें इनकी कृपा भली।

संसार के अन्य लोगों को जो समझना हो वे भले समझें हमें तो इतनी समझ अच्छी लगती है कि हमारे ठाकुर, स्वामी श्री नन्दकिशोर हैं और स्वामिनी वृषभानुनंदिनी श्री राधाजी हैं। यह युगल स्वरूप हमारा आराध्य है। उनका भजन ही हमारे लिये सुख है। उनका धाम हमारा धाम है। उनकी सृष्टि ही हमारी सृष्टि है। हमारे श्यामसुन्दर के श्रीदामा आदि सखा हैं तो श्री राधाजी की ललिताजी आदि सखियाँ हैं। व्रजधाम में श्री नँदगाव और बरसाना में ये स्वरूप निवास करते हैं। उनकी लीला सृष्टि परम माधुर, सुखदायिनी है। ये युगल स्वरूप श्रीगिरिराज के शिखर, कंदरा, संकेतवन, कामवन, मधुबन आदि वनों में, वन की कुंज गलियों में, मधुर लीला प्रकट करते हुए विहार करते हैं। हमारी समझ में इतना ही है कि, इन श्याम-श्यामा की, रस ब्रह्म के इन दो आविर्भूत स्वरूपों की स्नेहपूर्वक सेवा करनी चाहिए। इसी से भक्त के हृदय में स्थित भाव-वल्लरी रूप कल्पलतिका में रस, परमानंदरूप फल फलित होता है। हमें विश्व में किसी की कृपा की, मेहरबानी की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनमें अल्प सुख हैं अतः वे अल्प सुख ही दे सकते हैं। हमें तो इन युगल स्वरूप का ही अनुग्रह चाहिए।

●

स्वाध्याय-५१

धैर्य

धैर्य की रक्षा करने के लिए श्री वल्लभाचार्यजी महाप्रभु ने बहुत सुन्दर वचनामृत कहे हैं - "**सर्व सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनात्**" भगवदीय को कृष्ण-भावना से सारे कठोर, निष्ठुर वचनों को सहन कर लेना चाहिए।

भगवान् का आन्तरिक तथा बहिर्भजन ठीक तरह से सिद्ध करने के लिए वैष्णव को हृदय की व्याकुलता से बचना चाहिए। कुटिल बुद्धिवाले स्वजनों के कठोर वचनों से हृदय जितना बिधता है। उतना शत्रु के लोह बाणों से भी विदीर्ण नहीं होता है। शत्रु के बाणों से विदीर्ण व्यक्ति तो थोड़े समय में पीड़ा भोगकर प्राण त्याग देता है और पीड़ा मुक्त हो जाता है, परन्तु स्वजनों के कठोर वचनों से जिसका हृदय बिध गया हो, वह मनुष्य रात-दिन दुःखी (सन्तप्त) रहता है।

यदि वैष्णव धीरज धारण नहीं करता है तो ऐसे प्रसंगों में उसका चित्त क्षुब्ध हो जाता है और प्रभु का आन्तर भजन-स्मरण-कथा आदि कुछ नहीं हो पाता। अतः वैष्णव को सब कुछ धैर्यपूर्वक सहन कर लेना चाहिए। सहन करने के संबंध में महाप्रभुजी ने कितनी सुन्दर दृष्टि दी है "सर्वेषां कृष्णभावनात्" कोई कठोर शब्द कहे तो ऐसी भावना करनी चाहिए कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने को उसके माध्यम से उपदेश कर रहे हैं। हम प्रभु से बहिर्मुख न हो जाएँ इसलिए यह भावना बहुत जरूरी है।

आन्तर्भजन सिद्धि - अपने मन में किसी घटना के कारण असाधारण उद्वेग हो तो भगवद् - भजन में अन्तराय आता ही है। व्यक्ति में सहन शक्ति जितनी कम होगी वह उतना ही अशांत रहेगा और जिसका चित्त अशांत हो, व्यग्र हो, उद्विग्न हो वह भगवत्सेवा और भगवत्-स्मरण भी ठीक तरीके से नहीं कर सकता है। अप्रिय घटनाएँ मानव जीवन में होती ही रहती हैं तो व्यक्ति को क्या करना चाहिए? वहाँ श्री महाप्रभुजी धैर्य की आवश्यकता बताते हैं -"**त्रिदुःखसहनं धैर्यम्**" जीवन-पर्यन्त तीन प्रकार के दुःखों को सहन करना, इसका नाम धैर्य हैं। दुःख के प्रकार तीन हैं - आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक । देह संबंधी दुःख रोग, वृद्धावस्था, निर्बलता आदि आदिभौतिक दुःख कहलाते हैं। इन्द्रियों के सम्बन्ध के दुःख (काम आदि) आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं और भक्त की परीक्षा करने के लिए अथवा प्रारब्ध के भोग के लिए स्वयं भगवान् अपने भक्त को किसी प्रकार का दुःख देवें तो वह आधिदैविक दुःख कहलाएगा।

इन तीनों दुःखों को सहन करना चाहिए। यदि सहन न किया जावे तो चित्त व्याकुल रहता है और चित्त व्याकुल रहता है तो चित्त की भगवान् में स्नेहात्मक सेवाभक्ति कैसे हो सकती है? सेवक बनने के बाद सेवकधर्म का निर्वाह न हो तो स्वधर्म की हानि है।

भगवान् श्री गीताजी में भी दुःखों को सहन करने की आज्ञा करते हैं -

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तां तितिक्षस्व भारत॥

अंतःकरण सहित शब्द, स्पर्श, इन्द्रियों के विषयों के साथ सम्बन्ध अथवा शब्द स्पर्श आदि भोग्य पदार्थ सर्दी-गर्मी की तरह सुख-दुःख देने वाले हैं। सर्दी-गर्मी यदि अनुकूल हो तो सुख और प्रतिकूल हो तो दुःख देते हैं। ये सब उत्पत्ति एवं नाश को प्राप्त होने वाले स्वभाव के हैं। ये बिजली की चमक की भाँति हैं अर्जुन ! यह सब तू सहन कर। विवेकपूर्वक इनकी उपेक्षा कर और इनमें हर्ष शोक मत कर। प्रतिक्रिया **'चिन्ता विषादराहित्येन प्राप्तदुःखसहन मुमुक्षोरुत्तमोधर्मः'** भक्त हो या मुमुक्षु हो उनका उत्तम धर्म यह है कि प्रतिकार, चिंता और विषाद के बिना प्रारब्धवशात् अथवा भगवद्इच्छा से होने वाले दुःखों को सहन करना चाहिए।

सहनशीलता ही वैष्णवता -

श्रुति कहती है कि "वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत" वृक्ष की तरह रहना चाहिए। कोई भी वृक्ष को काटता है तो वह क्रोध नहीं करता और कम्पित भी नहीं होता।

मन तू वृक्षन को मत ले।
काटे तापर क्रोध न करही सींचे नाही सनेह
जो कोऊ वापे पत्थर चलावे, ताही को फल दे
धूप सहत है अपने सिर पर, औरन को छाया दे
धन्य ए जड़ परम परमारथ, वृथा मनुष्य की देह
सूरदास मन कर्म वचन करी संतन को मत एह....

पुष्टिमार्ग के जहाज श्री सूरदासजी हमें वृक्ष से शिक्षा लेने की प्रेरणा देते हैं। वृक्ष सहनशीलता की मूर्ति हैं। काटने वाले पर भी क्रोध नहीं करता और सींचने वाले पर विशेष प्रेम नहीं रखता। जो पत्थर मारता है उसे भी वृक्ष फल देता है, यह क्या साधारण बात है? वृक्ष स्वयं धूप सहन करता है और दूसरों को छाया देता है। ऐसा पारमार्थिक जीवन वृक्ष जीकर दिखाता है।

वृक्ष वैष्णव है, इसलिए वह तितिक्षारूप वैष्णव धर्म का पालन करता है। वैष्णव तो सहनशीलता की मूर्ति है। प्रतिकार करने में समर्थ हो, बदला लेने की शक्ति हो तो भी वैष्णव चुपचाप सहन कर लेता है।

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिंताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते॥

सर्वप्रकार के दुःखों का प्रतीकार, चिंता, विलाप, चिल्लाहट और शिकायत बिना कष्ट सहन करना तितिक्षा कहलाती है। इस तितिक्षा अर्थात् सहनशीलता के लिए बहुत कुछ कहा गया है। तितिक्षा मोक्ष का द्वार है। (श्रीमद्भागवत) तितिक्षा का अभाव (क्रोध) नरक का द्वार है। (गीता) तितिक्षा ज्ञानी और भक्त का आवश्यक लक्षण है।

तितिक्षा देवी धर्म पत्नी हैं। वे शंकर आदि देवों को, परशुराम आदि अवतारी पुरुषों को तथा ऋषियों, तपस्वियों को मोह में डालकर, अधिकारी पुरुष के अभाव में भगवान विष्णु के वक्षस्थल पर भृगुपद - लांछन के रूप में प्रतिष्ठा पाई हुई है। पृथ्वी रूप में ये विष्णुपत्नी है और दत्त भगवान् के द्वारा गुरुपद पर विराजमान होकर संसार को सहनशीलता का ज्ञान दे रही है।

श्रीमद् आचार्यजी धैर्य का सतत रक्षण करने की आज्ञा करते हैं। जिसमें धैर्य है वह धीर है। कवि कालिदास ने कुमारसंभव में धीर की व्याख्या की है कि "**विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि ते एव धीराः**" विकार उत्पन्न होने के कारण विद्यमान होते हुए भी जिनका चित्त विकारग्रस्त नहीं होता है वे धीर हैं।

'**तक्रवद् देहवद् भाव्यम्**' देहाभिमान हो तो दुःखों को सहन करना मुश्किल होता है। इसलिए देहाभिमान छोड़ दें। जिस प्रकार छाछ निःसार होती है, वह त्याग देने योग्य है, ऐसा हम मानते हैं। यदि छाछ ढुल जाय तो दुःख नहीं होता है। मक्खन तो सार है, उसमें हमारा ममत्व होता है, वह बिखर जाय तो दुःख होता है। निःसार में ममत्व, मोह, छोड़ देना चाहिए।

जिस प्रकार हम छाछ के लिए ममत्व नहीं रखते मक्खन के प्रति मोह रखते हैं, उसी प्रकार भगवान् और भगवान् की सेवा में भगवदीयों को सुख होगा। सेवाधर्म में भी सहन करने की दृष्टि से उपर्युक्त चिंतन करना चाहिए और आध्यात्मिक दुःख को सहन करने में जड़भरत की भावना करनी चाहिए।

भगवदीयों की इन्द्रियाँ भगवद्भाव से युक्त होती हैं। भगवद्भाव से भरी हुई इन्द्रियाँ हों तो काम, क्रोधादि से उत्पन्न इन्द्रियों संबंधी दुःखों का अनुभव होता ही नहीं है।

वैष्णवों को इन्द्रियों -संबंधी दुःख सहन करके भी सेवा करनी चाहिए। विषयभोग में इन्द्रियों को आविष्ट नहीं होने देना चाहिए। जीवन में यदि क्षुद्र विषय भरे हुए होंगे तो भगवत् -आवेश संभव नहीं है इसलिए भगवद्भाव से युक्त होकर जड़भरत जैसे होना चाहिए। आधिदैविक दुःखों को दूर करने के लिए गोपभार्या दृष्टान्तरूप हैं। अपने प्रारब्ध का भोग पूरा करने के लिए, अपनी परीक्षा लेने के लिए प्रभु कभी फल देने में विलंब भी करते हैं। उस प्रसंग में गोपभार्या की भावना करना चाहिए। रास प्रसंग में अन्तर्गृहगता गोपभार्याओं को प्रारब्धभोग पूरा करने की दृष्टि से प्रभु की ओर से विलंब करने में आया, जैसे ही उनका प्रारब्ध भोग पूरा हुआ वैसे ही उन्हें भगवद्-प्राप्ति हुई। उसी तरह मेरे प्रारब्ध भोग पूरे होते ही मुझे भी भगवान प्राप्त होंगे, ऐसा समझकर वैष्णवों को धैर्यपूर्वक मृत्यु होने तक दुःख सहन करने चाहिए। यदि भगवद्-इच्छा से पत्नी आदि परिवारजन आदि अनुकूल हो अथवा तटस्थ हों (स्वधर्म में विघ्न करने वाले न हों) तो उसका या दूसरे परिवारजनों का त्याग करने में आग्रह नहीं होना चाहिए। उनके साथ अथवा स्वयं ही भगवत्सेवा करते रहना चाहिए।

स्वयं के मन, वाणी और कर्म से इन्द्रियों के कार्यों (लौकिक विषयों का) त्याग करना चाहिए और उन्हें अलौकिक विषयों में जोड़ना चाहिए। इसमें कुछ दुःख हो तो उसे भी सहन करना चाहिए। अपने स्वभाव को और इन्द्रियों को जीतने का सामर्थ्य न हो तो भी अपनी असमर्थता की भावना करके इन्द्रियों के कार्यों का त्याग करना चाहिए। अर्थात् धीरे-धीरे इन्द्रियों को भी विषयासक्ति से

बाहर निकालना चाहिए। यदि यह सब अशक्य लगे तो भी अन्त में भगवान् की ही शरण में जाकर और उनके सिवाय मेरा और कोई नहीं है, ऐसी अनन्य आश्रय की भावना भगवान् में करनी चाहिए। श्रीवल्लभ का आश्वासन है कि 'अशक्ये हरिरेवास्ति' अशक्य स्थिति में, जीव की असमर्थता में भगवान् की शरण ही परम साधन है। शरणभाव से भी धैर्य को सहेजा जा सकता है। दृढ़ शरणागति वाला भक्त भगवान् में अनन्य विश्वास के कारण किसी भी प्रकार के तीव्र, भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता है। श्रीहरि दुःखहर्ता हैं। वे दुःख को हर लेंगे या दुःख को सहन करने योग्य धैर्य का दान करेंगे, ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

लौकिक क्लेश को भी प्रभु के अंगीकार का ही लक्षण समझना चाहिए। दुःख के समय में ध्रुव को उसकी माता ने जो बोध दिया था, वह मनन करने योग्य है। उन्होंने कहा था- "बेटे! तुझे जो दुःख दे उसकी भी अमंगल की भावना मत करना। जो मनुष्य दूसरों को दुःख देता हैं। उसे स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है।"

वैष्णव को ऐसा विवेक धारण करना चाहिए कि मैंने पूर्व जन्म में इसे दुःख दिया होगा, इसलिए यह दुःख मुझे दे रहा है। जो कोई दुःख देता है, उसे उसकी दुष्टता नहीं माननी चाहिए, परन्तु अपना ही कर्मफल समझना चाहिए और यह बात सच भी है कि हम वही भोगते हैं, जो हमने किया है। भगवान् श्रीहरि सब प्राणियों में, सर्वभूतों में विराजते हैं, यह समझकर सभी जीवों के प्रति यथाशक्ति अनुकूल होना चाहिए, हृदय से मान देना चाहिए। समभाव रखना चाहिए। धन, स्त्री, पशु, पुत्रादि, घर, पृथ्वी, हाथी, घोड़ा, खजाना और सारे सुख, समृद्धि क्षणभंगुर हैं, क्षणभर में नष्ट हो सकते हैं। क्षणभंगुर अपना क्या हित कर सकते हैं और क्या अहित कर सकते हैं? धैर्यवान होने के लिए मनुष्य को विचार करना चाहिए कि जब हमारे देह का ही भरोसा नहीं तो फिर पुत्र, स्त्री, घर, धन, सम्पत्ति, राज्य, खजाना, मंत्री, नौकर, चाकर और अनेक रिश्तेदार स्वजन और पदार्थों के विषय में क्या कहा जा सकता है?

संसार को चलाने वाली तृष्णा है, वह इच्छानुसार भोग मिलने पर भी शांत नहीं होती है। मनुष्य दुर्बल हो जाता है, परन्तु उसकी (इच्छा) तृष्णा क्षीण नहीं होती है। अनेक जीव सुख पाने का और दुःख को टालने का प्रयत्न करते हैं, फिर भी उन्हें इसमें विपरीत फल मिलता है।

संसार में बड़ों-बड़ों पर दुःख आता है। सबके दिन एक जैसे नहीं जाते। कभी पूर्व जन्म के स्वभाव के परिणामस्वरूप हम दुःख भोगते हैं। जीवन में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। स्वजनों के संयोग-वियोग की प्रत्येक परिस्थिति में विचरना चाहिए कि बड़ों-बड़ों के जीवन में दुःख आये हैं। पांडवों की कितनी महत्ता थी! उनके राजसूय यज्ञ में भगवान् ने भी सेवाकार्य किया था। इन पांडवों को द्यूत में कैसी-कैसी पीड़ा भोगनी पड़ी थी। राजा द्रुपद की पुत्री द्रोपदी का भरी सभा में चीरहरण का प्रयास हुआ। सीताजी को भी वनवास के दुःख रावण द्वारा दिए गए। दुःख और लोकनिंदारूप दुःख भोगने पड़े। स्वयं भगवान् को भी निंदक की वाणी सहन करनी पड़ी। भीष्म को बाणशय्या, राजा दशरथ को पुत्र वियोग, भक्त प्रहलाद को पिता का अत्याचार, वसुदेव-देवकी को अपने पुत्रों का वध और कारावास, राजा हरिश्चन्द्र को चांडाल की सेवा करनी पड़ी, मीरा को विषपान करना

पड़ा, सूरदासजी को माता-पिता का अनादर सहन करना पड़ा, नरसिंह मेहता, तुकाराम जैसे भक्तों को पारिवारिक दुःख भोगने पड़े थे।

सबै दिन जात न एक समान
सुमिरन भजन, कियौ करि हरिको, जबलौं तन कुसलात
कबहुँ कमला चपल पाइकै, टेढ़े - टेढ़े जात
कबहुँ मग-मग धूरि बटोरत, भोजन को बिलखात
या देहिको गरब करत, धन-जोबन के मदमात
हौ बड़, हौ बड़, बहुत कहावत सूधे कहत न जात
वाद विवाद सबै दिन बीते खेलत ही अरु खात
जोग न जुक्ति, ध्यान नहीं पूजा, बिरध भये पछितात
ताते कहत संभारहि रे नर, काहे को इतरात
सूरदास भगवंत भजन बिनु कहूँ नाहि सुख गात।।

सब दिन एक सरीखे नहीं जाते हैं। शरीर अच्छा है, स्वस्थ है, तब तक श्रीहरि का स्मरण-भजन करते रहना चाहिए। प्रभु की कृपा है तब तक जितना संभव हो उतना भजन कर लेना चाहिए।

चंचला लक्ष्मी को प्राप्त करके मनुष्य टेढ़ा-टेढ़ा चलता है। घमंडी हो जाता है कभी किसी के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता है। कभी ऐसा समय भी आ सकता है कि मनुष्य मिट्टी में मिल जाता है, दो मुट्ठी अनाज के भी लाले पड़ जाते हैं।

मनुष्य इस नश्वर शरीर का गर्व करता है। यौन-मद में डूबा रहता है। 'मैं बड़ा हूँ- मैं बड़ा हूँ' ऐसा कहता कहलाता है। किसी के साथ सीधे मुँह बात नहीं करता। लोगों के साथ निरर्थक चर्चाओं में, वादविवाद में, खेलने खाने में उसके दिन बीत जाते हैं। न तो योग-साधन, न प्रभु का ध्यान और न पूजा-पाठ ही करता है। जब रोग उसे पकड़ेंगे तो पछतायेगा। अतः सूरदास कहते हैं कि तू अपने आप को सम्हाल । तू अपने आपके लिए इतना घमंड क्यों करता है, इसलिये मैं तुझे सच कहता हूँ कि सच में भगवान् का भजन-स्मरण किए बिना तुझे सुख मिलने वाला नहीं है अर्थात् तेरा जन्म सफल नहीं होगा।

जीवन में आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक किसी भी प्रकार के दुःख आ पड़ें और मृत्यु के समान अपार कष्ट हो तो भी सब प्रकार से निरन्तर दुःखों को सहन करना धैर्य है। भगवान् की इच्छा से यदि दुःख की निवृत्ति का उपाय सिद्ध हो जाय तो दुःख सहन करने का आग्रह भी न रखें। चाहे अशक्य स्थिति हो या सुशक्य स्थिति हो या कैसी भी अपमानजनक स्थिति बन जाय, यदि अपने ही अपने विरोधी हो जायें तो भी प्रभु की अनन्य भाव से शरणागति की भावना रखते हुए दुःखों को प्रभु की इच्छा और लीला मानकर सहन करना चाहिए।

(विवेक धैर्याश्रय के आधार पर)

आश्रय

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते।।

जिससे जगत् का सृजन और विलय ज्ञात होता है, उन्हें आश्रय कहते हैं और वही तत्त्व परब्रह्म परमात्मा के नाम से जाना जाता है। भगवान् ही आश्रय रूप हैं। श्रीकृष्ण परमानंद स्वरूप हैं। इसलिए वे ही आश्रय करने योग्य हैं -

अमन्दपरमानन्दो निजानन्दाश्रयस्थितः।
स्वरूपानंददाता च स कृष्णः शरणं मम।।

भगवान् श्रीकृष्ण तो निरंतर आनंदरूप हैं, परमानंद स्वरूप हैं। अतः जो उनके आनन्द स्वरूप का आश्रय करके रहते हैं उनके लिए ये आश्रय स्वरूप हैं। वे स्वरूपानंद के दाता भी हैं ये कृष्ण ही मेरे शरण-स्थल या आश्रय हैं।

भगवदाश्रय -

श्रीमद् आचार्यजी ने वर्तमान कलिकाल के वातावरण को ध्यान में रखते हुए जीव के उद्धार के लिए भगवद्-आश्रय को ही एकमात्र उपाय बताया है। काल के बल के वशीभूत होकर वेद-शास्त्र द्वारा निरूपित सारे साधन वर्तमान में असाध्य हो गए हैं।

(१) काल शुद्धि- वैदिकधर्ममार्ग के लिए आवश्यक शुद्धकाल अब रहा ही नहीं। यह कलिकाल अन्तर्दुष्ट खल धर्मवाला है। इस काल में पाखण्ड की प्रचुरता ही दिखलाई देती है। इस कारण कल्याण के सारे मार्ग नष्ट हो गये हैं।

(२) देश शुद्धि - सर्वस्थान, सर्वप्रदेश, म्लेच्छ यवनादि से भर गये हैं। अब सारे तीर्थ स्थान पाप के घर हो गए हैं। लोग स्वधर्मनिष्ठ साधु जीवों को पीड़ा करने में व्यग्र हैं अथवा साधुजनों को पीड़ा पहुँचती देखकर लोग व्यग्र हैं। स्थान के बल से किसी का धर्म पुरुषार्थ सिद्ध हो सके आज ऐसी स्थिति नहीं है।

(३) द्रव्य शुद्धि - वैदिक धर्ममार्ग के लिए आवश्यक शुद्ध द्रव्य भी अब प्राप्य नहीं है। श्री गंगाजी जैसे श्रेष्ठ तीर्थ भी दुष्ट जीवों और दूषित वस्तुओं से अशुद्ध हो गए हैं। दुष्टों को प्रतिबंधित करें ऐसे तीर्थों के अधिदेवता, तीर्थ-अधिष्ठाता देव भी तिरोहित हो गए हैं। शुद्धद्रव्य के अभाव में धर्ममार्ग का अनुष्ठान सिद्ध नहीं हो सकता है।

(४) कर्त्ता शुद्धि - कर्म धर्ममार्ग के अनुरूप उत्तमकर्त्ता भी दुर्लभ हैं। प्रायः संत गर्व से विमूढ़

हो गए हैं। पापों का अनुसरण करने वाले हो गए हैं। पारमार्थिक कार्य भी प्रायः लाभ और पूजा के लिए होते हैं। कर्ममार्ग की दृष्टि से शुद्धकर्त्ताओं का अभाव है। इस कारण जीव स्वयं अपने उद्धार में असमर्थ है।

(५) मंत्र शुद्धि - शास्त्रोक्त साधन करने के लिए आवश्यक वैदिक तथा आगमोक्त मंत्रों सम्बन्धी शुद्धि भी नहीं रही है। मंत्रों के तात्पर्य फल तथा देवताओं के स्वरूप का परिज्ञान भी आजकल नहीं है, जिसके परिणाम-स्वरूप मंत्र नष्ट प्राय हो गए हैं। मंत्र की साधना करने वाले अधिकारियों, ब्रह्मचर्यादि व्रतों से रहित हैं। उसी तरह उन जीवों के संयम-शुद्धि-रहित होने से मंत्रों के अर्थ एवं देवता तिरोहित हो गए हैं। ऐसे व्यक्ति ऐसे मंत्र द्वारा स्वयं का भी उद्धार नहीं कर सकते हैं।

(६) कर्म शुद्धि- सोमयाग आदि कर्म तथा व्रत आदि कर्मों के अनेक प्रकार के वादों से, मतमतांतर से नष्ट हो गए हैं। जो कुछ भी कर्म हो रहे हैं, वे पाखंडवृत्ति से हो रहे हैं। इसलिए इस काल में शास्त्रोक्त, श्रौत-स्मार्त कर्मों के अवलंबन से कोई भी जीव स्वयं का उद्धार नहीं कर सकता है।

श्री वल्लभ ने सर्व स्थितियों में भगवदाश्रय को दृढ़ता से धारण करके रखने की आज्ञा की है। जीव की अवस्था कैसी भी हो- तदीय या अतदीय, परन्तु उसे भगवदाश्रय को स्थिर करके रखना चाहिए। **"अतदीयतया चापि केवलश्चेत्, समाश्रितः"** आपश्री की ऐसी आज्ञा है कि प्रभु को सर्वस्व का समर्पण कर देने से जीव में तदीयता आती है (अर्थात् ये जीव प्रभु के बन जाते हैं)। तदीयता के साथ-साथ ऐसे जीवों में भगवान् का प्रियत्व भी आता है। यदि सर्व समर्पण न हुआ, तदीयत्व और प्रभुका प्रियत्व न हुआ हो तो भी जीव को तदाश्रय, भगवदाश्रय तो दृढ़ रखना ही चाहिए। सर्व प्रकार से प्रभु ही मेरे रक्षक हैं, दूसरा कोई नहीं, यह विश्वास ही दृढ़ाश्रय है।

क्लेशनिवारण - भगवान् के चरणारविन्द का आश्रय भक्त के क्लेशों का निवारण करता है। भक्ति और प्रपत्ति इन दो नों से क्लेश दूर होते हैं। प्रपन्न भक्त के ऊपर भगवान् के चरणारविंद छत्र की तरह रहते हैं। भक्त कहीं भी जावे वहाँ उसके ताप को भगवान् के चरणारविन्द दूर करते जाते हैं। भक्त के वश में रहने का, भगवान् के चरणारविन्द का धर्म (स्वभाव) ही है।

मुक्तिदान - मुक्ति के भी दो प्रकार हैं - स्वाश्रया और पराश्रया।

स्वाश्रया मुक्ति - जीव स्वयं ही ब्रह्म है, इसलिए मुक्ति स्व के आधीन है। स्वयं ब्रह्मरूप है, ऐसी अनुभूति जीव को स्वयं करना चाहिए। यह मुक्ति की अवस्था दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति रूप है।

स्वाश्रया मुक्ति के दो साधन हैं (१) सांख्य (२) योग

पराश्रया मुक्ति - भक्तिमार्ग में मुक्ति पराश्रया है। वह पर (भगवान्) की इच्छा (वरणेच्छा) के आधीन है। यह मुक्ति इष्ट के अनुग्रह से प्राप्त होती है। यहाँ मुक्ति का स्वरूप ही विशेष है। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही, साथ ही वहाँ अलौकिक, अनंत परमानन्द की प्राप्ति भी होती है। कृपालु प्रभु भक्त के साधन कैसे हैं इसका विचार नहीं करते। भक्त के विपरीत साधनों को भी अनुकूल साधन मानकर उसे मुक्ति का दान कर देते हैं। किसी न किसी प्रकार से जैसे भी हो, जीव को भगवदाश्रय करके रहना चाहिए। भगवान् के साथ किसी प्रकार संबंध नित्य और प्रगाढ़ हो, तो उसके परिणामस्वरूप भगवदाश्रय सिद्ध होता है और जीव मुक्त हो जाता है।

भगवान् ही आश्रय -

साधन एवं फल के विषय में सब कुछ भगवद्-इच्छा के आधीन हैं। उपनिषद् कहता है कि **"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम्"** भगवान् साधनों से साध्य नहीं हैं, वे किसी को प्रवचन से, बुद्धि से, बहुश्रुत से प्राप्त नहीं होते। परन्तु भगवान् जिसका वरण करते हैं, उसके लिए वे सुलभ होते हैं। इस तरह भगवद्-भक्ति भगवत्-सेवा और स्वयं भगवान् भी भगवान् की वरण-इच्छा के आधीन हैं। इसलिए अन्य लोक-वेद में बताये गये साधनों को करने के बदले भगवदाश्रय ही जीव का कर्त्तव्य है।

श्री गोवर्धन को धारण करते समय श्रीकृष्ण ने कहा था - 'हे ब्रजवासियों! मैं तुम्हारा शरण स्थल हूँ।' यह उचित ही है क्योंकि ब्रज भक्तों को न ज्ञान का आश्रय था और न भक्ति का। उन्हें तो स्वयं भगवान् का ही एकमात्र आश्रय था। भगवान् स्वयं उनके आश्रय रूप थे। **"नापि ज्ञानं नापि भक्तिः, अन्यथाऽवतारप्रयोजनं न स्यात् पुष्टिमार्गश्च न भवेत्।** भक्तों का आश्रय होना भगवान् के अवतार का प्रयोजन है। सर्व आश्रय से, अवलंबन से रहित भक्त के लिए प्रभु ही आश्रयरूप होते हैं। यही पुष्टिमार्ग है। महाप्रभु श्री वल्लभ कहते हैं -**"सर्वमाश्रयतो भवेत्।"** सब कुछ भगवान् के आश्रय से ही सिद्ध होता है। भगवान् के आश्रय से अशक्य वस्तु भी शक्य हो जाती है। यदि भगवदाश्रय न हो तो शक्य वस्तु भी अशक्य बन जाती है। सकल कार्य सिद्धि के लिए प्रभु का ही आश्रय लेना चाहिए।

इस लोक और परलोक के सुख प्राप्त करने के लिए, दुःख का नाश करने में, पाप को रोकने के लिए, भय की स्थिति में और जब इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती हों, ऐसी स्थिति में श्रीहरि ही एकमात्र शरण हैं। यदि भक्त का द्रोह हो गया हो, भक्ति न हो पा रही हो, भगवद् भक्तों ने अपना अतिक्रम किया हो, अहंकार हुआ हो, पोष्य व्यक्तियों के पोषण और रक्षण करना हो, शिष्य-पुत्र इत्यादि अनादर करें, सारी इन्द्रियों को अलौकिक बनाना हो, अलौकिक सारे पदार्थ प्राप्त करना हो, ऐसे सारे कार्यों में श्रीहरि का ही आश्रय लेना चाहिए। न केवल अशक्य लगने वाले सारे कार्यों में तथा सुशक्य लगने वाले कार्यों में भी श्रीहरि का ही आश्रय लेना कर्त्तव्य है।

सबसे बड़ा भगवदाश्रय -

यदि कभी माँगने का अवसर आवे तो जीव को केवल एक ही वस्तु माँगनी चाहिए, वह है भगवान् का दृढ़ आश्रय। रामदास सांचोरा श्री महाप्रभुजी की शरण में आये। श्री आचार्यजी ने विचार किया कि यह जीव दैवी जीव है, लेकिन इसकी आयु अभी कम है। यदि इसे अपने पास नहीं रखूँगा तो संसार के दुःसंग से कुछ खराब हो जायेगा। इसे थोड़े दिन साथ रखकर दृढ़ वैराग्य होने पर इसे स्वतंत्र छोड़ देंगे। तब श्रीरामदास को श्री आचार्यजी का आश्रय मिला। श्री महाप्रभुजी द्वारिका से आगे पृथ्वी परिक्रमा के लिए पधारे तब रामदास महाप्रभुजी की आज्ञानुसार उनके साथ चला। वह रसोई की परचारगी तथा छोटी-मोटी सेवा करता था। श्री आचार्यजी रामदास की परीक्षा लेने के लिए किसी दिन थोड़ा सा भोजन, कभी केवल रोटी देते दाल-साग नहीं देते। रामदास सौभाग्य मानकर महाप्रसाद लेते। श्री महाप्रभुजी उससे बहुत प्रसन्न रहते। मार्ग चलते समय रामदास, मार्ग के काँटे दूर करते जाते। महाप्रभुजी को काँटे न लग जावें इसलिए वे यह करते थे। एकबार रामदास के पैर में

एक बड़ा काँटा लग गया। तब उसने सोचा कि यदि। मैं अपने पैर में काँटा निकालने लगूँगा, तो श्री आचार्यजी मेरे लिए खड़े रहेंगे। यह ठीक नहीं होगा। इससे मेरा सेवक धर्म नष्ट होगा। उसने अपने पैर का काँटा नहीं निकाला और मार्ग को साफ करते हुए बराबर चलता रहा, थोड़ी दूर जाकर श्री महाप्रभुजी खड़े हो गये और कहने लगे, "रामदास ! तू अपने पैर का काँटा निकाल लें, तुझ पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। जो चाहिए वह माँग।" रामदास ने उत्तर दिया - "महाराज आपकी शरण मोकों मिली। अब यासों अधिक कहा है? ताते यह मोकों कृपा करिके दीजिये, जो आपको आश्रय सदा दृढ़ रहे और को न होई।" अर्थात् आपकी शरण मुझे मिली है, अब इससे अधिक क्या चाहिए। मुझे कृपा करके यही दीजिये कि आपका ही आश्रय सदा दृढ़ रहे, अन्य किसी का आश्रय न हो। तादृशी भक्त सच्चा वैष्णव यही माँगता है। सूरदासजी अंतिम समय में पारासोली में अचेत होकर पड़े थे। श्री गुसांईजी एवं श्री गोवर्धननाथजी के स्वरूप में मन लगाकर उन्होंने बोलना बंद कर दिया था। राजभोग की आरती करके श्री गुसांईजी वहाँ पधारे तब सूरदासजी ने कहा -"बाबा! आप पधारे। मैं आपका ही रास्ता देख रहा था। इस समय आपने आकर दर्शन दिए यह महान् कृपा की है।"

इस समय सारे वैष्णव श्री गुसांईजी के पास खड़े थे। उनमें से चतुर्भुजदास ने कहा-"सूरदासजी आप परम भगवदीय हैं।" आपने ठाकुरजी के करीब एक लाख पद रचे हैं, परन्तु आपने श्री आचार्यजी महाप्रभुजी का यश वर्णन नहीं किया।" यह सुनकर श्री सूरदासजी बोले - "मैंने तो सारा यश-वर्णन श्री आचार्यजी का ही किया है, यदि मैं अलग समझता तो अलग कहता। परन्तु मुझ से पूछा है तो तुम्हारे लिए कहता हूँ। मेरे सारे कीर्तन इसी पद के अनुसार समझना -

भरोसा दृढ़ इन चरनन केरो,
श्री वल्लभ नखचंद्र छटा बिनु सब जग मांझ अंधेरो
साधन और नहीं या कलि में जासो होत निबेरो
'सूर' कहा कहे द्विविध आंधरो, बिनामोल को चेरो....

इस कीर्तन में श्री सूरदासजी के स्वयं के हृदय के भाव उद्घाटित हैं। श्री महाप्रभुजी के चरण की शरण का दृढ़ भरोसा ही मेरे लिए सर्वस्व है। श्रीवल्लभ के चरणारविंद के प्रकाश के बिना, त्रिलोकी में अंधेरा ही दिखता है, यह अनुभूति हो तब ही भरोसा दृढ़ है ऐसा जानना चाहिए। चरणों के आश्रय के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। मैं अलग क्या वर्णन करूँ? श्री गोवर्धनधरण में और श्री आचार्यजी के स्वरूप में भेद-दृष्टि मुझे दिखती ही नहीं है। इस दृष्टि से मैं अंधा ही हूँ। जिस प्रकार श्री ठाकुरजी और श्रीस्वामिनीजी में भिन्नता देखता है, वह अज्ञानी है। मैं तो बिना मोल का चेरा हूँ। "अशुल्कदासिका" बिना मोल अर्थात् अलौकिक, जिसका मूल्य नहीं, भक्त ऐसा दास हूँ, भक्ति करके प्रभु से जो स्वार्थ पूरा करना चाहता है वह मूल्य का दास कहलाता है, ऐसी भक्ति उत्तम नहीं है। निष्काम भक्त सर्वोपरि है। वही अमूल्यदास है। ऐसे भक्त के लिए भगवान् स्वयं कहते हैं - "तुम्हारे भजन का मुझसे बदला चुकाया नहीं जा सकता, मैं सदा तुम्हारा ऋणी रहूँगा।"

ऐसे तादृशी, तदीय पूर्ण प्रेममय भगवदीयों को कोटि-कोटि दंडवत्।

जय श्रीकृष्ण

गो. श्री द्वारकेशजी महाराज (भावना वाले) कृत

मूल पुरुष

राग - बिलावल

ढाल - मूल पुरुष नारायण यज्ञ।
श्रुति अवतार भये सर्वज्ञ ।।
शाखा तैत्रीय गोत्र भारद्वाज।
तैलंग कुल उदित द्विजराज।।

छन्द - द्विजराज हरि आय प्रकटे सोम यज्ञ कियो जबै।
कुण्ड तें हरि कही वाणी जन्म कुल तुम्हरैं अबै।
चकित तत्क्षण भये सब जन,
ऐसी अब लौं न भई कबै।
सुनत ही मन हरष कीनों,
धन्य धन्य कह्यौ सबै।।

ढाल - जिनके पुत्र भये गंगाधर।
तिनके गणपति सुत वल्लभ वर।।
श्री लक्ष्मण भट्ट अनुभव टेव।
शुद्ध सत्व ज्यों श्री वसुदेव।।

छन्द - सत्य गुण विद्या पयोनिधि, विशद कीर्ति प्रगटई।
गाँव काँकरवार में रहि, जाति सब हरषित भई।।
पर्व पर सकुटुम्ब चलहि,
प्रयाग कूं सब जाति लै।
स्नान, दान, दिवाय द्विज कूँ,
चले काशी पाँति लै।।

ढाल - कछुक दिन रहिकें, चले सब दक्षिण।
आनन्दित तन, शकुन सुलक्षण।।
चम्पारण्य माहिं, जब आये।
इलम्मागारु गर्भ स्रवित जताये।।

छन्द - स्रवित जानि चले तहाँ ते, नगर चौड़ा में बसे।
जगत में आनन्द फैल्यौ, दशहूं दिश मानो हँसे।।
चैन है, सुनि चले काशी, फेर वही वन आवहीं।
अग्नि चहुँआ मध्य बालक, देखि सन्मुख धावहीं।।

ढाल - मारग दियौ जानि जिय माता।
लिये उच्छंग मोहि दियो विधाता।।
तात दौरि हँसि कंठ लगाये।
तिहिं छिन मंगल होत बधाये।।

छन्द - मंगल बधाये होत तिहिं छिन, देव दुंदुभी बाजहीं।
ज्योतिषी कों लग्न पूछत, प्रथम समयो साजहीं।।
धन्य संवत पन्द्रह सौ पैंतीस माधव मास है।
कृष्ण एकादशी श्रीवल्लभ,
प्रगट वदन विलास है।।

ढाल - श्रीवल्लभ कूं लै आयै काशी।
सुन्दर रूप नयन सुख राशी।।
सात बरस उपवीत धराये।
तब तें विद्या पढ़न पठाये।।

छन्द - पढ़ें चार्यों वेद अरु षट शास्त्र महीना चार में।
तात कूं अचरज भयौ, ये कौन रूप विचार में।।
नींद आई कह्यो प्रभु, संदेह क्यों तुम करत हो।
प्रथम बानी भई ही सो, प्रगट जानो अब अहो।।

ढाल - जागि परे कह्यो पत्नी आगे।
ये हैं पूरण ब्रह्म अनुरागे।।
श्री मुख वचन कहे श्रीवल्लभ।
माया मत खंडन सब सुल्लभ।।

छन्द - सुल्लभ ते दक्षिण पधारे,
ग्यारह बरस की वपु धरें।
देख मामा हरष कें, आदर कियौ 'आवो घरें'।।
विद्यानगर कृष्णदेव राजा, बहुत मत है जहं मिले।
जीतवे कनकाभिषेकें, पढ़े आवत हैं पिले।।

ढाल - रामानुज अरु मध्वाचारज।
विष्णु स्वामी, निंबादित हरिभज।।
शंकर में अनुसरत और मत।
युक्ति बल ते आज सबल अति।।

छन्द - सबल सुनि आपुहि पधारे, द्वार पै पहुँचे जबै।
भृत्य दौरि प्रताप वरन्यौ, राय आओ यहाँ अबै।।
राय आय प्रणाम कीनों, सभा में जु पधारिये।
सुनहु विनति कृपासागर, दुष्ट मतहि बिदारिये।।

ढाल - गज-गति चाल चले श्रीवल्लभ।
इनकी कृपा भये सब सुल्लभ।।
रवि के उदय किरण ज्यों बाढ़ी।
तैसेंई सभा पांति उठि ठाढ़ी।।

छन्द - ठाढ़ी सभा स्तुति करै, जब कियो माया मत खंडन।
शब्द जय जय होत सब मुख,
भक्ति-पथ भुव मंडन।।
हाथ जोरें करें स्तुति, राय मस्तक नावहीं।
परम मंगल होत है, कनकाभिषेक करावहीं।।

ढाल - पाछें जल सो न्हाय बिराजे।
विनती करी राय मन साजे।।
द्रव्य सबै अंगीकृत करिये।
प्रभु बोले यह नाहिन ग्रहिये।।

छन्द - ग्रहिये नाहिन स्नान जलवत्, बाँटि सबकों दीजिये।
बाँटि दीनों करी विनती, मोहि शरण जु लीजिये।।
कृपा करिकें शरण लीनों, थार भर मौहरें धर्‌यौ।
सप्त लैकें कह्यो दैवी, द्रव्य अंगीकृत कर्‌यौ।।

ढाल - तहाँ ते पंढरपुर जु सिधारे।
श्री विठ्ठलनाथ मिलन को पधारे।।
भीमरथी के पार मिले जब।
दोऊ तन में आनन्द बढ्यौ तब।।

छन्द - बढ्यौ आनन्द करी विनती, आपकूं यह श्रम भयौ।
कही श्रीविठ्ठलनाथजी ने, मित्रता पथ प्रगटियौ।।
फेर श्री गोकुल पधारे, निरख यमुना हरषहीं।
संग दमलादिक हुते, तिनपे कृपारस बरषहीं।।

ढाल - एक समय चिंता चित आई।
दैवी किहिं विधि जाने जाई।।
आसुरी सों मिलि रहत सदाई।
भिन्न होंय सो कौन उपाई।।

छन्द - भिन्न कौ जब चित धर्‌यौ, तब प्रभु पधारे तिहि समें।
मधुर रूप अनंग मोहित, कहत सुधि कीन्हें हमें।।
करो अब ते ब्रह्म कौ संबंध दैवी सृष्टि सों।
पाँच दोष न रहे ताके, 'निवेदन' करो दृष्टि मों।।

ढाल - वचन सुनत हरषे श्री वल्लभ।
या आज्ञा ते, परम अति सुल्लभ।।
कंठ पवित्रा लै पहिराये।
मिसरी भोग धरी मन भये।।

छन्द - भयौ भायौ चित्त कौ, जब पुष्टि पथ कूं अनुसरे।
शरण जे आवत निरंतर काल भयते ना डरें।।
प्रकट सब लीला दिखावत नन्दनन्दन जे करी।
अवनि पै पद-पद्म राखे, परिक्रमा मिस उद्धरी।।

ढाल - फिर के पंढरपुर जब आये।
श्री विठ्ठलनाथ कही मन भाये।।
करि विवाह बहु रूप दिखाऔ।
मेरो नाम सुवन कौ धराऔ।।

छन्द - धरौ चित्त में बात यह, काशी विवाह जु होयगौ।
मैं कह्यो, द्विज आय विनती करिजु चरण समोयगौ।।
आय काशी ब्याह कीनों, अधिक मंगल तब भयौ।
नाम धर्‌यौ महालक्ष्मी, देखि जोरी दुःख गयौ।।

ढाल - परिक्रमा तीजी चित आई।
निकसि चले श्री वल्लभ राई।।
झारखंड में प्रभु ने जताई।
अबकें मोहि मिलौ मन भाई।।

छन्द - मिलेंगे हरिदास पै जहाँ तीन दमन कहावहीं।
इंद्र, नाग जु देव दमन सो मेरो नाम जनावहीं।।
फेर कें जब व्रज पधारे, पाँच सेवक संग हे।
सद्दू हौ आन्यौर में तहां द्वार पै ठाड़े रहे।।

ढाल - सद्दू कह्यौ स्वामी कछु खैहैं।
मेघन कह्यौ सेवक की लैहैं।।
इतने प्रभु गिरि ऊपर बोले।
लाई न दूध रहे अनबोले।।

छन्द - बोली नरो यह पाहुने आये तिनहि बैठारिये।
प्रभु कह्यौ, मोहि बार लागत, भली चित्त विचारिये।।
लै गई पय प्याय आई, निरखि श्रीवल्लभ कह्यौ।
बच्यौ होय कछु मोहि दीजै, बोल पहिलो ही गह्यौ।।

ढाल - देख नरो बोली हौं वारी।
नाम दीजिए गर्व प्रहारी।।
नाम दै पूछी वे कहाँ हैं।
कही पर्वत पै जाऔ तहाँ है।।

छन्द - तहाँ देखै प्राणपति, तब हुलसि दोऊ जन फूलही।
वह समय सुख कहि न आवे, पंगु गति मति भूलही।।
हँसि कह्यौ सकुटुम्ब आवौ, निकट रहि सेवा करौ।
मानि वचन प्रणाम कीनो, सासरे दिस पग धर्‌यौ।।

ढाल - कछुक दिन रहि संग लै आये।
बसे अड़ैल परम हरषाये।।
सम्वत् पन्द्रह सड़सठ आयौ।
आश्विन वदी द्वादशी शुभ गायौ।।

छन्द - गायौ श्री गोपीनाथजी, जब जन्म लीनों आयकें।
जानि बल को रूप हरषे, देत दान बधायकें।।
फेर श्रीचरणाट आये, कछुक दिन रहे जानिकें।
धन्य सम्वत् पन्द्रसै, धनि बहतरा शुभ मानिकें।।

ढाल - पौष कृष्ण नौमी जब आई।
घर-घर मंगल होत बधाई।।
श्री विठ्ठलनाथ जन्म भयौ सुनिकें।
कहत फिरत आनन्द गुण गनिकें।।

छन्द - आनन्द फैल्यो जगत में, छबि देख श्रीवल्लभ हँसे।
वेऊ कछु मुसक्याय चितये, दोऊ हँसन मेरे मन बसे।।
तिलक मृगमद छप्यौ देखियत कहाँ लौं गुण गाइये।
कृपा ते उछलित निज रस, छिप नाहिं छिपाइये।।

ढाल - श्री गोकुल में वास सुहायौ।
रुक्मिणि पदमावति पति गायौ।।
श्री गिरिवरधर छैल छबीलो।
श्री नवनीतप्रिय अरबीलो।।

छन्द - प्रिय श्री मथुरेश, श्री विट्ठलेश, श्री द्वारिकेशजू।
श्री गोवर्धनधर, श्रीगोकुलचन्द्रमा, श्रीमथुरेशजू।।
श्री मदनमोहन, अष्ट इहि विधि रमण श्री विट्ठलनाथकें।
तात कौ चित जानि सेवा, विस्तरी सब साथ कें।।

ढाल - प्रथम पुत्र प्रगटे श्री गिरिधर।
षट गुण धर्मी धर्म-धुरंधर।।
श्री गोविन्द कहत सब राजा।
है ऐश्वर्य पुष्टि पथ भ्राजा।।

छन्द - भ्राजमान श्री बालकृष्ण महापराक्रम प्रगटही।
जस श्री गोकुलनाथ कौ माला प्रसंग सबै कही।।
श्रीवंत श्रीरघुनाथ कहियत, रचित नाम प्रकासिये।
ज्ञान यदुपति घनश्याम वैराग्य
सातों स्वरूप ये भासिये।।

ढाल - पन्द्रह सौ सत्तानवें कार्तिक।
विमल द्वादशी मंगल नित ठिक।।
प्रथम पुत्र प्रगटे श्री गि.रिधर।
षट गुण पूरण, धर्म-धुरंधर।।

छन्द - धुरंधर ऐश्वर्य श्रीगोविन्द पंच दश निन्यानवै।
ऊर्ज श्यामल अष्टमी शुभ गुरु सुदिन प्रगटे जबै।
ऋतु वियत शृंगार, आश्विन, असित तेरस भ्राजहीं।
श्रीबालकृष्णजी महापराक्रमी व सुख सोरह राजहीं।।

ढाल - कवि सह सुदि सातें गोकुलपति।
यशस्वरूप माला स्थापित रति।।
सोरह सै ग्यारस कार्तिक सित।
अर्क बुध रघुनाथ श्री सहित।।

छन्द - हेतु निज अभिधान प्रगटे तात आज्ञा मानिकें।
तिथि कला बुध मधु छटी विमल ज्ञान बखानकें।।
यदुनाथ प्रगटे रह्यो विरह घनश्याम स्वरूप कें।
सह कृष्ण तेरस रविज रिक्ष
सतकला श्रीविट्ठल भूपकें।।

ढाल - भामिनी, रानी, कमला बखानी।
पारवती, जानकी, महारानी।।
कृष्णावती मिल सातों कहाई।
येहू अलौकिक रूप महाई।।

छन्द - महा अलौकिक अग्नि-कुल है,
अलौकिक अष्ट छाप हैं।
अलौकिक सब भक्त जन,
जे शरण लीने आप हैं।।
यथा मति कछु वरण आई,
जानियो यह दास है।
'द्वारिकेश' निरोध मांगे,
ये ही फल की आस है।।

(इतिश्री द्वारिकेशजी कृत मूल पुरुष सम्पूर्ण)

दृढ़ इन चरनन करो, भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।।
श्री वल्लभ नखचन्द्र छटा बिन, सब जग माँझ अंधेरो।
साधन और नहीं या कलि में, जासो होय निवेरो।
'सूर' कहाँ कहे द्विविध आंधरो, बिना मोल को चेरो।।